श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गत-एकादशी

भक्तिवर्धिनी ।

(समस्त चौदह संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद एवं

टीका सहित)

: संपादक व लेखक :

गोस्वामी राजकुमार

: प्रकाशक :

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

चरणाट, बंगला नं. ५, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,

कांदिवली (पूर्व), मुंबई - ४०० १०१. • दूरभाष : ८८४ ६५०६

प्र.सं. : वि.सं. २०५८

प्रति : ५००

श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडशग्रन्थान्तर्गता-एकादशी

भक्तिवर्धिनी।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	टीकाकार	पृष्ठसंख्या
१.	श्रीबालकृष्णानाम्	१
२.	श्रीगोकुलनाथानाम्	८
३.	श्रीरघुनाथानाम्	१८
४.	श्रीकल्याणरायाणाम्	२३
५.	श्रीहरिरायाणाम्	२८
६.	श्रीगोपेश्वराणाम्	३५
७.	श्रीपुरुषोत्तमानाम्	४७
८.	श्रीवल्लभानाम्	६१
९.	श्रीजयगोपालभट्टानाम्	६७
१०.	श्रीलालूभट्टानाम्	९१
११.	केषाञ्चित्	९८
१२.	श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णानाम्	१०६
१३.	श्रीगिरिधराणाम्	११९
१४.	श्रीद्वारकेशानाम्	१२७

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रणीता ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अन्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्[1]सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्वृहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

तादृशस्यापि सततं गेह[2]स्थानं विनाश[3]कम् ।
त्यागं कृत्वा यॅतेद्यस्तु तदर्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे[4] विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गू[5]ढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटिता भक्तिवर्धिनी समाप्ता ।

१ यसेत्, यतेत् । २ गृहस्थानम् । ३ विनाशनम् । ४ यसेत् । ५ अदूरम्, अदूर । ६ मया गुप्तम्, गूढं तत्त्वम् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्बालकृष्णविवृतिसमेता ।

रत्यन्ते स्वेदबिन्दुश्रितमुखकमलस्तामवष्टभ्य जातो
निःस्पन्दः श्रान्तियुक्तो मलयजपवनासेवितः पुष्पतल्पे ।
श्रीराधावक्त्रपद्माद्भुतमधुचिरतःपानघूर्णायमानो-
द्रिक्तः स्नेहार्द्रदृष्टिः प्रतिफलतु दृशोः शीघ्रमेव व्रजेशः ।।१।।

इह खलु स्वेनैव साक्षाद्भगवते निवेदितान् भक्त्यङ्कुरितचित्तान् सर्वान् भक्तिप्रवृद्ध्यर्थमुपायानभिज्ञान् परमकृपया तानुपायानाचार्या उपदिशन्ति यथा भक्तिरिति ।

रति के अंत में श्रमबिंदुयुक्त मुखकमलवाले, शीतल, श्रमयुक्त, मंद, सुगंधित पवन से सेवित पुष्पशैया पर श्रीराधा के मुखारविंद के अद्भुत-मधु का चिरसमय तक् पान करने के कारण घूर्णित उच्छलित मदयुक्त नेत्र वाले स्नेह से आर्द्र दृष्टिवाले व्रजेश श्रीकृष्ण मेरी दृष्टि के सन्मुख प्रतिफलित हों ।

यहाँ निश्चय ही, अपने ही द्वारा, साक्षात् भगवान के लिए निवेदितों को, भक्तिअंकुरित चित्त वाले सभी को, भक्तिवृद्धि के उपाय से अनभिज्ञ लोगों को, परमकृपा द्वारा उन उपायों को आचार्य, **यथा भक्ति** इन वाक्यों के द्वारा उपदेश दे रहे हैं ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरुप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ।।१।।

येन प्रकारेण भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्, प्रकर्षणैधमानोत्तरोत्तरं भगवति स्याद्, यस्या न कदाचिदपि ह्रासः । एतादृशस्तत्प्रवृद्ध्यनुकूल उपायो निरुप्यते नितरामुच्यते । यत्प्रकारकनिरुपणानन्तरं न कोप्युपायस्तिष्ठत्यवशिष्टः । एवं प्रतिज्ञां कृत्वा दृढं बीजभावं तत्र प्रथमं भक्तिप्रवृद्धौ हेतुमाहुः बीजेति । भक्तिकल्पतरुप्रवृद्धिकारणभावो बीजभावः । अनुग्रहोत्तरकालीनभाव इति यावत् । यद्वा । बीजपदं सत्पुरुषपरम् । तस्मिन्यो भावो भगवत्त्वेन भावः । 'आचार्यं मां विजानीयात्' 'अविद्यो वा सविद्यो वे'त्यादिवाक्यैः । स यदा वक्ष्यमाणसाधनैर्दृढो भवति, तदा सा तथा भवति । अथवा, बीजपदेन भगवानेवोच्यते । तस्मिंस्तस्य तथात्वे सा तथा भवति । ननु बीजभावोत्पत्तावनुग्रह एव हेतुरित्यत्र को हेतुः । उच्यते । नहि तदुत्पत्तौ कर्म । तज्जन्यत्वेनाश्रूयमाणत्वात् । नापि स्वतः । चेत्स्याद्दृष्टः स्यात् । नापि स्वभाववैचित्र्यं वक्तुं शक्यम् । अनुक्तत्वात् । तेन 'यमेवैष वृणुत' इति 'यदा यमनुगृह्णाती'त्यादिवाक्यैः स एव हेतुत्वेन वाच्यः । निश्चयार्थकस्तुशब्दः । हेत्वन्तरमाहुः त्यागादिति । त्यागाद्भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । त्यागस्तु भगवच्चरणारविन्दप्राप्त्यर्थं सवासनगृहादिविस्मृतिः । केवलत्यागेनैव सा तथा न भवतीत्यत उक्तं श्रवणकीर्तनादिति । प्राणिवर्जितजातिवाचित्वेनैकवद्भावः । श्रवणकीर्तनाभ्यामपि सा तथा भवति ।

जिन प्रकारों से भक्ति प्रवृद्ध होती है, प्रकर्षरुप से उत्तरोत्तर भगवान में बढ़ती है जिसका कभी भी ह्रास नहीं होता ऐसे प्रकार की भक्ति को प्रवृद्ध करने के उपायों का सर्वथा निरुपण कर रहे हैं । जिस प्रकार के निरुपण के पश्चात् फिर कोई भी उपाय अवशिष्ट नहीं रह जाता है । इस प्रकार प्रतिज्ञा कर भक्तिवृद्धि का प्रथम हेतु 'दृढ़ बीजभाव' को **बीज** इन शब्दों से कह रहे हैं । भक्ति के कल्पतरु की वृद्धि का कारणभाव, बीजभाव है । 'अनुग्रह' उत्तरकालीन भाव है । अथवा । 'बीजपद' सत्पुरुष अर्थात् श्रीमदाचार्य का वाचक है। उन श्रीमदाचार्यचरणों में भगवद्-भाव रुप होना बीजभाव है । "आचार्य, मुझे समझना चहिए (श्री.भा. ११/१७/२७)", "विद्यारहित अथवा विद्यायुक्त" (आदित्य पुराण) इन वाक्यों द्वारा । वह भाव जब कहे गये साधनों द्वारा दृढ़ होता है तब वह भक्ति भी वैसी दृढ़ होती है । अथवा 'बीजपद' द्वारा भगवान ही कहे जा रहे हैं । उनमें भगवान उस बीजभाव के वैसे दृढ़ होने पर वह भक्ति वैसी दृढ़ होती है । यहाँ शंका करते हैं, कि "बीजभावोत्पत्ति में अनुग्रह ही हेतु है" इस (वाक्य में) क्या हेतु है ? कह रहे हैं । बीजभाव की उत्पत्ति में कर्महेतु न सुना गया होने से उसकी उत्पत्ति कर्म से नहीं है । स्वयं भी नहीं । यदि हो तो दृष्ट होती है । शास्त्र में न कही होने से भगवान के स्वभाव की विचित्रता कहनी भी शक्य नहीं है । अतः "यह परमात्मा जिसको स्वीकार लेता है (मु./२/३)", "जब जिसका अनुग्रहण करते हैं (श्री.भा. ४/२९/४६) इत्यादि वाक्यों द्वारा वह अनुग्रह हेतु ही वाच्य है । 'तु' शब्द निश्चय अर्थ में है । दूसरा हेतु **त्यागात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । त्याग से भक्ति प्रवृद्ध होती है । त्याग तो भगवच्चरणारविंद प्राप्ति के लिए वासनासहित गृहादि की विस्मृति है । केवल त्याग से ही वह भक्ति वैसी प्रवृद्ध नहीं होती, अतः **श्रवणकीर्तनात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । श्रवणकीर्तन में प्राणिवर्जित जातिवाचकता होने

से समभाव है । 'प्राणी' उन्हें कहते हैं जिनमें 'प्राण' हों । अब श्रवणकीर्तन तो एक क्रिया का नाम है । इसमें प्राण नहीं होते, अतः प्राणिवर्जित कह रहे हैं । वे जातिवाचक हैं, अतः 'श्रवण' का जो भाव है, वही 'कीर्तन' का भी है, यह अर्थ है । श्रवणकीर्तन द्वारा भी वह भक्ति वैसी प्रवृद्ध होती है ।

एवं भक्तिप्रवृद्धौ हेतुत्रयमुक्त्वा बीजभावदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजेति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥२॥

बीजस्य दार्ढ्ये यः प्रकारः स उच्यते । तुशब्दः पूर्वभेदकः । यत्स्वगृहे स्थित्वा स्वधर्मतः स्वधर्मेभ्यो वर्णाश्रमधर्मेभ्य अव्यावृत्तस्तत्सहितः सन् कृष्णं पूर्णपुरुषोत्तमं भक्त्यैकगम्यं भजेत् । कैर्भजेदित्याकांक्षायामाहुः पूजयेति । कृष्णं पूजया भजेत् । पूजा त्वागमोक्तप्रकारेणार्हणीयोपचारः । ननु पूजया भगवद्भजनं कथम् । भक्तेरेव पूजाविषयत्वात्, ननु भगवतो, यतः 'भक्तियोगं स लभत एवं यः पूजयेत मा'मिति भगवद्वाक्यविरोधात् । सत्यम् । अस्ति पूजाविषयत्वं भक्तेः, परन्तु मूले हि परम्पराकारणत्वाभिप्रायेण पूजाव्यपदेशो, न तु साक्षात् । तेन कृष्णपदं तु भक्तस्य पुरुषोत्तमगामिनी पूजापि भवतीत्यत उक्तम् । यद्वा । एवंविधनिःकामपूजाफलविषयनिर्धारार्थं कृष्णपदम् । एवं पूजया भजनं निरुप्य श्रवणादिभिरपि निरुपयन्ति श्रवणादिभिरिति । श्रवणादिभिरपि कृष्णं भजेत् । आदिपदग्राह्ये कीर्तनस्मरणे । तेनैतन्मार्गीयस्य श्रवणादिव्यतिरेकेण क्षणमपि न स्थेयमित्यायातम् ।

इस प्रकार भक्तिप्रवृद्धि मे तीन हेतु कह कर बीजभाव-दृढ़ता का प्रकार **बीज** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

वीज की दृढ़ता में जो प्रकार है, वह कह रहे हैं । 'तु' शब्द पूर्ववत् निश्चय अर्थ में है । क्योंकि स्वगृह में स्थित होकर, स्वधर्म से अर्थात् वर्णाश्रमधर्म से, अव्यावृत्त होकर केवल भक्ति से प्राप्त होने वाले पूर्ण-पुरुषोत्तम कृष्ण को भजना चाहिए । कैसे भजना चाहिए ? यह आकांक्षा होने पर **पूजया** इन शब्दों से कह रहे हैं । कृष्ण को पूजा द्वारा भजना चाहिए । पूजा तो वेदोक्त प्रकार से ही उपचार पद्धति को कहते हैं । यहाँ शंका करते हैं, कि पूजा द्वारा भगवद्-भजन कैसे ? 'भक्ति' ही पूजा का विषय होने से, न कि 'भगवान' । टीकाकार शंका उठा रहे हैं, कि पूजा द्वारा भगवद्-भजन कैसे हो सकता है ? इस शंका की पुष्टि के लिए आगे वे श्रीमद्-भागवत् के भगवद्-वाक्य का स्पष्टीकरण दे रहे हैं । जिसमें पूजा द्वारा भक्तियोग को सिद्ध करनेवाली वात कही है, किंतु पूजा द्वारा भगवान को नहीं । क्योंकि "जो मुझे पूजता है, वह भक्तियोग को प्राप्त करता है (श्री.भा. ११/२८/५३) इस भगवद्-वाक्य द्वारा विरोध हो जाने से । इस वाक्य द्वारा "पूजा-भक्तियोग-भगवान" इस प्रकार से कड़ी बनी । टीकाकार कह रहे हैं, कि पूजा द्वारा भक्तियोग एवं उस भक्तियोग से भगवान प्राप्त होते हैं, अतः "पूजा द्वारा भगवद्-भजन कैसे ? यह शंका उठ सकती है । सत्य है । है भक्ति में पूजा का विषय, परंतु मूल में निश्चय ही परंपराकारण के अभिप्राय से पूजा का उपदेश है, न कि साक्षात् । यहाँ टीकाकार समझाना चाह रहे हैं, कि भले ही यहाँ 'पूजा' पद दे दिया गया हो, परंतु भक्तिमार्ग तो श्रीमहाप्रभु द्वारा प्रकट किया हुआ नवीन विषय है । इसके पूर्व में तो भगवान की भक्ति के लिए परंपरा से 'पूजा' शब्द ही प्रयुक्त होता चला आ रहा है । अतः श्रीमहाप्रभु भी 'पूजा' पद द्वारा ही अपनी वात समझाना चाह रहे हैं । किंतु इससे भ्रमित होकर 'पूजा' शब्द से तंत्रादि में कही अथवा मर्यादामार्गीय पूजा वाला अर्थ नहीं ले लेना चाहिए, अपितु 'पूजा' शब्द से 'भक्ति' अर्थ ही लेना चाहिए, यह अर्थ है । अतः 'कृष्ण' पद से तो, भक्त की पूजा, पुरुषोत्तमगामिनी भी होती है, यह कहा । अब यहाँ 'पूजया' शब्द से पहले 'कृष्ण' पद आया है, अतः 'कृष्ण' पद प्रयोग करने का तात्पर्य ही यह है कि वह पूजा, पुरुषोत्तमगामिनी अर्थात् पुरुषोत्तम की ओर ले जाने वाली सिद्ध हुई । अतः वो अब 'पूजा' न रह कर 'भक्ति' ही सिद्ध हुई । अथवा । अथवा से अब इस पंक्ति का दूसरा अर्थ कर रहे हैं । इस प्रकार निष्काम पूजाफलविषय के निर्धारण के लिए 'कृष्ण' पद है । इस प्रकार पूजा द्वारा भजन निरुपण कर, श्रवणादि द्वारा भी **श्रवणादि** इन वाक्यों से निरुपण कर रहे हैं । श्रवणादि द्वारा भी कृष्ण को भजना चाहिए । 'आदि' पद से कीर्तनस्मरण ग्रहण करने चाहिए । इससे इस मार्ग के अनुयायी को श्रवणादि से विमुख्य होकर क्षणभर भी नहीं रहना चाहिए, यह अर्थ आयातित है ।

१ - कहना न होगा कि पुष्टिभक्तिमार्ग कोई नवीन विषय नहीं अपितु श्रीमहाप्रभु द्वारा निर्देशित सेवाप्रकार नवीन विषय हैं, एवं यह वात इसी संदर्भ में कही जा रही हैं ।

ननु सततं कृष्णभजनं कथम्, कार्यान्तरव्यासक्तेस्तत्राहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥३॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्नापि नश्यति ।

कार्ये व्यावृत्तो व्यासक्तोपि चेत्तदा गुरुपदिष्टं यादृग्भगवत्स्वरुपं तत्रैव स्वस्य चित्तं स्थाप्य भवेत्, अव्यावृत्तिमान् यदि भवेत्, तदा

श्रवणादौ चित्तं यसेत् । यद्वा, प्रकारान्तरेणाप्यस्यावतारिका सम्भवति । तथा हि । ननु यदि स्वधर्माव्यावृत्तिरेव भजने प्रयोजिका, तदा त्यावृतोपदेशस्य दैववशात्प्रच्युतधर्मस्य कस्यचित्प्रयोजकाभावाद्भजनासम्भवः । तथाच तत्कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात्, तस्मा'त्प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्ये'तिन्यायेन ग्रहणाभाव एव वरमिति चेत्तत्राहुः व्यावृत्तोपीति । अत्रेयं शङ्का न कार्या । यत्स्वधर्माव्यावृत्तिरेव भजने प्रयोजिका । 'अपि चेत्सुदुराचार' इति भगवद्वाक्याद्भगवदीयस्य प्रच्युतधर्मस्यापि भगवद्भजनस्य विहितत्वात् । परन्तु यावदारभ्य भगवद्भजनाभिनिविष्टस्ततःप्रभृतितस्य दुराचाराकरणमित्यपेक्षितम् । अन्यथानन्यभाक्त्वभङ्गप्रसङ्गः । दुराचारस्यापि भजनात् । तेन स्वधर्मेभ्यो व्यावृत्तोपि हरौ सर्वदुःस्वहर्तरि चित्तं यसेत्प्रयत्नेन स्थापयेदित्यर्थः ।

यहाँ शंका करते हैं, कि कार्यान्तर में व्यासक्त होने से, सतत कृष्णभजन कैसे ? वहाँ **व्यावृत्तोपि** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

यदि कार्य में व्यावृत्त अर्थात् व्यासक्त हों, तो भी गुरुपदिष्ट जैसा भगवद्-स्वरुप है, वहीं स्वयं के चित्त को स्थापित करना चाहिए । यदि अव्यावृत्तिमान् हो, तब श्रवणादि में चित्त लगाना चाहिए । अथवा, अन्य प्रकार से भी इसका अर्थ संभव होता है । वह इस प्रकार । यहाँ से पंक्ति का दूसरा अर्थ कर रहे हैं । यहां शंका हो, कि यदि स्वधर्म-अव्यावृत्ति ही भजन में प्रयोजिका है अर्थात् लौकिक वस्तुओं में व्यावृत्त न होकर, सभी कुछ त्याग कर अव्यावृत्त हो जाने से ही भजन सिद्ध होता है । यदि ऐसा है, तब तो इस आदरणीय उपदेश के भाग्यवश प्रच्युत-धर्म से अर्थात् यदि किसी से यह न हो पाया, तब किसी अन्य प्रयोजक के अभाव से क्योंकि भजन में प्रयोजन तो अव्यावृत्ति ही बता रहे हैं एवं अब वह न निभ पाने से भजनसिद्ध करने का कोई माध्यम न रहा, अतः भजन असंभव हो जाता है । एवं उसका किया हुआ भी सभी व्यर्थ हो जायेगा । अतः ''कीचड़ को प्रक्षालन करने से'' इस न्याय द्वारा अव्यावृत्ति ग्रहण न करनी ही श्रेष्ठ है यह एक न्याय है, जिसे 'पंकप्रक्षालनन्याय' कहते हैं । जिसका अर्थ होता है, कीचड़ धोने से अच्छा है कीचड़ में जाया ही न जाए । वहाँ **व्यावृत्तोपि** इन शब्दों से कह रहे हैं । यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए, कि स्वधर्म की अव्यावृत्ति ही भजन में प्रयोजिका है । क्योंकि ''यदि अतिशय दुराचारी भी (भ.गी. ९/३०)'' इन भगवद्-वाक्यों द्वारा भगवदीय के प्रच्युत-धर्म का भी भगवद्-भजन में विहित होने से स्वधर्म-व्यावृत्ति भी भजन में प्रयोजिका हो सकती है । परंतु जबसे आरंभ कर वह भगवद्-भजन में अभिनिष्ट है, स्वभाव से उसका दुराचार न करना अपेक्षित है अर्थात् जो भगवद्-भजन में अनुरक्त है, उससे यह अपेक्षा ही नहीं की जा सकती कि वो दुराचार करे, यह अर्थ है । एवं यदि प्रच्युतधर्म अर्थात् दुराचार को भजन का अधिकार न मिले तो अनन्यता की अधिकारिता भंङ्ग होने का प्रसंग आता है । भ.गी.के वाक्यानुसार दुराचार को भी भजन से उद्धार कहा होने से । अर्थात् यदि दुराचारी को भगवद्-भजन का अधिकार न दिया जाय, तो ऐसी परिस्थिति में भ.गी.का यह वाक्य मिथ्या सिद्ध हो जायेगा, कि जिसमें दुराचारी को भी भगवान ने अनन्यता-पूर्वक भजन का अधिकार दिया है, यह अर्थ है ।

इससे स्वधर्मोंसे व्यावृत्त होने पर भी, सर्वदुःस्वहर्ता हरि में चित्त को प्रयत्न द्वारा लगाना चाहिए, यह अर्थ है ।

एतादृशस्यापि स्वबलेनैवान्तरायान् दूरीकृत्य स्वरुपानन्ददानं करोतीति ज्ञापनाय हरिपदम् । पूर्वं हरिपदोक्त्या मध्ये चित्तपदोक्त्यान्ते श्रवणादिपदोक्त्या देहलीदीपवदुभयत्रापि साम्येन चित्तवृत्तिः स्थाप्येति ज्ञेयम् ।एवं सततं भजने क्रियमाणे उभयविधानामपि यदेकजातीयं फलं तदाहुः तत इति । तदनन्तरमेवं भजनानन्तरमुभयविधानां प्रेमोत्पत्तिर्भवति भगवति सर्वात्मना । तथैवासक्तिः, तद्व्यतिरेकेण स्थित्यसम्भव इति यावत् । 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभव' दिति यथा । व्यसनं तु सततमन्यविस्मृतिपूर्वकं भगवत्परता । च समुच्चायकः । एतत् त्रितयं यदा भवेत् तदा तद्बीजं भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते । यत्कथमपि न नश्यति ।।३।।

ऐसे जीव को भी प्रभु स्वबल से अंतराय दूर कर, स्वरुपानंद का दान करते हैं, इसे बताने के लिए 'हरि' पद है । पूर्व में 'हरिपद' कह कर, मध्य में 'चित्त' पद कह कर, अंत में 'श्रवणादि' पद कह कर, देहलीदीपन्याय की भाँति दोनों तरफ अर्थात् हरि / श्रवणादि में समानरुप से चित्तवृत्ति स्थापनी चाहिए, यह समझना चाहिए । इस प्रकार सतत भजन करने पर दोनों विधानों का भी जो एकजातीय फल है, उसे **तत** इन शब्दों से कह रहे हैं । इसके पश्चात् इस प्रकार दोनों विधानों से अर्थात् 'हरि में चित्त' एवं श्रवण में चित्त भगवान में सभी प्रकार से प्रेमोत्पति होती है । उसी प्रकार 'आसक्ति' अर्थात् उन भगवान के बिना स्थिति असंभव होती है । ''जिनका एक क्षण सौ युग की भाँति जिनके बिना व्यतीत हुआ'' (श्री.भा. १०/१९/१६) जिस प्रकार कहा है । व्यसन तो अन्य की विस्मृतिपूर्वक भगवत्परता है । 'च' शब्द समुच्चायक अर्थात् प्रेमासक्तिर्व्यसन का समुच्चयार्थक है । यह तीन जब होते हैं, तब वह 'बीज' भक्तिशास्त्र में दृढ़ कहा जाता है । जो किसी भी तरह नष्ट नहीं होता ।।३।।

तत्राशाभावप्रकारपूर्वकं स्नेहादीनां त्रयाणां प्रत्येकं फलमाहुः स्नेहादिति सार्धेन ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्यादृहारुचिः ।।४।।
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः त्यात्तदैव हि ।।५।।

भगवति स्नेहादृहविषयको यो राग उत्कटेच्छारुपस्तस्य विशेषेण नाशः स्यात् । नाशपदेन पुनस्तस्यानुत्पत्तिरिति ज्ञेयम् । अत एव

न निवृत्यादिपददानम् । आसक्त्येति । यदा भगवत्यासक्तिर्जाता, तदा तद्व्यतिरेकेण स्थित्यसम्भवेन तदर्थं यत्ने जाते गृहस्थाः स्वार्थं तं प्रेरयन्तीति तस्मिन्नरुचिः, तया कृत्वा भगवद्भजने बाधकत्वं विघ्नकर्तृत्वं भासते, एत आत्मीया न भवन्तीत्यपि । यदि स्युस्तदा किं प्रतिबन्धकाः स्युरिति । व्यसनं हीति । यस्मिन्काले अचिन्त्यानन्तफलदातरि कृष्णे व्यसनं स्यात्तदैव स कृतार्थः स्यात् । संशयव्युदासाय हीति पदम् ।।४,५।।

उसके नाश-अभाव के प्रकार पूर्वक **स्नेहादि** तीनों का फल **स्नेहात्** इस डेढ़ श्लोक द्वारा कह रहे हैं । 'स्नेहादि' से तात्पर्य है, प्रेम, आसक्ति एवं व्यसन । 'प्रेम' एवं 'स्नेह' दोनों एक ही वस्तुएँ हैं । ऊपरी पंक्तियों में यह तीनों जिस प्रकार नष्ट नहीं होते, वैसा प्रकार कह दिया है । अब इन तीनों का फल क्या मिलेगा, यह बता रहे हैं ।

स्नेह द्वारा भगवान में, गृहविषयक जो उत्कट-इच्छारुप-राग है, उसका विशेष रुप से नाश होता है । 'नाश' पद से पुनः उसकी अनुत्पत्ति समझनी चाहिए । अतएव 'निवृत्ति' आदि पद नहीं दिया गया । **आसक्त्या** इस पद की व्याख्या कर रहे हैं । जब भगवान में आसक्ति पैदा होती है तब उनके भगवान के बिना रहना असंभव होने से उनके लिए यत्न करने पर गृहस्थ उसे अपने लिए प्रेरित करते हैं, उसे उनमें रुचि नहीं होती; गृहस्थों में रुचि करने से भगवद्-भजन में गृहस्थ बाधकत्व, विघ्नकर्तृत्व भासित होते हैं, वे आत्मीय भी नहीं लगते हैं । यदि आत्मीय हों, तो प्रतिबंधक क्यों हों ? **व्यसनं हि** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । जिस काल में, अचिन्त्य-अनंत-फलदाता कृष्ण में व्यसन होता है, तब ही वह कृतार्थ होता है । संशय दूर करने के लिए 'हि' पद है ।।४,५।।

एवं त्रयाणां फलमुक्त्वा तादृशस्य कर्तव्यतामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशनम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ।।६।।

स्नेहासक्तिव्यसनवतोपि पुरुषस्य तदनन्तरं यत्सततं सर्वदा गृहरुपं यत्स्थानं तद्विनाशनम् । स्नेहासक्तिव्यसनानां विनाशनमित्यर्थः । तथा सति कृतमपि सर्वं व्यर्थं स्यात् । तेन तत्त्यागं कृत्वा यो यतेत्प्रयत्नं कुर्यात् । एतेन मध्ये तीर्थादिकमपि गच्छेदिति सततपदेन ज्ञेयम् । ननु सोपि प्रयत्नो मायावादिवन्निराकार एव भवेदित्याशङ्क्याह व्युदासायाहुः तदर्थेति । भगवद्रूपो योर्थस्तदर्थमेकं मानसं यस्य स तथा । इदं तेषां न । शून्ये एव पर्यवसितमतित्वात् । 'येन्येरविन्दाक्षे'त्यादिवाक्येन निन्दितत्वाच्च । तेषां गार्हस्थ्यधर्मत्यागे भगवदर्थं गृहात्यागे उभयतः प्रच्युता अधःपतन्ति । तेन त्यागस्तु भगवदर्थमेव मुख्यः । सोपि पूर्वमान्तरः, तस्मिन् सिद्धे ततो बाह्यतः । एकपदं सततमेतन्मार्गीयैकलभ्यफलात्मके मनःस्थितिज्ञापनाय । तेनैतदतिरिक्तावतारे 'मूलसेकः शास्वायामपि पर्यवस्यती'ति न्यायेन तदकरणं न विरुध्येत । तस्यां सत्यां देहव्यापृतिस्तत्रैव ।।६।।

इस प्रकार तीनों के फल कह कर, तादृशी के कर्तव्य **तादृशस्यापि** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

स्नेहासक्तिव्यसन वाले पुरुष को भी इनके स्नेहासक्तिव्यसन पश्चात् जो सतत, सर्वदा गृहरुप-स्थान है, वह उसका विनाशक है । वह गृह स्नेहासक्तिव्यसन वालों का विनाशक है, यह अर्थ है । वैसा होने अर्थात् गृह में रहने पर किया हुआ सभी व्यर्थ हो जाता है । इससे उसका गृह का त्याग करके उसे भगवद्-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए । इससे बीच में तीर्थादि में भी जाना चाहिए, यह 'सतत' पद से समझना चाहिए ।

यहाँ शंका करते हैं, कि क्या वह प्रयत्न भी मायावादी की भाँति निराकार ही होगा ? इस शंका के निवारण के लिए **तदर्थ** इन शब्दों से कह रहे हैं । भगवद्-रुप जो अर्थ है, उसके लिए एकमन जिसका है वह, 'तदर्थार्थैकमानस' है । यह फल उन्हें मायावादियों को, शून्य में ही पर्यवसित मति होने से एवं ''हे कमलनयन अन्य जो (श्री.भा. १०/२/३२)'' वाक्यों द्वारा निंदित होने से, नहीं होता है । उनका मायावादियों का, गृहस्थधर्म त्याग करने पर, भगवान के लिए गृह न त्यागने पर दोनों तरफ से स्थानभ्रष्ट होकर अधः पतन होता है । इससे त्याग तो, भगवान के लिए ही मुख्य है । वह भी पहले आंतरिक; उसमें सिद्ध होने के पश्चात् बाह्य । 'एक' पद सतत इस मार्ग के एकलभ्य, फलात्मक भगवान में मनःस्थिति बताने के लिए है । इससे अतिरिक्त-अवतार में ''मूलसिंचन शास्वाओं को भी पहुँचता है'' इस न्याय से वैसा न करना अर्थात् अन्य अवतारों में श्रद्धा न रखना, विरुद्ध नहीं है । ऐसी मनःस्थिति होने पर देह की स्थिति भी वहीं होती है ।।६।।

एतादृशस्य यत्फलं तदाहुः लभत इति ।

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ।।७।।

य एवं त्यागं कुर्यात्स भक्तिं प्राप्नोति । एवंविधत्यागस्य भक्तिफलकत्वात् । तेन मुक्त्यादीनामेतत्फलत्वाभावः सूचितः । तत्रापि सुदृढा अविनश्वरा । सततमेधमाना । सापि भक्तिः सर्वतो मोक्षादेरप्यधिका मुक्तानामपि दुःप्राप्या । 'भगवान् भजता'मिति वाक्येन । ततः पुष्टिरुपामपि लभते । परामिति । परामुत्कृष्टामुक्तभक्तेः । पुष्टिरुपामिति शेषः । एवं त्यागफलमुक्त्वा पुनः सिंहावलोकनन्यायेन त्यागव्यवस्थां

वदन्ति त्यागे इति । कृत एव त्यागे न कोपि पुरुषार्थः । तस्मिन् बाधकानां भूयस्त्वं बहुत्वम् । भूयांसि बाधकान्युपस्थितानि भवन्ति । ततस्तं नाशयन्ति ।

ऐसे जीव को जो फल प्राप्त होता है, वह **लभत** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

जो इस प्रकार त्याग करता है, वह भक्ति प्राप्त करता है । इस प्रकार के त्याग का भक्तिफलक होने से । इससे मुक्ति आदि में भी ऐसे फल का अभाव सूचित किया है । वहाँ भी सुदृढ़, अविनश्वर । सतत बढ़नेवाली । "भगवान, भजने वालों को (श्री.भा.५/६/१८)" इत्यादि वाक्यों द्वारा वह भक्ति सभी मोक्षादि से भी अधिक होने से मुक्तों को भी दुष्प्राप्य है । तत्पश्चात् पुष्टिरुपा भक्ति भी प्राप्त होती है । **पराम्** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । कही गई परम उत्कृष्ट-भक्ति को प्राप्त करता है । 'पुष्टिरुपा' यह पद शेष रह जाता है अतः जोड़ लेना चाहिए । इस प्रकार त्यागफल कह कर पुनः सिंहावलोकन-न्याय से त्यागव्यवस्था **त्यागे** इन शब्दों से कह रहे हैं । किए हुए केवल त्याग में कोई भी पुरुषार्थ नहीं है । उसमें बाधकों की बहुलता होती है । बहुत से बाधक उपस्थित हो जाते हैं । फिर उसका जीव का नाश कर देते है ।

ननु तस्मिन् सति तदुपस्थितिः कथम् ? तत्र हेतुमाहुः दुःसंसर्गादिति । तदुपस्थितिस्तु भक्तानां भगवद्भक्तविरोधिनां संसर्गात् संगतेः । तत्संसर्गानन्तरं सोपि तथा भवति । तत्संसर्गेण भगवद्धर्माणामन्तर्हितत्वात् । तथैव दुष्टान्नग्रहणे दुर्बुद्धिर्भवति । तस्य पापान्नत्वात्, भ्रान्त्युत्पादकत्वाच्च । यथा जीवानां भगवत्संबन्धाभावे सदोषत्वम्, तथान्नस्यापीति; तत्प्रवृद्धिकामोऽसमर्पितं न भुञ्जीयादित्याशयः । उपलक्षणं चैतत् । वस्तुतस्तु वस्तुमात्रे तत्सम्बन्धव्यतिरेकेण तदभावः । तेन सम्बद्धैरसम्बद्धं न ग्राह्यमिति भावः । तेन यथाकथञ्चित्सम्पादितं तत्सम्बद्धं तदपि शुद्धमेव भवतीति तादृशैस्तथैव कार्यमिति भावः सूचितः । असद्द्रव्योपार्जितमन्नं कृपणान्नं च दुष्टान्नम् । तेन दुःसङ्गतिर्दुरन्नं च यत्र न भवति, तत्र सततं स्थेयम् । एतेनाटनाभावः सूचितः ॥७॥

यहाँ शंका करते हैं, कि गृहत्याग करने पर उनकी बाधाओं की उपस्थिति कैसे ? वहाँ उसका हेतु **दुःसंसर्गात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । उनकी उपस्थिति तो भक्तों के, भगवद्भक्तों के, विरोधियों के संसर्ग से होती है । उनके संसर्ग होने के पश्चात् वह भी वैसा हो जाता है । उनके संसर्ग द्वारा भगवद्धर्मो के अंतर्हित हो जाने से । उसी प्रकार दुष्ट-अन्न ग्रहण करने पर, उसके पापान्न होने से एवं भ्रांति-उत्पादक होने से (दुर्बुद्धि होती है) । जिस प्रकार जीवों का भगवत्संबंध के अभाव में सदोषत्व होता है, उस प्रकार अन्न को भी समझना चाहिए; उस भक्ति-प्रवृद्धि की कामना करने वाले को असमर्पित नहीं खाना चाहिए । यह आशय है । एवं यह उपलक्षण है । वास्तव में तो, वस्तुमात्र में उनके भगवान के संबंध के बिना उसका ग्रहण करने का अभाव है । अर्थात् असमर्पित ग्रहण नहीं करना चाहिए - असमर्पित ग्रहण का भाव नहीं हैं, यह आशय है । विशेष जानकारी के लिए देखें (सि.रहस्य / ४) । इससे भगवद्-संबंधियों को भगवान से असंबंधित ग्रहण नहीं करना चाहिए, यह भाव है । असद्-द्रव्य से उपार्जित अन्न एवं कृपणान्न कंजूस का अन्न दुष्ट-अन्न है । इससे दुःसंगति एवं दुष्ट-अन्न जहाँ नहीं होते, वहाँ सतत रहना चाहिए । इससे पर्यटन का अभाव सूचित किया है । अर्थात् पर्यटन नहीं करना चाहिए यह, भाव है ।

तत्स्थानमेवाहुः अत इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥८॥

यत उभाभ्यां तद्भूयस्त्वमत एकान्ते हरिस्थाने यत्र हरिः सर्वतः तिष्ठति तत्रैव स्थेयम् । तत्राप्येवमेव जडवन्न । किन्तु तदीयैः भगवदीयैः भगवत्सम्बन्धिभिः सह मिलित्वा । ते हि तद्वार्ताभिज्ञा यतो भवन्ति । तेन सत्सङ्गे सति कृतार्थ एव भवति । एतेन दुःसङ्गो न भवतीत्यायातम् । दुष्टान्नप्राप्तिरपि न । तदुच्छिष्टस्यैवोपादेयत्वात् । अयमेव दासधर्मो यतः । असूयाद्यारोपोपि तेषु न कार्यः । यतस्ते तत्पराः केवलं भगवत्पराः । भगवन्तं विनान्यत्किमपि न जानन्ति । तस्मात्तेषु द्वेषादिषु सत्सु सोपि तं न सहते । भक्तद्वेषादेरसह्यत्वात् । इदं तूच्यते । यस्य तत्सङ्गस्तस्य तेषु तदारोपो भवति एव न । वस्तुस्वभावात् । तस्मिन्सति तु तथैवेति सम्भाव्यते । तदीयैः सह सेवायां अदूरस्य दूराभावस्य विप्रकर्ष अतिशयेनाधिक्यं यस्मिन्देशे तत्र स्थेयम् । यथाहोरात्रमध्ये वारद्वयमेकवारं वा तत्सङ्गो भवति । वेत्यनादरे । यतो मुख्यः पक्षः स एव यस्मिन्सेवाश्रवणादिकं मतम् । अस्मिंस्तु केवलं श्रवणादिं एव । तेनायं गौणः । मुख्यासम्भवेपीदं तु कार्यमेव । अन्यथा चित्ते दोषाक्रान्त्या नाश एव ॥८॥

उस स्थान को ही **अतः** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

चूँकि दोनों तरफ बाधकों की बहुलता है । यहाँ 'दोनों तरफ' कहने का तात्पर्य यह है, कि गृह में रहने पर गृह के बहिर्मुख सदस्य भजन में बाधा करते हैं / करेंगे एवं दूसरी ओर गृहत्याग करने पर दुष्टान्न / दुःसंसर्ग मिलेगा । अतः दोनों तरफ बाधकों की बहुलता है । अतः एकांत-हरिस्थान में जहाँ सर्वत्र हरि हैं, वहीं रहना चाहिए । वहाँ भी इसी प्रकार रहना चाहिए जड़वत् नहीं । किंतु तदीय-

भगवदीय,भगवद्-संबंधियों के साथ मिलकर रहना चाहिए । क्योंकि वे ही उन भगवान की वार्ता से भिज्ञ होते हैं । उनसे सत्संग होने पर ही वह कृतार्थ होता है । इससे दुःसंग नहीं होता, यह अर्थ आयातित है । उनका भगवान का उच्छिष्ट ही उपादेय होने से दुष्टान्न-प्राप्ति भी नहीं होती है । क्योंकि यही दासधर्म है । उनमें दोषदृष्टि का आरोप भी नहीं करना चाहिए । अर्थात् उन्हें दोषदृष्टि से नहीं देखना चाहिए । क्योंकि वे तत्पर हैं, केवल भगवत्-पर हैं । क्योंकि भगवान के बिना कुछ भी नहीं जानते हैं । भक्तद्वेषियों को सहन न करने के कारण उनमें द्वेषादि होने पर वे भगवान उन्हें सहन नहीं करते हैं । टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि भगवान भक्तद्वेषियों को सहन नहीं करते हैं, अतः भक्तों से द्वेष नहीं करना चाहिए । यही कह रहे हैं । जिसको उनका अर्थात् भगवदीयों का संग होता है, वह उनमें वैसा आरोप करता ही नहीं है । वस्तु-स्वभाव होने से । उनका साथ होने पर तो वह भी वैसा ही हो जाता है । तदीयों के साथ सेवा में अदूर-दूराभाव/विप्रकर्ष की अतिशय अधिकता जिस देश में हो, वहां रहना चाहिए । 'अदूर', 'दूराभाव' इत्यादि शब्दों का अर्थ होता है, जो दूर न हो अर्थात् निकट हो एवं विप्रकर्ष का अर्थ होता है 'दूर' । निष्कर्ष यह, कि तदीयों के संग, सत्संग की निकटता जहां हो, वहाँ रहना चाहिए । जिस प्रकार दिनरात के मध्य में एक या दो बार उनका संग हो जाय । 'वा' शब्द अनादर में है । 'वा' शब्द का अर्थ होता है 'अथवा' । जहाँ दो पक्ष में से एक चुनना पड़े, वहाँ 'वा' शब्द का प्रयोग होता है । यहाँ 'वा' शब्द को 'अनादर' अर्थ में कह रहे हैं अर्थात् प्रथमतया तो सेवा का ही पक्ष मुख्य है एवं उसके संग संग अनवसर काल में कथा करनी चाहिए । यदि सेवा किन्ही विशेष कारणों से न निभ सके, तब कथा का आश्रय करना चाहिए । यहां 'अनादर' कहने से तात्पर्य यह है, कि 'सेवा' अथवा 'कथा'यों अर्थ नहीं ले लेना चाहिए ।

क्योंकि मुख्य पक्ष वही है, जिसमे सेवा-श्रवणादि का मत है । इसमें तो केवल श्रवणादि ही है । इससे यह गौण पक्ष है । मुख्य पक्ष असंभव होने पर भी यह श्रवणादि तो करना ही चाहिए । अन्यथा चित्त में दोषाक्रांत होने से नाश ही है ।।९।।

नन्वेवं भगवदर्थं क्रियमाणायां सेवायां मध्य एव दैववशादुर्बुद्धौ जातायां नाशोपस्थितौ तु तत्कृतिर्व्यर्था स्यादत आहुः सेवायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ।।९।।

यस्य सेवायामासक्तिर्भवेत्सोपि कियत्कालपर्यन्तमेव, पुनर्नेत्येवं न, किन्तु दृढा, सेवायां तु कश्चिदेवाधिकारी भवतीत्यत उक्तं वेति अनेन दुर्लभत्वं निरुपितम् । तथैव कथायाम् । तदनन्तरं तामेव तदीयैः सह कुर्यात् । अन्यत्र मनो न निवेशयेत् । तेन मुख्यत इदं द्वयमेव कार्यम् । कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं वेत्युक्तम् । तादृशस्य नाशो न, किन्तूत्तरोत्तरमुन्नतिरेव । तर्हि यत्किञ्चिदिनपर्यन्तं मा भवतु, ततस्तु कदाचिद्ध वेदेवेत्याशङ्क्याहुः यावज्जीवमिति । स यावज्जीवति तावत्तस्य नाशो न । क्वापीति । कस्मिन्नपि देशे केनापि प्रकारेण न भवतीत्यर्थः । अनिशं तत्सेवाकथोद्यमे तदितरत्रानुपयोगः क्रियाशक्तेर्वार्तायाश्चित्तस्यापि । अत्र प्रामाण्यार्थं स्वमतिरेव दर्शिता । मतिर्ममेति । अहं त्वेवमेव जानामि, यत्सेवाश्रवणादिकमेव सततं कार्यम्, यतो नाशाभावप्रकारस्त्वयमेवास्मिन् शास्त्रे मुख्यतया निरुप्यते ।।९।।

यहाँ शंका करते हैं, कि भगवान के लिए की जाती सेवा के मध्य ही दुःभाग्य से दुर्बुद्धि पैदा होने से, नाश की संभावना होने से तो वैसा करना सेवा व्यर्थ होता है । अतः **सेवायां वा** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

जिसकी सेवा में आसक्ति होती है, वह भी कुछ समय पर्यन्त ही, पुनः नहीं, ऐसा नहीं, किंतु आसक्ति दृढ़ होनी चाहिए । सेवा में तो कोई ही अधिकारी होता है, अतः 'वा' कहा । इससे दुर्लभता निरुपित की है । उसी प्रकार कथा में भी । उसके सेवा पश्चात् उसे कथा को ही तदीयों के साथ करनी चाहिए । अन्यत्र मन नहीं लगाना चाहिए । अतः मुख्यरुप से यही दो सेवा-कथा करने चाहिए । सेवा-कथा के अतिरिक्त व्यावृत्ति के लिए 'वा' शब्द कहा है । वैसे जीव का नाश नहीं, किंतु उत्तरोत्तर उन्नति ही है । तो भी, कुछ थोड़े दिन तक नाश न हो किंतु पश्चात् हो, ऐसी शंका के लिए **यावज्जीवं** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । वह जब तक जीता है, तब तक नाश नहीं होता है । **क्वापि** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । किसी भी देश में, किसी भी प्रकार से नाश नहीं होता, यह अर्थ है । निरंतर उनकी भगवान की सेवाकथा उद्यम में, उनसे भिन्न क्रियाशक्ति-वार्ता में चित्त का अनुपयोग है । यहाँ प्रमाण के लिए स्वमति ही दर्शायी गई है । अर्थात् यदि कोई शंका करे कि उक्त कथन में प्रमाण क्या है ? आचार्यचरण स्वमति द्वारा ही उसे प्रमाणित कर रहे हैं, यह अर्थ है । **मतिर्मम** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । हम तो यही जानते हैं, कि सेवाश्रवणादि ही सतत करने चाहिए । क्योंकि यही नाश के अभाव का प्रकार हमारे शास्त्र में मुख्यतया निरुपित किया है ।।९।।

नन्वेवं तत्र स्थित्वा क्रियमाणायां सेवायां चेत्केनापि कृत्वा बाधसम्भवे सति किं कार्यं तत्राहुः बाधसम्भावनायामिति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।।१०।।

बाधस्य सम्भावना यदा भवति सेवायां तदा त्वेकान्ते भगवत्स्थाने वासो नेष्यते । न च कलहद्वेषादिनापि स्थेयम्, सेवाया एवेष्टसाधनत्वादिति वाच्यम् । एवं च प्रतिबन्धकस्य बलवत्त्वेन तदसम्भवे द्वेषादेर्मनसि स्थित्या श्रवणाद्यसम्भवे चित्ते दोषाक्रान्त्या कृतवैयर्थ्यापत्तिः । तस्माद्भगवदिच्छयैवं जातमिति मनसि निश्चित्य ततो निःसृत्य निश्चिन्तस्तत्स्मरणं कुर्वन् तीर्थे तिष्ठति, गृहे वा । नन्वेवमेव चेद्भगवदिच्छा, तदा तु पर्यवसानतो नाश एवेत्याशङ्क्याहुः हरिस्त्विति । सर्वतः सर्वेभ्यः सर्वप्रकारेण हरिस्तु रक्षां करिष्यतीत्येवं मनसि निर्धार्य स्थेयम् । सर्वथाश्रितानां रक्षामेव करोति । अप्रामाण्यशङ्कानिवृत्त्यर्थमाहुः न संशय इति । अत्र संशयो न कार्यः । यमनुगृहीतवांस्तं पुनर्नत्यक्ष्यति, सत्यसङ्कल्पत्वात् । इदानीमिच्छाया एव तथात्वात्सेवाऽभावः । यदि कदाचित् भविष्यति, तदा सापीत्यस्मिन्नर्थे न कापि चिन्ता विधेया ।।१०।।

इस प्रकार वहाँ हरिस्थान में रहकर की जाती सेवा में भी किसी के द्वारा बाधसंभावना होने पर क्या करना चाहिए ? ऐसी शंका होने पर **बाधसंभावनायां** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

जब सेवा में बाधा की संभावना होती है, तब तो एकांत में अर्थात् भगवत्स्थान में रहना इष्ट नहीं है । न ही सेवा के ही इष्ट साधन होने के कारण, क्लेशी/द्वेषीयों के संग भी नहीं रहना चाहिए । एवं प्रतिबंधक के बलवान होने से वह सेवा असंभव होने से, मन में द्वेषादि की स्थिति से, श्रवणादि असंभव होने पर, चित्त में दोषाक्रांत होने से की गई सेवा व्यर्थ होने की आपत्ति आती है । अतः 'भगवद्-इच्छा से ही हुआ' यह मन में निश्चित कर, वहाँ बाधसंभावित स्थान से निकलकर निश्चिंतता से उनका स्मरण करते हुए तीर्थ अथवा गृह में रहना चाहिए । यहाँ शंका करते हैं, कि ''यदि यही भगवद्-इच्छा है, तब तो अंत में नाश ही है' तो वहाँ **हरिस्त्विति** इन शब्दों से समाधान कर रहे हैं । सर्वत्र, सभी से, सभी प्रकार से हरि तो रक्षा करेंगे ही, ऐसा मन में निर्धारित करके रहना चाहिए । सर्वथा-आश्रित जीवों की प्रभु रक्षा करते ही हैं । अप्रामाणितकता की शंकानिवृत्ति के लिए 'न संशय' कहा है । ''जिसे अनुग्रहीत करते हैं, उन्हें पुनः त्यागते नहीं हैं, ऐसा भगवान का सत्यसंकल्प होने से यहाँ संशय नहीं करना चाहिए । इस समय भगवान की इच्छा से ही उस प्रकार सेवा का अभाव है । यदि कदाचित् इच्छा होगी तब वह सेवा भी होगी । अतः इस अर्थ में कोई भी चिंता नहीं करनी चाहिए ।।१०।।

एवमुपायान्निरुप्य तत्फलं निरुपयन्ति इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरुपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ।।११।।

इति भगवच्छास्त्रं मया निरुपितम् । यद्भगवत्कृपैकवेद्यम् । तत्र हेतुः । यतो भगवच्छास्त्रं भगवदीयं शास्त्रम्, एतच्छास्त्रवेदको भगवानेव, यतो नान्यः, एतदज्ञात्वात् । अन्यस्यैतदज्ञत्वे हेतुमाहुः । गूढतत्त्वं गूढं गुप्तं सर्वैरज्ञातं यद्भगवत्स्वरूपं तदेव तत्त्वं सारभूतं यस्य तत्तथा । तदपि मया एवं निरुपितम् । अत्र प्राकट्यपूर्वकं निरूपितमित्यर्थः । भक्तिमार्गजिज्ञासूनां निमित्तम् । तेन य एतदुक्तप्रकारमाचरेत्तस्य भगवति रतिः स्यात्सापि दृढा । एतदुक्ताचरणाभावे यत एतत्प्रत्यहं सम्यगर्थावबोधपूर्वकं अधीयीत पठेत्तस्यापि तथा रतिः स्यादिति ।।११।।

विट्ठलेशपादाब्जैकदास्यसङ्काङ्क्षिणा सदा । प्रकाशिता यथाशक्ति मयेयं भक्तिवर्धिनी ।।१।।

इति श्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

इस प्रकार उपायों का निरुपण करके, उनका फल **इत्येवं** इन शब्दों द्वारा निरुपण कर रहे हैं ।

यह भगवद्-शास्त्र मेरे द्वारा निरुपित किया गया । जो केवल भगवद्-कृपा से ही जाना जा सकता है । इसका हेतु कहते है; क्योंकि भगवद्-शास्त्र है, भगवदीयों का शास्त्र है, यह शास्त्र जानने वाले भगवान ही हैं; भगवान को न जानने के कारण दूसरा नहीं । अन्य का उन्हें भगवान को न जानने का हेतु कह रहे हैं । क्योंकि गूढतत्व, गूढ़, गुप्त सभी से अज्ञात, जो भगवद्-स्वरुप है वही तत्व, सारभूत जिसका है, वह शास्त्र वैसा ही गूढ़ है । तथापि मैंने निरुपित किया है । भक्तिमार्ग के जिज्ञासुओं के निमित्त यहां प्रकट करके निरुपित किया, यह अर्थ है । अतः जो इन कहे गये प्रकारों का आचरण करता है, उसकी भगवान में रति होती है, वह भी दृढ़ । इन कहे प्रकारों के आचरण के अभाव में जो इन्हें प्रतिदिन भली-भाँति, अर्थबोध-पूर्वक अध्ययन करता है, पढ़ता है, उसकी भी वैसी दृढ़ रति होती है ।

इस प्रकार केवल विट्ठलेशप्रभुचरणकमलों की दासता का सदा आकांक्षी मैं, इस भक्तिवर्धिनी को यथाशक्ति प्रकाशित कर रहा हूँ ।

।।श्री बालकृष्णकृत भक्तिवर्धिनीविवृति समाप्त हुई ।।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीश्रीवल्लभविरचितविवृतिसमेता ।

नत्वा स्वाचार्यपादाब्जं कृपामधुसुपूरितम् ।
तत्परागारक्तबुद्ध्या व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥१॥
तद्बुद्धिदृढ़तासिद्ध्यै पितृपादरजांस्यहम् ।
हृद्याधाय प्रवृत्तोस्मि नान्यथेति हि निश्चितम् ॥२॥

अथाचार्यचरणाः स्वमार्गाङ्गीकृतानां स्वमार्गीयभक्तिवृद्धिप्रकारमजानतां कृपया तज्ज्ञापनाय तद्वृद्धिप्रकारं प्रतिजानते यथेति ।

कृपामधु से पूरित अपने आचार्य के चरणकमलों को नमन कर उनके पराग से अनुरक्त-बुद्धि द्वारा भक्तिवर्द्धिनी की व्याख्या कर रहा हूँ ॥१॥ उस बुद्धि की दृढ़तासिद्धि के लिए पिता की चरणरज को मैं हृदय में स्थापित कर प्रवृत्त हुआ हूँ अन्यथा नहीं, यह निश्चित है ॥२॥

अथ आचार्यचरण स्वमार्ग में अंगीकृतों को, जो स्वमार्गीय भक्तिवृद्धि के प्रकार को नहीं जानते, उन्हें कृपा द्वारा वह बताने के लिए, उसकी भक्ति की प्रवृद्धि के प्रकार को बताने की प्रतिज्ञा **यथा** इन शब्दों से कर रहे हैं ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरुप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥१॥

यथा येन साधनेन भक्तिः स्वप्रवर्तितमार्गरूपा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नोति तथा तत्प्रकारक उपायः साधनं निरूप्यत उच्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिप्रकाराः शास्त्रेषु पुराणादिषूक्ता एव । उत्पत्त्यनन्तरं वृद्धिस्त्वनुक्तसिद्धैव । तद्यथा । श्रीभागवते 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इति । एकादशेपि 'श्रद्धामृतकथायां' मित्युपक्रम्य 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति । प्रथमस्कन्धेपि 'यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरूषे । भक्तिरूत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहे'ति । गीतास्वपि 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परामि'ति भक्त्युत्पत्तिप्रकारा उक्ता एव । यद्यप्युत्पत्तिप्रकारा उक्तास्तथापि वृद्धिप्रकारो नोक्त इति तद्वृद्धिप्रकारार्थमाचार्यकथनं सम्भवतीति चेत् ।

जिस प्रकार जिन साधनों के द्वारा स्वप्रवर्तितमार्गरुपा भक्ति प्रकर्षरुप से वृद्धि को प्राप्त होती है, उस प्रकारक उपाय अर्थात् साधन निरुपित कर रहे हैं / कह रहे हैं, यह अर्थ है । यहाँ शंका करते हैं, कि भक्ति की उत्पत्ति के प्रकार शास्त्रों में, पुराणादि में कहे ही हैं । उत्पत्ति के पश्चात् वृद्धि तो कहे बिना ही सिद्ध है । वह इस प्रकार । श्रीमद्-भागवत में, ''दान-व्रत-तप-होम-जप-स्वाध्याय-संयम-श्रेय एवं अन्य विविध-साधनों द्वारा निश्चित ही कृष्ण में भक्ति सिद्ध की जाती है (१०/४७/२४)'', एकादश-स्कंध में भी ''जो मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह मेरी अमृतमयी-कथा में श्रृद्धा रखे (११/१९/२०)'' इस श्लोक से उपक्रम करके ''हे उद्धव ! जो इन धर्मों का पालन करते हैं एवं मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनकी मुझमें भक्ति उत्पन्न हो जाती है । तब उनके लिए क्या पदार्थ अवशिष्ट रह जाता है । (श्री.भा. ११/१९/२४)'' इस श्लोक तक; प्रथम-स्कंध में भी ''जिसके श्रवणमात्र से पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण के प्रति परम-प्रेममयी भक्ति हो जाती है, जिससे जीव के शोक-मोह एवं भय नष्ट हो जाते हैं । (१/७/७)'' गीता में भी ''ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रम्ह की अनुभूति होती है । वह न शोक करता है और न इच्छा ही करता है, सभी प्राणियों में समभाव रखता है, वह मेरी परम-भक्ति को प्राप्त करता है । (१८/५४)'' इन वाक्यों में भक्ति की उत्पत्ति के प्रकार कहे ही हैं । यद्यपि उत्पत्ति के प्रकार कहे, तथापि वृद्धि के प्रकार न कहे अतः उसकी वृद्धि के प्रकार के लिए आचार्यचरण का कहना संभव हो सकता है ?

न । वृद्धिप्रकारोपि तत्रोक्तः । तृतीयस्कन्धे पञ्चमाध्याये 'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये । वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यमि'ति । अत्र प्रकारोप्युक्तः । यद्यप्यत्रोत्पत्तिवृद्धिप्रकाराः पुराणादिष्वप्युक्ता एव, तत एवोभयसम्भवे सत्यपि 'यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्या'दिति पुनर्भक्तिवृद्धिप्रकारकथने को हेतुरिति चेत् । सत्यम् । पूर्वोक्तसाधनानां दानव्रतादीनां मर्यादामार्गीयत्वात् तदुत्पन्नभक्तेरपि तन्मार्गीयत्वमेवेत्यवधेयम् । 'कार्यकारणयोरेकजातीयत्व'मिति नियमात् । वृद्धिप्रकारस्यापि तन्मार्गीयसाधनसाध्यत्वेन क्तिफलकत्वेन च मर्यादामार्गीयत्वमेव ।

नहीं । वृद्धि के प्रकार भी वहाँ कहे ही हैं । तृतीयस्कंध, पंचम-अध्याय पैतालीसवें श्लोक में ''हे देव ! आपके कथामृत का पान करने से उमड़ी हुई भक्ति के कारण जिनका अंतःकरण निर्मल हो गया है - ऐसा वैराग्यतत्वभूत आत्मज्ञान प्राप्त करके अनायास ही आपके

वैकुंठधाम को चले जाते हैं'', यहाँ प्रकार भी कहा है । यद्यपि यहाँ उत्पत्ति एवं वृद्धि के प्रकार पुराणादि में कहे ही हैं, ऐसे दोनों संभव होने पर भी ''जिस प्रकार भक्ति प्रवृद्ध होती है'' इन वाक्यों द्वारा पुनः भक्तिवृद्धि के प्रकार कहने में क्या हेतु हैं ? यदि ऐसा कहें तो ? सत्य है । पूर्व में दानव्रत आदि साधनों के मर्यादामार्गीय होने के कारण उनसे उत्पन्न भक्ति भी वैसी मर्यादामार्गीय ही है, इसे ध्यान में रखना चाहिए । 'कार्य/कारण' दोनों एकजातीय होने के नियमानुसार । समझना चाहिए, कि 'कार्य' जिससे उत्पन्न होता है, वह होता है 'कारण' । 'कार्य' की उत्पत्ति में मूलहेतु 'कारण' है । जैसा कारण होगा, कार्य भी तदनुरुप ही होगा । क्योंकि वे दोनों एकजातीय होते हैं । एक उदाहरण से समझें । यदि बीज आम का है, तब वृक्ष भी आम का ही होगा एवं फल भी आम के ही लगेंगे, जामुन के नहीं । वैसे ही, यदि घटनिर्माण में कारण मिट्टी है, तो कार्य अर्थात् घट भी मिट्टी का ही बनेगा, ताम्र का नहीं । अतः टीकाकार यहाँ कहना चाह रहे हैं, कि पूर्व में कहे दान-व्रत-तप आदि साधन मर्यादामार्गीय हैं, तो उससे सिद्ध होनेवाली भक्ति भी मर्यादामार्गीय ही होगी, पुष्टिमार्गीय नहीं, यह अर्थ है । वृद्धिप्रकार के प्रकार भी उस मर्यादा मार्ग के साधनसाध्य होने के कारण एवं मुक्तिफलकत्व अर्थात् 'मुक्ति' देने वाले होने के कारण मर्यादामार्गीय ही हैं ।

आचार्यास्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिनिरूपणं कर्तुं तस्याश्च मर्यादाभक्तिवैलक्षण्यं ज्ञापयितुं तत्साधनानि तत्फलं च वक्तुं तत्साधनानां तत्फलस्य च वैलक्षण्यं वक्तुं भिन्नतया स्वमार्गीयां भक्तिं तद्वृद्धिप्रकारसाधनं च निरूपयन्ति यथेति । यथा स्वमार्गीयस्वप्रवर्तितसाधनैर्भक्तिः शुद्धपुष्टिमार्गीया प्रकर्षेण वृद्धा वर्धिता स्यात् । वृद्धौ प्रकर्षः फलोन्मुखत्वम् । तथा तत्प्रकारकोपायस्तत्प्रकारकसाधनसमुदायो निरूप्यत उच्यत इत्यर्थः । पूर्वोक्तसाधनसमुदायानेवाहुः बीजभावेदृढे तु स्यादिति । अत्र बीजभावस्वरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहपूर्वकं स्वमार्गप्रकारकभवगन्निवेदनान्तरं भगवद्वङ्गीकार एव बीजभावः । तस्य दार्ढ्यं निरन्तरं तदेकपरतया तन्मार्गस्थितिः । तुशब्देन मार्गान्तरीयसाधनव्युदासः । तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । वृद्धौ स्वमार्गीयसाधनान्तराण्याहुः त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । त्यागादेतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्यागात् । तद्वदेवैतन्मार्गीयभगवद्धर्मश्रवणात् । तथैव तद्वदेव कीर्तनात् । अत्र श्रवणकीर्तनयोरेकवद्भावोक्त्योभयोरप्येकजातीयत्वं ज्ञापितम् ।।१।।

आचार्यचरण तो **यथा** इन शब्दों द्वारा स्वप्रकटित शुद्धपुष्टिमार्गीय भक्ति का निरुपण के लिए एवं उसकी मर्यादाभक्ति से विलक्षणता बताने के लिए, उसके साधन एवं फल कहने के लिए एवं उन साधन और फल की विलक्षणता भिन्न-रुप से कहने के लिए स्वमार्गीया भक्ति और उसकी वृद्धि के प्रकार के उपाय निरुपण कर रहे हैं ।जिस प्रकार स्वमार्गीय, स्वप्रवर्तित-साधनों के द्वारा शुद्धपुष्टिमार्गीय भक्ति प्रकर्षरुप से बढ़े । वृद्धि में प्रकर्ष-रुप से फलोन्मुखहेतुता एवं उसी प्रकार उसके वृद्धि प्रकारक उपाय एवं उसके वृद्धि प्रकारक साधन समुदायों का निरुपण कह रहे हैं, यह अर्थ है । पूर्व में कहे साधनसमुदायों को ही **बीजभावे दृढे तु स्यात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । यहाँ बीजभाव का स्वरूप, शुद्धपुष्टिमार्गीय-आचार्यचरण के अनुग्रहपूर्वक उनके मार्ग के प्रकारक भगवद्-निवेदन के पश्चात् भगवान द्वारा अंगीकार ही 'बीजभाव' है । उसकी दृढ़ता निरंतर उनमें भगवान एकपर होना एवं उस मार्ग में रहना है । 'तु' शब्द से पुष्टि मार्ग से भिन्न साधनों का निषेध है । तब भक्ति प्रवृद्ध होती है । वृद्धि में स्वमार्गीय साधनविशेषों को **त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । त्याग शब्द से इस मार्ग से अतिरिक्त दूसरे साधनों का त्याग कहा जा रहा हैं । उसी प्रकार इस मार्ग के भगवद्गुणधर्मों का श्रवण करने से भक्ति प्रवृद्ध होती है । उसी प्रकार उनके कीर्तन करने से भक्ति प्रवृद्ध होती है । यहाँ श्रवणकीर्तन का एकभाव कहकर दोनों का एकजातीयत्व बताया है ।

यद्यपि पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकार उक्त एव । तथापि कदाचितव्यासङ्गेनान्तरायः सम्भवति, तस्माद्यथेतरव्यासङ्गाभावेन बीजदार्ढ्यं सिध्यति तदर्थं भगवद्भजनरूपं प्रकारान्तरमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृणं पूजया श्रवणादिभिः ।।२।।

तुशब्देनैतदतिरिक्तप्रकारान्तरव्युदास उक्तः । स्वमार्गीयभगवद्भजनं तु गृहस्थित्यभावे न सम्भवतीति पूर्वं गृहस्थितिमेवाहुः गृहे स्थित्वेति । भगवद्भजनानुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः कृष्णं भजेत् । अत्र स्वधर्मपदेन वर्णाश्रमधर्मा न विवक्षिताः, किन्तु स्वमार्गीयभगवद्धर्मा विवक्षिताः । कुतः[1], वर्णाश्रमधर्माणां स्वधर्मत्वाभावात् । तद्यथा । धर्मो द्विविधः । एकः शरीरपर्यवसायी । द्वितीय आत्मपर्यवसायी । तत्र सन्ध्यावन्दनमारभ्य यागान्तानां वर्णाश्रमधर्माणां शरीरपर्यवसायित्वमेव । इन्द्रलोकादिभोगपर्यवसानात् । समाप्तौ पुनः 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ती'ति वचनात् शरीरसुखपर्यवसायित्वमेव, न त्वात्मनः परलोकसाधकत्वम् । स्वपदस्यात्मपरत्वात् स्वधर्मपदेनात्मपर्यवसायी धर्म उच्यते । स च भगवद्धर्म एव । तथा च प्रमाणं सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवचनम् । 'यद्यज्ञनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्री'रिति । किञ्च, फलप्रकरणेपि रासमण्डलमण्डनरुपाभिर्गीतम् । 'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः कि'मिति । किञ्च, स्वधर्मत इति कथनात् धर्मपदस्य तसिल्प्रत्ययान्तत्वेनाव्ययत्वादविकृतो धर्म उक्तः । तेनाविकृतो धर्मो भगवद्धर्म एवेति स्वधर्मपदेन भगवद्धर्म एवेति सर्वमनवद्यम् । स च स्वधर्मः क इत्याकांक्षायामाहुः अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णमिति । अव्यावृत्तो भगवद्ध-

---

१. स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयसाधनैः

२. कुतः? तेषां वर्णाश्रमधर्मत्वेन नित्यप्राप्तत्वात् । अत्र केवल भक्तिमार्गीयधर्मविचारं पुनः कथने प्रयोजनाभावात् न विवक्षिता इत्युक्तम् ।

जनाननुकूलव्यावृत्तिरहितः कृष्णं भजेत् । अत्र भजने कृष्णपदस्य फलवाचकत्वेनेदं भजनं मम फलरुपमिति ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यम्, न तु साधनबुद्ध्या । 'यद्यप्यग्रे 'लभते सुदृढां भक्तिं'मित्यनेनालौकिकदेहसम्पत्तिपूर्वकं साक्षात्पुरुषोत्तमभजनस्यैव फलत्वोक्त्याधुनिकभजनस्य साधनत्वमायाति, तथापि पुष्टिमार्गे पुरुषोत्तमस्यैव भजनीयत्वात्, यद्यपि आधुनिकभजने अलौकिकदेहसम्पत्तिर्नास्ति, तथापि आधुनिकभजनस्य पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वमेवेति अस्यापि फलरूपत्वमिति ज्ञापनायोक्तमिदं भजनं मम फलरूपमिति ज्ञात्वा भजनं, कर्तव्यमिति' ।

यद्यपि पूर्व में बीज की दृढ़ता का प्रकार कहा ही है, तथापि कदाचित् दूसरे व्यासंग अर्थात् कहीं और चित्त लगने से से विघ्न संभावित होता है । अतः जिस प्रकार दूसरे व्यासंगाभाव अर्थात् अन्य व्यासंग न होने से से बीजदृढ़ता सिद्ध होती है, उसके लिए भगवद्-भजनरुप दूसरे प्रकारों को **बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

'तु' शब्द से इनसे अर्थात् श्रवणकीर्तनस्मरणादि से अतिरिक्त अन्य प्रकार का निषेध कहा है । स्वमार्गीय भगवद्-भजन तो गृहस्थिति के अभाव में संभव नहीं होता । अतः पहले **गृहे स्थित्वा** इन शब्दों के द्वारा गृह में ही स्थित रहने को कहा है । भगवद्-भजन में अनुकूल-गृह में स्थित होकर स्वधर्म से 'कृष्ण' को भजना चाहिए । यहाँ 'स्वधर्म' पद से वर्णाश्रमधर्म विवक्षित नही हैं, परंतु स्वमार्गीय भगवद्-धर्म विवक्षित हैं । क्यों ? वर्णाश्रमधर्मों में 'स्वधर्म' का अभाव होने के कारण । वे इस प्रकार हैं । धर्म दो प्रकार के हैं । एक शरीर में निर्धारित । दूसरा आत्मा में निर्धारित । वहाँ संध्यावंदन से आरंभ होकर यज्ञ तक के वर्णाश्रमधर्म शरीर में ही निर्धारित हुए हैं । इंद्रादि लोक के भोग में पर्यवसित समाप्त होने के कारण । भोग की समाप्ति होने पर पुनः ''पुण्य क्षीण होने पर वे पुनः मृत्युलोक में गिरते हैं (भ.गी. ९/२१)'' इन वचनों द्वारा शरीरसुख में ही निर्धारित हैं, आत्मा के परलोक साधक में नहीं । 'स्व' पद के आत्मापरक होने से, 'स्वधर्म' पद से आत्मा में निर्धारित धर्म कहे गये हैं । और वे भगवद्-धर्म ही हैं । एवं उसका प्रमाण सप्तम-स्कंध में ''जैसे अपने मुख का सौंदर्य, दर्पण में दीखनेवाले प्रतिबिंब को भी सुंदर बना देता है, वैसे ही भक्त भगवान के प्रति जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसे ही प्राप्त होता है । (श्री.भा. ७/९/११)'' यह प्रह्लाद वचन हैं । कुछ फलप्रकरण (श्री.भा. दशम स्कंध) में भी ''शास्त्र में कुशल पुरुष, स्वयं के आत्मारुप एवं नित्यप्रिय ऐसे आप में विशेष प्रीति रखते हैं, उन्हें पीड़ादायक पति-पुत्र का क्या प्रयोजन है ? (श्री.भा. १०/२९/३३)'' इन वाक्यों के द्वारा रासमंडल की मंडनरुपा गोपियों ने गाया है । एवं 'स्वधर्म' ऐसा कहने से 'धर्म' पद 'तसिल' प्रत्ययान्त होने से, 'अव्यय' प्रयोग होने से, अविकृत-धर्म कहा है । अतः 'अविकृत-धर्म' भगवद्-धर्म ही हैं । अतः स्वधर्म पद से भगवद्-धर्म ही हैं, इस प्रकार यह सब अनिंदित है अर्थात् उचित है । मूल पंक्ति देखें । इसमें 'स्वधर्मतः' पद आया है । 'स्वधर्म के संग जो 'तः' जुड़ा है वह है 'तसिल' प्रत्यय । स्वधर्मतः शब्द का अर्थ बनता है 'स्वधर्म से' । यही अर्थ पंचमी विभक्ति के एकवचन अर्थात् 'स्वधर्मात्' द्वारा भी दिया जा सकता था । परंतु श्रीमहाप्रभु स्वधर्मात् न कहकर स्वधर्मतः कह रहे हैं । इस पद के अंत में 'तसिल' प्रत्यय है एवं वह 'अव्यय' है । 'अव्यय' का अर्थ होता है, जिसका व्यय न होता हो अर्थात् उसमें विकृति न आती हो । यहाँ श्रीमहाप्रभु ने 'स्वधर्म' पद के साथ 'तसिल' प्रत्यय प्रयुक्त किया है, जो स्वधर्म पद को अविकृत बना दे रहा है । आगे कह रहे हैं, कि 'स्वधर्म' पद से अपने स्वयं के वर्णाश्रमधर्म न लेकर भगवद्-संबंधी जो धर्म हैं, वह लेने चाहिए । अतः यह सूचित होता है, कि भगवद्-धर्मो में विकार अर्थात् विकृति नहीं आती, यह अर्थ है । एवं वह स्वधर्म कौन सा है ? यह आकांक्षा होने पर **अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं** इन वाक्यों से कह रहे हैं । अव्यावृत्त अर्थात् भगवद्-भजन में प्रतिकूल व्यावृत्ति से रहित होकर श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिए । यहां भजन में 'कृष्णपद' फलवाचक होने से ''यह भजन मेरा फलरुप ही है'' यह जान कर भजन करना चाहिए, न कि साधनबुद्धि से । यद्यपि आगे **''सुदृढ़ भक्ति प्राप्त करता है''** इस वाक्य से अलौकिक देह-संपत्तिपूर्वक साक्षात् पुरुषोत्तम भजन को ही फल कहा होने से । एवं आधुनिक भजन में साधनत्व आता है तथापि पुष्टिमार्ग में पुरुषोत्तम के ही भजनीय होने से । यद्यपि आधुनिक भजन में अलौकिक देह-संपत्ति नहीं है तथापि आधुनिक भजन के पुरुषोत्तम में पर्यवसित होने से यह आधुनिक भजन भी फलरुप है । यह बताने के लिए ''यह भजन मेरा फलरुप है'' यह जानकर भजन करना चाहिए यह कहा ।

ननु एकस्यैव साधनरूपत्वं फलरूपत्वं च कथं सम्भवतीति चेत् । सत्यम् । साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलस्येतरसाधनासाध्यत्वात् पुरुषोत्तमभजनमेव साक्षात्पुष्टिमार्गीयफलसाधक त्व म् । यथा महाराजस्य धार्यमपि सुवर्णरत्नादिकमेव । व्यवहार्यमात्राण्यपि तन्मयान्येव । अथ च कोशे संग्राह्यमपि सुवर्णरत्नादिकमेव । यतस्तस्य महाराजस्य सर्वतोधिकत्वात् । सुवर्णस्यापि सर्वधात्वपेक्षयोत्कृष्टत्वात् । तथा तद्वदस्य फलस्य सर्वोत्कृष्टत्वभावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनमपेक्षितम् । सर्वोत्कृष्टस्य साधनस्य विचारे क्रियमाणे भजनातिरिक्तस्य सर्वोत्कृष्टत्वाभावात्सर्वोत्कृष्टमेव साधनं सर्वोत्कृष्टफलमेवेति भजनमेव साधनम्, भजनमेव फलमिति नानुपपत्तिः काचित् ।

अब यहाँ शंका करते हैं, कि एक ही भजन साधनरुप एवं फलरुप कैसे संभव हो सकता है ? उचित है । साक्षात् पुष्टिमार्गीय फल का दूसरे साधनों से असाध्य होने से, पुरुषोत्तम-भजन ही साक्षात् पुष्टिमार्गीय फलसाधन है । जिस प्रकार महाराजा के धारण करनेवाले आभूषण सुवर्ण, रत्नादि ही होते हैं । व्यवहार मात्रा में भी वे वैसे ही अर्थात् मूल्यवान ही होते हैं । एवं, कोश में संग्रहीत भी सुवर्ण, रत्नादि ही होते हैं । क्योंकि वे आभूषणादि महाराज के पास ही सबसे अधिक होते हैं । सुवर्ण के भी अन्य सभी धातुओं की अपेक्षा उत्कृष्ट होने से । उसी प्रकार इस फल का सर्वोत्कृष्ट-भाव होने से सर्वोत्कृष्ट-साधन ही अपेक्षित है । सर्वोत्कृष्ट साधन का विचार करने पर भजन के

१. चिह्नान्तर्गतं टिप्पणं प्रतिभाति, अन्यपुस्तकेषु क्वचिददर्शनात् ।

अतिरिक्त सर्वोत्कृष्टता का अभाव होने से सर्वोत्कृष्ट-साधन ही सर्वोत्कृष्ट-फल है । अतः भजन ही साधक है और भजन ही फल, इसमें कोई आपत्ति नहीं है ।

अग्रे भजन प्रकारमाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । अत्र पूजापदेन आगमोक्तप्रकारकपूजा न विवक्षिता । पूर्वं कृष्णपदेन सदानन्दफलरुपपुरुषोत्तमभजनस्य प्रकारत्वेनोक्तत्वात् । आगमोक्तपूजायाः पुरुषोत्तमविभूतिपर्यवसायित्वात् न पुरुषोत्तमभजनपर्यवसायित्वम् । तथापि पुरुषोत्तमभजनप्रकारेषु पूजाया अपि गणनात्सा पूजा शुद्धपुष्टिमार्गीयैवेति ज्ञेयम् । अत एव शुद्धपुष्टिमार्गविद्भिः प्रमेयप्रकरणीयसप्तमाध्याये गुणगाने हरिणीनां भावं निरूप्य पश्चात्तद्भावदृष्टेरेव पूजात्वमुक्तम् । 'पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैं'रिति कथनात् । एतद्भावसजातीयभावपूर्वकं श्रीकृष्णदर्शनसेवाकरणमेव पूजया भजनम् । एतद्भावज्ञापनाय अत्रैतन्मार्गीयभजनसाधनपूजेयमिति ज्ञापनायोक्तं पूजयेति । अस्मिन्मार्गे भजनं सेवैव ।

आगे **पूजयाश्रवणादिभिः** इन शब्दों से भजन का प्रकार कहा है । पूर्व में 'कृष्णपद' से सदानंद-फलस्वरुप-पुरुषोत्तम के भजन का प्रकार कहा होने से, यहाँ 'पूजा' पद द्वारा वेद में कहे गये प्रकार से पूजा विवक्षित नहीं है । वेद में कही हुई पूजा, पुरुषोत्तम की विभूति में पर्यवसित होने से पुरुषोत्तम-भजन में पर्यवसित नहीं है । फिर भी पुरुषोत्तम-भजन प्रकारों में पूजा को भी गिना होने से वह पूजा शुद्धपुष्टिमार्गीय ही है, यह जानना चाहिए । अतः ''प्रेम भरे नेत्रों से श्रीकृष्ण की पूजा का विधान कर रही हैं (श्री.भा. १०/२१/११)'' इस कथन द्वारा शुद्धपुष्टिमार्ग जाननेवालों ने अर्थात् गोपीजनोंने प्रमेय-प्रकरण के सप्तम-अध्याय वेणुगीत में, भगवद्-गुणगान में हरिणियों के भाव के निरुपण के पश्चात् उनकी भावदृष्टि को ही पूजारुप कहा है । इस भाव के जैसे भावपूर्वक श्रीकृष्ण के दर्शन-सेवा करनी ही पूजा द्वारा भजन है । यह भाव बताने के लिए यहाँ ''इस मार्ग के भजन का साधन पूजा है'' यह बताने के लिए **पूजया** इन शब्दों से कहा गया । इस मार्ग में भजन, सेवा ही है ।

अत्र केचित्स्नेहरहितसेवा पूजैवेति पूजापदं व्याख्यातवन्तः, तन्न विचारक्षमम् । कुतः ? मार्गभेदस्य नियामकत्वात् । आचार्यैस्तु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गाङ्गीकृतस्वकीयजीवेषु स्वप्रकटितशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिवृद्ध्यर्थं भक्तिवर्धिनीरूपं शास्त्रं कृतम् । तदीयशास्त्रे तदङ्गीकृता एवाधिकारिणः, नत्वन्ये । तेषामाचार्यानुग्रहेण शुद्धपुष्टिमार्गीयत्वात् तत्प्रदर्शितसेवाकरणं सस्नेहं स्नेहरहितं वा भवतु, परन्तु पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वाद्भ - क्तिमार्गीयमेव भवति । न तु पूजामार्गीयम् । किञ्च, शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाप्रकारसदृशाः प्रकारा वस्त्रालङ्कारादिसमर्पणरूपाः पूजायामपि दृश्यन्ते । तथापि तेषां विभूतिपर्यवसानात्पूजामार्गीयत्वमेव, न तु सादृश्यमात्रेण तेषां भक्तिमार्गीयत्वम् । मार्गभेदस्य नियामकत्वात् ।

यहाँ कोई ''स्नेहरहित सेवा ही पूजा है'' ऐसी पूजापद की व्याख्या करते हैं; यह विचार उचित नही है । क्यों ? वह विचार मार्गभेद का नियामक होने से । (अर्थात् वह विचार पुष्टिमार्गीय न होकर अन्यमार्गीय है, यह अर्थ है ।) आचार्य चरणों ने तो अपने द्वारा प्रकटित शुद्धपुष्टिमार्ग में अंगीकृत स्वकीय-जीवों में, स्वयं द्वारा प्रकटित शुद्धपुष्टिमार्गीय-भक्ति के प्रवर्धन के लिए भक्तिवर्द्धिनी-रुप शास्त्र को प्रकट किया है । उनके शास्त्र में उनके द्वारा अंगीकृत ही अधिकारी हैं अन्य नहीं । आचार्यचरणों के अनुग्रह से, शुद्धपुष्टिमार्गीय होने के कारण उनके द्वारा प्रदर्शित सेवाकृति सस्नेह हो या स्नेहरहित हो परंतु पुरुषोत्तम पर्यवसायी होने से भक्तिमार्गीय ही होती है । न कि पूजामार्गीय । एवं, कहे शुद्धपुष्टिमार्गीय सेवा-प्रकारों के जैसे वस्त्रालंकार समर्पणरुप प्रकार पूजा में भी दिखाई देते हैं । तथापि वे विभूति में पर्यवसायी होने से पूजामार्गीय ही है न कि केवल उस जैसा दिखाई देने मात्र से वे भक्तिमार्गीय होते हैं । मार्गभेद नियामक होने के कारण ।

किञ्च । यो यन्मार्गीयस्तत्कृतं सर्वं भगवद्धर्मादिकं तन्मार्गीयमेव भवति । यथा 'प्रमादात्कुर्वतां कर्मे'त्यत्र कर्मसाङ्गण्यार्थं कृतस्य विष्णुस्मरणस्य कर्ममार्गीयत्वमेव । अन्यच्च 'यस्य स्मृत्या च नामोक्तये'त्यत्र स्मृत्यादित्रयाणामपि कर्ममार्गीयत्वमेव, न तु नवधाभक्त्युक्तसादृश्यमात्रेण भक्तिमार्गीयत्वम् । एवं सेवोपयोगिनीं पूजामुक्त्वा तदुपयोगिश्रवणादिकमप्याहुः श्रवणादिभिरिति । सेवाकरणानन्तरमवशिष्टकाले इतरव्यासङ्गाभावार्थं श्रवणम् । आदिपदेन कीर्तनस्मरणचिन्तनान्यपि ।।२।।

एवं । जो जिस मार्ग का है, उसके द्वारा किए गये सभी धर्माचरण उस मार्ग के ही होते हैं । जिस प्रकार 'हमारे द्वारा किए गये कर्म के प्रमाद से'' इस वाक्यों में कर्म की सद्गुणता सार्थकता के लिए किया गया विष्णु का स्मरण भी कर्ममार्गीय होता है । और भी, ''जिनके स्मरण एवं नामोच्चार से'' इन वाक्यों में स्मृति आदि तीनों भी कर्ममार्गीय ही हैं न कि नवधाभक्ति में कहे गये भक्ति के प्रकार जैसे मात्र होते से भक्तिमार्गीय ।

इस प्रकार सेवा में उपयोगी पूजा को कह कर उसमें सेवा में उपयोगी श्रवणादि को भी **श्रवणादिभि** इन वाक्यों से कह रहे हैं । सेवा करने के पश्चात् अवशिष्ट-काल में दूसरे व्यासंग को दूर करने के लिए श्रवण है । 'आदि' पद से अन्य कीर्तन-स्मरण-चिंतन भी ले लेने चाहिए ।।२।।

एवमव्यावृत्तिपूर्वकं भजनमुक्त्वा कदाचिद्भगवदर्थव्यावृत्तिसमयेपि हरौ सर्वदुःस्वहर्तरि चित्तव्यासङ्गपूर्वकमेव व्यावृत्तिः कर्तव्येत्यत आहुः व्यावृत्तोपि हरौ चित्तमिति ।

१. 'तस्मादत्र केचिदित्यारभ्य, तत्र विचारक्षममिति यदुक्तं, तत्सर्वं सोपपत्तिकमुपपादितमित्यलमितोधिकविचारेण ।'

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ।।३।।

व्यावृत्तिकरणानन्तरमवशिष्टसमये पूर्ववत् श्रवणादौ यतेत् श्रवणाद्यर्थं यत्नं कुर्यात् । एवं भक्तिमार्गीयभक्तिवृद्धिसाधनान्युक्त्वास्य भक्तिवृद्धिप्रकारमाहुः ततः प्रेमेति । पूर्वं प्रेम भवति । ततः स्नेहाङ्कुरो भवति । तदनन्तरं प्रौढभावे सति आसक्तिर्भवति । चित्तं भगवत्स्वरुपे व्यासक्तं लग्नं तदेकपरं भवति । ततः प्रौढभावे सति व्यसनं भवति । व्यसनं नाम तद्व्यतिरेकेण स्थातुमेव न शक्नोति । तद्यथा । दशमस्कन्धे 'गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने । क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवदि'ति । एवं यदा व्यसनं भवति, तदा बीजभावो दृढ़ो भवति ।।३।।

इस प्रकार अव्यावृत्तिपूर्वक भजन कहकर, कदाचित् भगवान के लिए व्यावृत्ति करने के समय में भी सर्वदुःस्वहर्ता हरि में चित्त की व्यासंगपूर्वक ही व्यावृत्ति करनी कर्तव्य है, यह **व्यावृत्तोऽपि हरौ** इन शब्दों से कह रहे हैं । यहाँ 'कदाचित्' संदेह के अर्थ में आया है । वैसे तो मुख्य-पक्ष अव्यावृत्तिपूर्वक ही भजन करना है, किंतु कदाचित् यदि कोई व्यावृत्त हो, तब कैसे भजन करना ? यह स्पष्टीकरण दे रहे हैं ।

व्यावृत्ति करने के पश्चात् अवशिष्ट समय में पूर्व की भाँति श्रवणादि के लिए यत्न करना चाहिए । इस प्रकार भक्तिमार्गीय भक्तिवृद्धि के साधनों को कह कर इस जीव की भक्तिवृद्धि के प्रकार को **ततः प्रेम** इन शब्दों से कह रहे हैं । प्रथम, प्रेम होता है । फिर स्नेहांकुर होता है । तत्पश्चात् प्रौढभाव होने पर आसक्ति होती है । चित्त भगवद्-स्वरुप में व्यासक्त (अर्थात् लगकर उनसे एकमेक होता है । फिर प्रौढभाव होने पर व्यसन होता है । व्यसन अर्थात् उनसे भगवान से अलग होकर जीव रह ही नहीं सकता है । वह इस प्रकार । ''गोपियों को गोविंद-दर्शन होने पर परमानंद होता था । एक क्षण जिनके बिना सौ-युग की भाँति हुआ (श्री.भा.१०/१९/१६) इस प्रकार जब व्यसन होता है, तब बीजभाव दृढ़ होता है ।।३।।

एवं व्यसनपर्यन्तं बीजदार्ढ्यप्रकारमुक्त्वाग्रे बीजस्य दृढत्वं निरूपयन्ति बीजं तदिति ।

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः आसक्त्या स्यादृहारुचिः ।।४।।

तत्पूर्वोक्तं बीजं व्यसनभावानन्तरं दृढ़ं भवतीति शास्त्रे भक्तिशास्त्रे उच्यते निरूप्यत इत्यर्थः । दृढत्वस्य लक्षणमाहुः यन्नापि नश्यतीति । यत्केनापि लौकिकालौकिकनाशकेनापि न नश्यतीति । लौकिका दुःसङ्गादयः, अलौकिकाः कालादयः, तैरपि न नश्यतीत्यर्थः । अतः परं येन प्रकारेण त्रयाणां स्नेहादीनां मध्ये येन यथा स्वापनोदनं भवति, तथा तस्यापनोदनप्रकारं वदन्ति । अत्र स्नेहाद्युत्पत्तौ मुख्यापनोदकास्त्रयः, भगवदतिरिक्ते रागो गृहसक्तिर्भगवद्व्यतिरेकेणापि कालनिर्वाहः । तत्र रागादित्रयाणां क्रमेणैकेकापनोदकत्वमाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति । तत्र पूर्वं यथाकथञ्चिदल्पस्नेहाङ्कुरोत्पत्त्यापि भगवदतिरिक्ते रागो न भवति । तदनन्तरं यदासक्तिर्भवति, ततः प्रौढभावो भवति, तदा गृहासक्त्यपनोदो भवति । भगवदासक्त्या गृहासक्तिर्गच्छति ।।४।।

इस प्रकार व्यसनपर्यंत बीजदृढ़ता का प्रकार कर कर आगे **बीजं तत्** इन वाक्यों से बीज के दृढ़त्व का निरुपण कर रहे हैं ।

वह, पूर्व में कहा गया बीज, व्यसन-भाव के पश्चात् दृढ होता है, यह भक्तिशास्त्र में कह रहे हैं अर्थात् निरुपण कर रहे हैं, यह अर्थ है । **यन्नापि नश्यति** इन वाक्यों द्वारा दृढत्व के लक्षण कह रहे हैं । जो किसी से भी, लौकिक या अलौकिक नाश करने वाले से भी नष्ट नहीं होता है । लौकिक अर्थात् दुःसंगादि; एवं अलौकिक अर्थात् कालादि; इनसे भी नष्ट नहीं होता यह अर्थ है । इसके पश्चात् जिस प्रकार से तीनों अर्थात् स्नेहादि के मध्य में जिससे, जिस प्रकार स्वापनोदन अर्थात् स्वयं की अहंताममता का निरसन होता है, उसी प्रकार उसका जीव का अपनोदन प्रकार अर्थात् अहंताममता नाश का प्रकार कह रहे हैं । वहाँ भगवान में स्नेहादि की उत्पत्ति में मुख्य-रुप से तीन अपनोदक कहे गये हैं । एक भगवान के अतिरिक्त अन्य में राग । दूसरा गृह में आसक्ति तथा तीसरा भगवान के बिना भी समय का निर्वाह । वहाँ **स्नेहाद्रागविनाशः स्यात्** इन वाक्यों के द्वारा रागादि तीनों के क्रम से अपनोदकत्व नष्टता कह रहे हैं । वहाँ पहले, जैसे-तैसे प्रकट हुए अल्पस्नेहांकुर की उत्पत्ति से भी भगवान के अतिरिक्त सांसारिक विषयों में राग नहीं होता है । तत्पश्चात् जब आसक्ति होती है, तब प्रौढभाव होता है । तब गृहासक्ति हट जाती है । भगवद्-आसक्ति से गृहासक्ति चली जाती है ।

आसक्त्यानन्तरं गृहारुचौ हेतुद्वयमाहुः गृहस्थानामिति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ।।५।।

गृहे स्थितानां भार्यापुत्रादीनां, गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्था भार्यापुत्रादयस्तेषां स्वजातीयभावाभावात् तैः सह संबन्धस्य भावविघातकत्वस्फूर्त्या

तेष्वरुचिर्भवत्येवेत्यत उक्तं बाधकत्वं भासत इति । ननु यद्यपि भार्यापुत्रादीनां भावबाधकत्वमुक्तम्, तथापि 'न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति' इत्यादिश्रुत्या तेषु आत्मसंबन्धित्वेन प्रियत्वस्यापि स्फूर्त्या सर्वात्मना बाधकत्वस्फूर्तिर्न भविष्यतीत्याशङ्कानिरासाय तेषु तादृशस्य भगवदासक्तस्य आत्मसंबन्धित्वस्फूर्त्यभावेन यथा सर्वात्मना प्रियत्वाभावस्तं प्रकारमाहुः अनात्मत्वं च भासत इति । स्वस्य भगवदासक्त्या निरुपाधिस्नेहास्पदत्वेन भगवत्येवात्मत्वं स्फुरति, न तु स्वात्मनि । अतो भगवदीयेष्वेवात्मसंबन्धित्वं भासते । न तु स्वात्मसंबन्धिष्वात्मसंबन्धित्वं भासत इति । तेष्वात्मसंबन्धित्वभानाभावात् बाधकत्वमेव भासते, ननु स्वात्मीयकत्वमिति ज्ञापनायोक्तं बाधकत्वमनात्मत्वमिति गृहारुचौ हेतुद्वयमुक्तम् ।

आसक्ति के पश्चात् गृह की अरुचि के दो हेतु गृहस्थानां इन वाक्यों से कह रहे हैं । अर्थात् गृह में अरुचि क्यों हो जाती है ? इसके दो हेतु हैं । उन दोनों हेतुओं को कह रहे हैं ।

गृह में रहते हुए जो स्त्रीपुत्रादि हैं, उनमें स्वयं के जैसे भाव का अभाव होने से, उनके साथ संबंध होने से 'भावविघातकत्व' की स्फूर्ति होने से उनमें अरुचि होती ही है, इसे **बाधकत्वं भासते** इन शब्दों द्वारा कह रहे हैं । अब यहाँ शंका करते हैं, कि यद्यपि पत्नीपुत्रादि को भगवद्-भावों का बाधक कहा है, तथापि "अरे ! पुत्रों की कामना के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते किंतु अपनी आत्मा की कामना के लिए पुत्र प्रिय होते हैं" इस प्रकार की श्रुतिकथानुसार उनमें आत्मसंबंध होने से, प्रियत्व के भी स्फुरित होने से सभी प्रकार से बाधक की अनुभूति नहीं होगी । ऐसी शंका के निरसन के लिए वैसे भगवदासक्त को आत्मसंबंध की स्फूर्ति के अभाव से जिस प्रकार सभी में प्रियत्व का अभाव हो, वैसा प्रकार **अनात्मत्वं च भासते** इन वाक्यों से कह रहे हैं । टीकाकार एक शंका उठा रहे हैं । वे कहते हैं कि यद्यपि पत्नीपुत्र भगवद्-भाव के बाधक हैं तथापि उपर्युक्त श्रुति के अनुसार पुत्र स्वयं की आत्मा के लिए होने के कारण अर्थात् स्वार्थ से पुत्र प्रिय होता है अतः उसमें प्रियत्व तो रहता ही है, तब क्या वे बाधक लगेंगे ? यह अर्थ है । स्वयं की भगवदासक्ति के कारण निरुपाधिक-स्नेहास्पद-रूप से भगवान में ही आत्मत्व स्फुरित होता है । स्वयं की आत्मा में नहीं । अतः भगवदीयों में ही आत्मसंबंधित्व अनुभूत होता है । न कि स्वयं के आत्मसंबंधियों में आत्मसंबंधित्व अनुभूत होता है । उनमें पत्नीपुत्रादि में आत्मसंबंधित्व के भान के अभाव के कारण वे बाधक ही भासित होते हैं न कि स्वात्मीय, यह बताने के लिए **बाधकत्वमनात्मत्वं** इन वाक्यों से गृह की अरुचि के दो हेतु कहे ।

एवं तादृशस्य गृहारुचौ हेतुद्वयमुक्त्वा तस्यैव स्नेहबुद्धिपराकाष्ठामाहुः यदा स्यादिति । यदा यस्मिन्काले कृष्णे फलात्मके व्यसनं स्यात् । तदर्शनादिव्यतिरेकेण तत्संबन्धिव्यतिरेकेण स्थातुमशक्तिर्व्यसनं तद्यदा स्यात् । तादृशो भावो यदा स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात् । कृतः अर्थो येन तादृशः स्यात् । अर्थोत्र भक्तिमार्गीयसाक्षाद्भगवत्संबन्धफलरूपः । सः स्वस्मिन्कृतो भवति, सम्पादितो भवति, तदा कृतः अर्थः पूर्वोक्तफलरूपो, भगवता तस्मै दत्तो भवतीत्यर्थः । नहि एतादृग्भावयुक्तस्य एतत्फलदानातिरिक्तं फलं दातुं युक्तमिति ज्ञापनायोक्तं हीति ।

इस प्रकार तादृशी की गृह में अरुचि के दो हेतु कह कर, उसकी भक्ति ही स्नेहवृद्धि की पराकाष्ठा को **यदास्यात्** इन वाक्यों से कह रहे हैं । जब, जिस काल में फलात्मक-कृष्ण में व्यसन होता है; उनके दर्शनादि के बिना, उन भगवद् संबंधियों के विना रहना ही अशक्य होता है, तब व्यसन होता है । वैसा भाव जब होता है, तब ही भक्त कृतार्थ होता है । प्राप्त कर लिया है अर्थ भगवान को जिसने वह तादृश अर्थात् कृतार्थ होता है । 'अर्थ' यहाँ भक्तिमार्गीय साक्षात् भगवद्-संबंध फलरूप है । वह भगवद्-संबंध स्वयं किया गया होता है अर्थात् संपादित होता है । अर्थात् जीव स्वयं ब्रम्हसंबंध दीक्षा ग्रहण कर भगवान से संबंध स्थापित करता है । तब किया हुआ अर्थ कृतार्थ पूर्व में कहा फलरुप, भगवान द्वारा उसे दिया गया होता है, यह अर्थ है । इस प्रकार के भावयुक्त को ऐसे फलदान के अतिरिक्त दूसरा फल देना योग्य नहीं है, यह बताने के लिए 'हि' कहा है ।

एवं तस्य व्यसनवतो योग्यताभावं फलं च निरूप्य तस्याग्रिमव्यवस्थामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशनम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥६॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाव्रतः ॥७॥

तादृशस्यापि तादृग्भावयुक्तस्यापि, सततं निरन्तरं, गेहस्थानं गृहस्थितिः, तादृग्भावसत्सङ्गाभावाद्विनाशकं तद्भावविघातकमित्यर्थः । यो यस्य विघातकःस तत्सन्निधौ स्थातुं न शक्नोति । अत एव फलप्रकरणे '.यर्ह्यम्बुजाक्षे'तिपद्ये व्रजरत्नरुपाभिर्निरुपितम् । यर्हि यत्प्रभृति त्वत्पादतलप्रसप्राक्ष्म तत्प्रभृति अन्यसमक्षं स्थातुं न पारयाम इति । तदेव विवृतमाचार्यचरणैः । 'यथा देहाभिमानी व्याघ्रास्य देहविघातकत्वात्तत्संनिधौ स्थातुं न शक्नोती'ति । अत उक्तं तादृशस्येति । अतः परं पूर्वोक्तभावयुक्तस्य गेहस्थितेर्भावविघातकत्वेन तत्र स्थातुमशक्त्याया स गेहत्यागमेव करोतीत्याहुः त्यागं कृत्वेति । तस्य गेहत्यागानन्तरं स्थितिप्रकारमाहुः यतेद्यस्त्विति । त्यागानन्तरं स यत्नमेव कुर्यात्, ननु प्रकरान्तरेण तिष्ठेत् । तस्य यत्नविषयमाहुः । तदर्थार्थैकमानस इति । तादृशस्य यद्विषयको भावः स विषयो भगवानेव भवतीति । स एवार्थः । स चासावर्थश्च तदर्थः भगवान् तदर्थं भगवदर्थमेकं केवलं मानसं मनो यस्य तादृशो भूत्वा सुदृढां भक्तिं लभते ।

---

१. भावसंवन्धबाधकत्वमिति पाठः । भावसंवन्धसकलमिति पाठश्च ।

इस प्रकार व्यसनदशायुक्त जीव की योग्यता-भाव एवं फल को निरुपित करके उसकी अग्रिम व्यवस्था **तादृशस्यापि** इन वाक्यों से कह रहे हैं ।

तादृश को भी अर्थात् वैसे भावयुक्त को भी गृहस्थिति, सतत-निरंतर वैसे भाव अर्थात् संत्संगाभाव से, विनाशक अर्थात् उसके भाव की विघातक होती है, यह अर्थ है । जो जिसका विघातक है, वह उसकी सन्निधि में नहीं रह सकता है । अतएव फलप्रकरण में "हे कमलनयन ! जो प्रकृति आपके चरणकमल से स्पर्शित है, वह प्रकृति अन्य के समक्ष रहने में सक्षम नहीं है (श्री.भा. १०/२१/३६)" इन वाक्यों द्वारा व्रजरत्नरुपा गोपियों ने निरुपित किया है । वही आचार्यचरणों ने "जैसे कोई देहाभिमानी, सिंह के देहविघातक होने के कारण उसके समक्ष स्थित नहीं रह सकता (सुबोधिनी)" इन वाक्यों द्वारा निरुपित किया है । अतः **तादृशस्य** कहा गया । अतः पूर्व में कहे गये भाव से युक्त का भी गृह में रहना भावविघातक होने से, वहाँ रहना अशक्य होने से वह गृहत्याग ही करता है, यह **त्यागं कृत्वा** इन शब्दों से कह रहे हैं । गृहत्याग के पश्चात् उसकी स्थिति का प्रकार **यतेद्यस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं । त्याग के पश्चात् उसे यत्न ही करना चाहिए, न कि अन्य प्रकार से रहना चाहिए । उसके यत्न के विषय को **तदर्थार्थैकमानस** इन शब्दों से कह रहे हैं । तादृशी के जो विषयक भाव हैं, वह विषय भगवान ही होते हैं । वह ही अर्थ हैं । एवं वह अर्थ 'तदर्थ/भगवान' हैं, तदर्थ/भगवदर्थ केवल एक मानस/मन जिसका है, वैसा होकर सुदृढ़-भक्ति प्राप्त करता है । पूर्व में उस जीव की व्यसनपर्यंत सभी प्रकार से बाधारहित भक्ति को कह कर पुनः जो तदर्थार्थैकमानस कह कर भी जो "सुदृढ़-भक्ति प्राप्त करता है" यह कहा, उसका यह आशय है, कि तत्पश्चात् भी सुदृढ़, सर्वात्मभावरुपा-भक्ति, साक्षात् स्वरुपानंद का फल देने वाली भक्ति प्राप्त करता है, यह अर्थ है ।

पूर्वं तस्य व्यसनपर्यन्तां सर्वानपनोद्यां भक्तिमुक्त्वापि पुनर्यत्तदर्थार्थैकमानस इत्युत्त्वापि लभते सुदृढां भक्तिमिति यदुक्तं तस्यायमाशयः । ततोपि सुदृढां सर्वात्मभावरूपां भक्तिमिति साक्षात् स्वरुपानुभवफलिकां लभत इति । तल्लाभकथनेन तादृशस्य पूर्वोक्तातिविगाढभावेन विद्यमानदेहापगमानन्तरं लीलौपयिकमलौकिकं देहं प्राप्य साक्षात्स्वरुपसंबन्धि फलं लभत इत्यर्थः । फलरूपभक्तेः स्वरूपमाहुः सर्वतोप्यधिकामिति । सर्वतश्चतुर्विधमुक्त्यपेक्षयापि अधिकाम् । परामगणितानन्दपुरुषोत्तमर्यवसायिनीम् । एवं पूर्वोक्तभक्तिवृद्धिपर्यवसानं फलं चोक्त्वा पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वकथनस्यायमाशयः । कदाचित्कश्चिद्भक्तिमार्गानुवर्ती पूर्वोक्तत्यागस्वरुपज्ञात्वाहमपि गृहादित्यागं कृत्वा भक्तिवृद्धिं साधयिष्यामीति यदि गृहादिकं त्यक्तुमिच्छति तस्य तत्र निषेधमाहुः त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति । तादृशस्य त्यागे गृहादित्यागेन भक्तिवृद्धिसाधने बाधकभूयस्त्वात्फलं न सिध्यति ।

उस भक्ति के लाभ कहने के द्वारा तादृशी को पूर्व में कहे अति-विगाढ़भाव से विद्यमान देह नष्ट होने के पश्चात् लीलोपयोगी अलौकिक-देह प्राप्त कर साक्षात् स्वरुपसंबंधी फल प्राप्त होता है, यह अर्थ है । फलरुपभक्ति के स्वरूप को **सर्वतोप्यधिकां** इन वाक्यों से कह रहे हैं । सर्वतः अर्थात् चतुर्विध-मुक्ति की अपेक्षा भी अधिक भक्ति प्राप्त करता है । परा, अगणितानंद-पुरुषोत्तम में पर्यवसित होने वाली भक्ति प्राप्त करता है । इस प्रकार पूर्व में कही गई भक्तिवृद्धि की पूर्णता का फल कह कर एवं पुनः **त्यागेबाधकभूयस्त्वं** कहने का यह आशय है, कि कदाचित् कोई भक्तिमार्गानुवर्ती पूर्व में कहे त्याग के स्वरुप को न जानकर "मैं भी गृहादि को त्यागकर भक्तिवृद्धि को प्राप्त कर लूँगा" यदि ऐसा सोचकर गृहादि को त्याग करने की इच्छा करता है, तो उसका वहाँ निषेध कहने के लिए **त्यागेबाधकभूयस्त्वं** इन शब्दों से कह रहे हैं । उस प्रकार के त्याग में गृहादि-त्याग करने से भक्तिवृद्धि के साधन में बाधकों की बहुलता होने से फल सिद्ध नहीं होता है ।

('पूर्वोक्तप्रकारत्यागिनस्तु वृढं यन्नापि नश्यतीति बाधकाभाव उपपादित एवेति पूर्वोक्त त्यागोत्र न विवक्षितः । तस्मात्पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वं यदुच्यते 'स कदाचित्कश्चिदि'त्यनेन वक्ष्यमाणत्याग एव बाधकभूयस्त्वम् ।') बाधकान्येवाहुः दुःसंसर्गादिति । दुःसंसर्गः स्वस्य पूर्वोक्तत्यागहेतुभूतभावाभावात्सर्वात्मना चित्तस्य भगवदेकपरत्वाभावेन चित्तचाञ्चल्यादुःसङ्गभगवद्भावाभाववतां लौकिकनां सङ्गः सम्भवतीति तस्य बाधकत्वं स्पष्टमेव । अथ च तस्य पूर्वसिद्धगृहादीनां बुद्धिपूर्वकत्यागाभावाच्छरीरनिर्वाहार्थं यत्र कुत्रचिदन्नभक्षणेन तस्यान्नस्य भगवदसमर्पणजनितदोषवत्त्वेन तदन्नभक्षणेन स्वस्यापि बाहिर्मुख्यदोषः सम्भवति । यद्यप्येतादृशस्यापि बाधका दोषा इन्द्रियनिग्रहाभावरूपाः सम्भवन्ति, तथापि दुःसङ्गान्नदोषयोरतिप्रबलत्वादुभावेव गणितौ ॥७॥

पूर्वोक्त प्रकार के त्यागियों का तो बीजभाव कभी न नष्ट होने वाला, सुदृढ़ होने से बाधाओं का अभाव कह ही दिया है । अतः पूर्वोक्त त्याग यहां विवक्षित नहीं है । (अतः पुनः त्याग में जो बाधाओं की बहुल्ता कही जा रही है, वह 'कदाचित्', 'कश्चित्',इन शब्दों से कहे जा रहे त्यागियों के लिए बाधाओं की बहुलता कही गई है) । बाधकों को ही **दुःसंसर्गात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । स्वयं को पूर्वोक्त त्याग में हेतुभूत-भावों का अभाव होने से तथा सभी प्रकार से चित्त की चंचलता के कारण भगवान में भाव न रखनेवाले लौकिक जीवों का संग संभव होने के कारण, उसकी बाधाओं की बहुलता स्पष्ट ही है यहाँ त्याग के हेतुभूत भावों को कहने का तात्पर्य यह है, कि पूर्वोक्त त्याग उस जीव के लिए बताया गया है, जो तादृशी हो अर्थात् उसे कृष्ण का व्यसन हो गया हो या वह कृतार्थ हो गया हो या 'तदर्थार्थैकमानस' हो गया हो । यही सब त्याग करने के हेतु हैं । यदि इन हेतुओं का अभाव है, तो त्याग में बाधकों की बहुलता होगी, यह अर्थ है । एवं

---

१. स्वरुपानुभवं लभत इति पाठः । २. त्यागादिति पाठः । ३. तावेवेति पाठः ।

उसके त्यागी पूर्वसिद्ध गृहादि का बुद्धिपूर्वक त्याग का अभाव होने के कारण, देहनिर्वाह के लिए यत्र-तत्र अन्न ग्रहण करने से, उस अन्न के भगवान को असमर्पित होने से पैदा हुए दोषों के कारण, उस अन्न का भोजन करने से स्वयं को भी बहिर्मुखता का दोष संभव होता है। यद्यपि ऐसे जीव को भी इंद्रियनिग्रह के अभावरूप बाधकदोष संभव होते हैं, तो भी दुःसंग एवं अन्न-दोष के अति प्रबल होने से इन दोनों की ही गणना की गई है ।।७।।

एवं सति तादृशेन दोषाभावपूर्वकं कथं कालनिर्वाहः कार्य इत्याकांक्षायामाहुः अतः स्थेयं हरिस्थान इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ।।८।।

यतः पूर्वोक्तप्रकारस्थितौ दोषसम्भावना अतो दोषाभावपूर्वकं कालनिर्वाहार्थं हरिस्थाने स्वस्य भक्तिमार्गीयत्वात् भक्तिमार्गीयसेवाप्रकारयुक्तभगवत्स्थाने श्रीगोवर्धनादौ स्थेयम् । तत्रापि स्थितिप्रकारमाहुः तदीयैः सह तत्परैरिति । तदीयैर्भगवदीयैः सह स्थेयम् । तत्रापि तत्परैर्भगवत्स्वरूपतत्सेवातच्छ्रवणादिपरैः । एतत्प्रकारकस्थित्यभावे तत्रापि दुःसङ्गेन पूर्वसिद्धबुद्धिनाशसंभवात् जीवनवैयर्थ्यमेव स्यादिति पूर्वोक्तप्रकारेण स्थेयमिति ज्ञापितम् । निरन्तरं तत्प्रकारकस्थित्यसंभवे चित्तदोषाभावार्थं प्रकारान्तरेणापि स्थितिप्रकारमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । अदूरे पूर्वोक्तस्थानात्स्वल्पान्तराये । अथवा विप्रकर्षे ततोपि किञ्चिद्दूरे स्थेयम् । 'तदीयैः सह तत्परैरि'ति स्थितिप्रकारमुक्त्वापि पुन'रदूरे विप्रकर्षे वे'ति यदुक्तं तस्यायमाशयः । अतिनिकटस्थितौ 'अतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन कदाचिद्भगवद्भक्तावज्ञापि संभवति, तदभावायोक्तं 'अदूरे विप्रकर्षे वे'ति । तत्राप्येवमपि स्थित्वा तैः सह सङ्गः कार्य एव, न त्याज्य इत्युक्तं भवति । एवं प्रकारत्रयेण स्थितिप्रकारमुक्त्वापि स्थितिप्रकारनिर्गलितार्थमाहुः यथा चित्तं न दुष्यतीति । अस्यायमर्थः । पूर्वोक्तप्रकारैरथवा स्वमनोभिलषितप्रकारैर्वा यथा च भगवद्बाहिर्मुख्यदोषेण चित्तं न दुष्यति तथा स्थेयम्, न तु प्रकारान्तरेणेत्यर्थः । एवं पूर्वं भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठामुक्त्वा तत्साध्यं फलं चोक्तम् ।।८।।

ऐसा होने पर उस त्यागी जीव द्वारा दोष के अभावपूर्वक कैसे समय व्यतीत करना चाहिए, यह आकांक्षा होने पर अतः **स्थेयं हरिस्थाने** इन वाक्यों से कह रहे हैं।

चूँकि पहले कहे गये प्रकार से रहने पर दोष संभावना है। अतः दोष से दूर रहकर कालनिर्वाह के लिए हरिस्थान में, स्वयं के भक्तिमार्गीय होने से, भक्तिमार्गीय-सेवा-प्रकार से युक्त भगवत्-स्थल, गोवर्धनादि में रहना चाहिए। वहाँ भी रहने के प्रकार को **तदीयैः सह तत्परैः** इन शब्दों से कह रहे हैं। तदीय अर्थात् भगवदीयों के साथ रहना चाहिए। वहाँ भी तत्पर अर्थात् भगवत्-स्वरूप में तत्पर, उनकी सेवा, उनके श्रवणादि में तत्पर होकर रहना चाहिए। वहाँ भी इस प्रकार की स्थिति के अभाव में, दुःसंग से, पहले सिद्ध हुई बुद्धि के नाश की संभावना से जीवन व्यर्थ ही हो जाता है। अतः पूर्व में कहे गये प्रकार गृह में स्थित होकर से रहना चाहिए, यह बताया गया। निरंतर वैसे प्रकार की स्थिति असंभव होने पर चित्त में दोष के अभाव के लिए दूसरे प्रकार से भी रहने का प्रकार **अदूरे विप्रकर्षे** इन वाक्यों से कह रहे हैं। अदूरे अर्थात् पूर्व में कहे स्थान हरिस्थान से थोड़ी दूर पर। अथवा वहाँ से भी थोड़ी और दूर रहना चाहिए। 'तदीयैः सह तत्परैः' ऐसे रहने के प्रकार को कह कर भी पुनः 'अदूरे विप्रकर्षे' जो कहा उसका यह आशय है, कि अति-निकट रहने पर 'अतिपरिचयादवज्ञा' इस न्याय से कदाचित् भगवान के भक्त की अवज्ञा भी संभव होती है। उसे दूर करने के लिए 'अदूरे-विप्रकर्षे' यह कहा गया। वहाँ पर इस प्रकार भी रहकर उनका संग करना ही चाहिए एवं त्यागना नहीं चाहिए, यह कहना उचित है। इस प्रकार, तीन प्रकार से रहने का प्रकार कह कर भी रहने के प्रकार का परिपक्व-अर्थ **यथा चित्तं न दुष्यति** इन शब्दों से कह रहे हैं। इसका यह अर्थ है, कि पूर्व में कहे गये प्रकारों से अथवा स्वमनोभिलषित प्रकार से, जिस प्रकार भगवद्-बहिर्मुख दोषों से चित्त दूषित नहीं होता वैसे रहना चाहिए न कि किसी और प्रकार से, यह अर्थ है। इस प्रकार प्रथम-भक्तिवृद्धि के प्रकार कहकर, वृद्धि की परम-काष्ठता चरमसीमा कहकर एवं उस भक्ति से साध्य फल कहा गया।

तदनन्तरं भक्तिवृद्धिप्रकारमुक्त्वा वृद्धेः परमकाष्ठमुक्त्वा शुद्धपुष्टिसाधनप्रकारमज्ञात्वा गृहं त्यक्त्वा वृद्धिं साधयिष्यामीति प्रवृत्तस्य बाधसंभावनानिराकरणपूर्वकं फलसिद्ध्यर्थं स्थितिप्रकारमुक्त्वा शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीयधर्मद्वयासक्तानामपि एतन्मार्गीयफलसिद्धिर्भवतीति ज्ञापनायाहुः सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ।।९।।

सेवायां शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रकटितप्रकारकसेवायां, तदवशिष्टसमये तन्मार्गीयलीलाकथायां, यस्यासक्तिश्चित्तव्यासङ्गपूर्वको दृढाग्रहो यावज्जीवं भवेत्, तस्य न क्वापि देशकालभेदेनापि तस्य भावस्य नाशो न भवति । स भावस्तस्य फलसाधको भवति । अथवा । विकल्पेनोभयोः

कथनाद्भगवदिच्छया कस्यचित्सेवायामेव दृढासक्तिर्भवति । कस्यचित्तस्य लीलायामेव दृढासक्तिर्भवति । परन्तु सासक्तिर्यावज्जीवमपेक्षिता, न तु यत्किञ्चित्कालम् । तस्येति पदाद्भगवदिच्छया सेवासक्तस्य कथासक्तस्य च क्वापि नाशो न भवति । तन्मार्गीयफलप्राप्तौ अन्तरायो न भवतीति मम मतिर्मदीया मतिः । तेन स्वमते फलविलम्बाभावे हेतुत्वकथनेन फलप्राप्तौ निःसंदिग्धत्वमुक्तम् ।।९।।

इसके पश्चात भक्तिवृद्धि के प्रकार कहकर, वृद्धि की परमकाष्ठा चरमसीमा कहकर, शुद्धपुष्टिसाधन के प्रकार न जानकर "गृह त्याग कर वृद्धि भक्तिकी को साध लूँगा" इस तरह से प्रवृत्त होने वाले जीव की बाधसंभावनाओं के निराकरणपूर्वक, फल की सिद्धि के लिए रहने के प्रकार कहकर शुद्ध-पुष्टिमार्गीय दो धर्म सेवा-कथा में आसक्त रहने वालों को भी इस मार्ग के फल की सिद्धि होती है, इसे बताने के लिए **सेवायां वा कथायां** वा इन वाक्यों से कह रहे हैं ।

सेवा में अर्थात् पुष्टिमार्गीय आचार्यश्री द्वारा प्रकटित सेवा के प्रकार में, उससे सेवा से अवशिष्ट समय में उस पुष्टिमार्ग की लीला-कथा में जिसकी आसक्ति अर्थात् चित्त का व्यासंग पूर्वक दृढ़-आग्रह जीवन पर्यंत होता है, उसका कभी भी देशकालादि के भेद से भी भाव का नाश नहीं होता है । वह भाव उसका फलसाधक होता है । अथवा । विकल्प से दोनों सेवा-कथा कहने से भगवदिच्छा से किसी की सेवा में ही आसक्ति होती है । किसी की लीला में ही दृढ़-आसक्ति होती है । परंतु वह आसक्ति जीवनपर्यंत अपेक्षित है, न कि कुछ काल के लिए । 'तस्य' इस पद से, भगवदिच्छा से सेवा में आसक्त का एवं कथा में आसक्त का कभी भी नाश नहीं होता है । उस मार्ग पुष्टिमार्ग की फलप्राप्ति में अंतराय नहीं होता, यह मेरी मति है । इससे, स्वमत में फलविलंब के अभाव में हेतु कहने से फलप्राप्ति में निःसंदिग्धता कही गई है । समझना चाहिए कि, फल में विलंब न हो अर्थात् उसके अभाव में कारण क्या है ? अर्थात् हेतु क्या हैं ? इस पर उपर कह आए हैं, कि यदि फल में विलंब नहीं करना है, तब उसे प्रभु में आसक्ति जीवनपर्यंत रखनी चाहिए न कि मात्र कुछ समय के लिए ही । यह हेतु यदि समझें, तब तो फलप्राप्ति निःसंदिग्ध ही है अर्थात् उसमें कोई संदेह नहीं है ।

एवं पूर्वश्लोके सेवासक्तयोः फलमुक्त्वा कदाचित्कश्चित् सेवासक्तं कथासक्तं भक्तं दृष्ट्वा स्वयमप्यासक्तिव्यतिरेकेण उत्साहमात्रेण सेवां कर्तुमिच्छति तस्य बाधः संभवति, तत्र बाधस्वरूपं तन्निवारणप्रकारं चाहुः बाधसंभावनायां त्विति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।।१०।।

बाधसंभवे प्रकारान्तरेण बाधाभावव्युदास उक्तस्तुशब्देन । सेवाकरणे दृढ़ासक्त्यभावात् उद्वेगेन भोगासक्त्या वा बाधसंभवे सति स्वस्य सेवाकरणासक्तिजनितग्लान्या मत्तः सेवा न भवतीति मया गृहं त्वक्त्वा एकान्ते भगवन्नामस्मरणादिकं कर्तव्यमिति बुद्ध्या यद्येकान्ते स्थितिं कर्तुमिच्छति, तादृशस्यापि सेवात्यागपूर्वकैकान्तस्थितिरनुचितेति निषेधमाहुः नैकान्ते वास इष्यत इति । सेवांविहाय तस्यैकान्तवासो नेष्टः, सेवाकृतिरेवेष्टा । उद्वेगादिना प्रतिबन्धे कथं सेवाकरणं भवतीति चेत्तत्र समाधानमाहुः हरिस्त्विति । उद्वेगादिकमपि सोढ्वा यदि सेवामेव कुर्यात्तदा भगवान् तस्य सेवाग्रहं दृष्ट्वा स्वस्य सर्वदुःस्वहरणसामर्थ्यं प्रकटीकृत्य सेवाविघातोद्वेगादिकं दूरीकृत्य सेवासंपत्तिमेव कारयेदिति ज्ञापनार्थमुक्तं हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशय इति । 'न संशय' इति कथनाद्यस्मिन्नर्थे संशयं कुर्यात्, तदा भगवानपि रक्षां न कुर्यादितीत्यर्थः । अत एव गीतास्वपि भगवतोक्तं 'संशयात्मा विनश्यती'ति । तस्मादस्मिन्नर्थे निःसन्दिग्धो भूत्वा 'भगवान् रक्षां करिष्यत्ये'वेति बुद्ध्या यदि सेवां कुर्यात्तदा भगवानपि रक्षां करोत्येवेति ज्ञापनायोक्तं 'न संशय' इति । प्रकारान्तरेण रक्षाऽभावज्ञापनाय तुशब्दः । कथापरस्यापि बाधसंभावनायां पूर्वोक्तव्यवस्थेति ज्ञातव्यम् ।।१०।।

इस प्रकार पूर्वश्लोक में 'सेवासक्त' एवं 'कथासक्त' दोनों के फल कहकर, कदाचित्, किसी सेवासक्त कथासक्त भक्त को देखकर स्वत भी आसक्ति बिना सिर्फ उत्साह मात्र से सेवा करने की इच्छा करता है तो उसको बाधा संभव होती है, वहाँ उस बाध का स्वरूप एवं उसके निवारण के प्रकार भी **बाधसंभावनायां** तु इन शब्दों से कह रहे हैं ।

बाधसंभावना होने पर दूसरे प्रकार से बाध के अभाव का निराकरण 'तु' शब्द से कहा गया है । सेवा करने में दृढ़ासक्ति के अभाव से, उद्वेग से, या भोगासक्ति से बाधसंभावना होने पर स्वयं की सेवा करने की असमर्थता से जनित ग्लानि के कारण "मुझसे सेवा नहीं होती है" ऐसी बुद्धि से यदि एकांत में रहने की इच्छा करता है तो ऐसे को भी सेवा के त्यागपूर्वक एकांत में रहना अनुचित है, यह निषेध करने के लिए **नैकान्ते वास इष्यते** इन वाक्यों से कहा । सेवा छोड़कर उसका एकांतवास इष्ट नहीं है, सेवाकृति ही इष्ट है । उद्वेगादि से प्रतिबंध होने पर सेवा कैसे होगी ? यदि यह शंका हो, तो **हरिस्त्विति** इन वाक्यों से समाधान कहते हैं । उद्वेगादि को भी सहन करके यदि सेवा ही करे, तब भगवान उसके सेवा के आग्रह को देखकर स्वयं के सर्वदुःख हरने की सामर्थ्य को प्रकट करके, सेवाविघातक उद्वेगादि दूर करके सेवासंपत्ति का संपादन करेंगे ही, यह बताने के लिए **हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशय** यह कहा गया । 'न संशय' यह कहने से, यदि इस अर्थ में संशय किया, तब भगवान भी रक्षा नहीं करते यह अर्थ है । अतः गीता में भी भगवान ने "संशयात्मा नष्ट होता है" (४/४०) यह कहा है । अतः इस अर्थ में निःसंदिग्ध होकर 'भगवान रक्षा करेंगे ही' इस बुद्धि से यदि सेवा करेंगे, तो भगवान

१. त्यजेदिति पाठः ।

भी रक्षा करेंगे ही, यह बताने के लिए **'न संशयः'** यह कहा। दूसरे प्रकार से रक्षा का अभाव बताने के लिए 'तु' शब्द है। अर्थात् उपर कहे वाक्यानुसार ही प्रभु रक्षा करेंगे, दूसरे प्रकार से नहीं। दूसरे प्रकार से रक्षा का अभाव है अर्थात् रक्षा करने का इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रकार नहीं है, यह अर्थ है। कथापर को भी बाधसंभावना में पूर्व में कही गई व्यवस्था समझनी चाहिए ॥१०॥

एवं स्वमार्गीयभक्तिप्रवृद्धिप्रकारमुक्त्वा तस्योपसंहारमाहुः इतीति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥११॥

इतीति समाप्तौ। एवमुक्तप्रकारेण भगवतः पुरुषोत्तमस्य भक्तिवृद्धिशिक्षाप्रकारकं शास्त्रं निरुपितं प्रतिपादितमित्यर्थः। शास्त्रस्वरुपमाहुः गूढतत्त्वमिति । गूढमत्यन्तं गुप्तं तत्त्वं वागविषयमनुभवैकवेद्यं स्वरुपं यस्य तादृशं निरूपितं प्रतिपादितमित्यर्थः । एवं शास्त्रस्वरूपं निरूप्यैतदध्ययनकर्तुरपि यथैतन्मार्गीयं फलं सिध्यति तत्प्रकारकमध्ययनस्वरूपमाहुःय एतदिति। य इति सामान्योक्त्या नात्र वर्णाश्रमादिनियम उक्तः । एतद् भक्तिबर्धिनीरूपं शास्त्रं समधीयीतेति । अध्ययने सम्यक्त्वोक्त्या न केवलं पाठमात्रकरणम्, किन्तु प्रतिपदमर्थाभिप्रायविचारपूर्वकमध्ययनमुक्तम्। एवं विचारपूर्वकाध्ययनकरणे तत्प्रतिपाद्यार्थनिरन्तरानुसन्धानादन्तःकरणदोषनिवृत्त्या तन्मार्गस्वरुपस्य हृदि स्फुरणात्तन्मार्गस्य पुरुषोत्तमैकपरत्वात् तद्द्वारा स्वस्यापि तत्स्फूर्तौ भक्तिमार्गीयाचार्यङ्गीकारस्य सिद्धत्वात् तादृशस्यापि सुदृढ़ा अत्यन्तं निश्चला रतिः रसभावयुक्तस्नेहो भवतीत्यर्थः ॥११॥

इस प्रकार स्वमार्गीय भक्तिवृद्धि के प्रकार को कहकर उसका उपसंहार इति शब्द से कह रहे हैं।

'इति' समाप्ति अर्थ में है। इस प्रकार, कहे गये प्रकार से भगवान पुरुषोत्तम की भक्तिवृद्धि की शिक्षाप्रकार बतलाने वाला शास्त्र निरुपित अर्थात् प्रतिपादित किया गया, यह अर्थ है। **गूढतत्त्वं** इन शब्दों से शास्त्र का स्वरुप कह रहे हैं। गूढ, अत्यंत गुप्त तत्व, जो वाणी से न कहा जा सके, केवल अनुभव से जाना जा सके, ऐसा जिसका स्वरुप है, वह शास्त्र निरुपित अर्थात् प्रतिपादित किया, यह अर्थ है। इस प्रकार शास्त्रस्वरुप निरुपण करके, इसका अध्ययन करने वाले को भी जिस प्रकार इस मार्ग का फल सिद्ध होता है उस प्रकार के अध्ययन का स्वरुप **यःएतत्** इन शब्दों से कह रहे हैं। 'य' इस शब्द को सामान्यतया कह कर यहाँ वर्णाश्रम आदि नियम नहीं कहे गये। यह भक्तिवर्धिनीरुप-शास्त्र अच्छी तरह से अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन में सम्यक्रुप से कहकर न केवल पाठ करने के लिए कहा परंतु प्रत्येक पद के अर्थ का अभिप्राय विचारपूर्वक अध्ययन करने के लिए कहा गया। इस प्रकार विचारपूर्वक अध्ययन करने पर उसमें प्रतिपादित-अर्थ के निरंतर अनुसंधान से, अंतःकरण-दोष की निवृत्ति द्वारा, उस मार्ग के स्वरूप का हृदय में स्फुरण होने से, उस मार्ग के पुरुषोत्तम में एकपर होने से उसके द्वारा स्वयं को भी पुरुषोत्तम की स्फूर्ति होने पर, भक्तिमार्गीय-आचार्य के अंगीकार के सिद्ध होनेसे, वैसे को भी अत्यंत निश्चल, सुदृढ़-रति, रसभावयुक्त स्नेह होता है, यह अर्थ है ॥११॥

पितृपादनखालोकप्रकाशितधिया मया । स्वाचार्यचरणाख्येन विवृता भक्तिवर्धिनी ॥१॥
कृपया पितृपादाब्जैर्दत्ता मे यादृशी मतिः । तन्मया विवृतं भक्तिवृद्धिशास्त्रं सुदुर्लभम् ॥२॥
यद्यपीश्वरवाक्यानि दुर्बोधानि सदा स्वतः । तत्कृपातो यथाबोधं विवृतानि न चान्यथा ॥३॥
बुद्धिदोषेण यद्यत्र व्याकृतौ चेद्विपर्ययः । क्षमन्त्वाचार्यचरणाः स्वकीयेषु दयालवः ॥४॥
श्रीवल्लभेन रचिता या विवृतिर्भक्तिवर्धिन्याः । चित्रं समस्ते लोके संजाता भक्तिवर्धिनी सापि ॥५॥

इति श्रीपितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।

पितृचरणों के नख रुपीचंद्रमा के आलोक से प्रकाशित बुद्धि द्वारा ।
स्वाचार्यचरण के नामवाली भक्तिवर्द्धिनी की विवृति मेरे द्वारा की गई ॥१॥

पितृचरणकमलों की कृपा से दी गई जैसी मेरी मति है ।
वह मैंने सुदुर्लभ भक्तिवृद्धिशास्त्र विवृत किया ॥२॥

यद्यपि ईश्वरवाक्य स्वतः सदा दुर्बोध होते हैं ।
तथापि उनकी कृपा से यथामति विवृत किए, अन्यथा नहीं ॥३॥

यदि बुद्धिदोष से जो/जहाँ विपरीत व्याख्या हो गई हो
तो स्वकीयों में दयालु आचार्यचरण क्षमा करें ॥४॥

श्रीवल्लभ द्वारा रचित इस भक्तिवर्द्धिनीविवृति से ।
समस्त लोक में आश्चर्य हुआ एवं 'भक्तिवर्द्धिनी' भक्ति की वर्धक हो गई ॥५॥

एक श्री पितृचरणनिष्ठ श्रीवल्लभविरचित भक्तिवर्द्धिनीविवृति समाप्त हुई ।

१. अयं श्लोकः पाश्चात्यः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीमद्रघुनाथकृतविवृतिसमेता ।

वन्दे वृन्दावने वृन्दैर्गोपीनां वेष्टितं मुदा । हरिणीभिः कृष्णसारमिवाभातं तदीक्षणम् ।।१।।
अपारदुःस्वदावाग्निदग्धजीवनमीक्षितम् । यस्य तं यामि शरणं विट्ठलेशमहं सदा ।।२।।

अथ केनचित्परमपुण्येन प्राप्तमहापुरुषानुग्रहाद्भक्त्यङ्कुरितचित्तस्य कदाचिदन्तरासंभावितत्तद्भङ्गस्याभावाय भक्त्युद्रेकोपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

हरिणियों द्वारा घिरे हुए काले मृग की भाँति, वृंदावन में गोपीवृंद से घिरे उनके नेत्रों से
आभासित प्रभु को मैं प्रसन्नता से वंदन करता हूँ ।।१।।
अपारदुःख की दावाग्नि से दग्ध को दृष्टि से जीवन प्रदान करनेवाले
श्री विट्ठलेश की मैं सदा शरण लेता हूँ ।।२।।

अब किसी परमपुण्य द्वारा प्राप्त महापुरुष के अनुग्रह से, भक्ति-अंकुरित चित्तवालों को, कदाचित् मध्य में उस भक्ति के भंग होने के अभाव के लिए, भक्ति की अधिकता के उपाय निरूपण करने की प्रतिज्ञा **यथा** इन शब्दों से कर रहे हैं । अर्थात टीकाकार कह रहे हैं, कि महापुरुष अर्थात् आचार्यचरणों द्वारा जीव के चित्त में भक्ति का अंकुर तो फूट गया परंतु फलात्मक अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते कहीं मध्य में ही वह भंग न हो जाय, तदर्थ भक्तिवर्धन के उपाय निरुपण किए जा रहे हैं ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरुप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ।।१।।

यथा येनोपायाचरणप्रकारेण भक्तिः पूर्वोक्तेन हेतुना अङ्कुरतां प्राप्य स्थिता सती प्रवृद्धा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता च स्वकार्यकरणक्षमा स्यात् भवेत्, तथा तेनैव प्रकारेण उपायः साधनं निरुप्यते, सोपपत्तिकं कथ्यत इत्यर्थः । अत्रायं भावः । यथा अन्तःस्थितबीजे क्षेत्रादौ सेचनादिबाह्योपायकरणं सफलं भवति, नानुप्तबीजे, एवमत्रापि भक्तिस्पृष्टान्तःकरणस्यैवैतदुच्यमानसाधनप्रवृत्त्यधिकारो, नान्यस्येति । इममेवार्थमुद्दिश्याग्रेप्याहुः बीजभावे दृढे तु स्यादिति । उक्तभक्तिप्रवृद्धिः कदेत्यपेक्षायां बीजभावे दृढे सम्पन्ने स्यात् । कुत इत्यपेक्षायां त्यागात् भगवदतिरिक्तविषयत्यागात् । श्रवणं च कीर्तनं च एकवद्भावात् श्रवणकीर्तनादित्येकवचनम् । ननु को नाम बीजभावः । उच्यते । भक्त्यसाधारण कारणं बीजमित्युच्यते । तच्च महदनुग्रहरुपम् । तस्य भावः सद्भावः तस्य दार्ढ्यं निश्चयः । यद्वा । बीजपदेन भगवानुच्यते । तस्मिन् भावस्तद्विषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धिः, भगवानेवाश्रयणीयो, नान्य इत्येवंरूपा । दार्ढ्यं तदनन्तर्हितत्वम् । तुशब्दः प्रसिद्धौ । तथैव वक्ष्यन्तीति च । 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यती'ति ।।

जिस प्रकार, जिस उपाय के आचरण के प्रकार से भक्ति पूर्व में कहे हेतु से अंकुरता को प्राप्त कर, स्थित होकर अच्छी तरह से वृद्धि को प्राप्त कर स्वकार्य करने में सक्षम हो जाय, वैसे, उन्हीं प्रकार से उपाय-साधननिरुपण प्रमाणसहित कह रहे हैं, यह अर्थ है । यहाँ यह भाव है, कि जिस प्रकार खेत में, अंतःस्थित बीज में सेचनादि बाह्य-उपाय करना सफल होता है, अनुप्त न वोए हुए बीज में नहीं । उसी प्रकार यहाँ भी जिनके अंतःकरण को भक्ति ने स्पर्श कर लिया है, उसी के लिए यह कहे साधन-प्रवृत्ति का अधिकार है अन्य का नहीं । इसी अर्थ को उद्दिश्य कर आगे भी **बीजभावे दृढ़े तु स्यात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । कही गई भक्ति प्रवृद्ध कब होगी ? यह आकांक्षा होने पर कह रहे हैं कि बीजभाव की दृढ़ता संपन्न होने पर होगी । कैसे होगी ? यह आकांक्षा होने पर **त्यागात्** अर्थात् भगवान के अतिरिक्त विषयों के त्याग से होगी । श्रवण एवं कीर्तन का समान भाव होने से श्रवणकीर्तन में एकवचन है ।यहां शंका करते हैं, कि बीजभाव किसे कहते हैं ? कह रहे हैं । भक्ति का असाधारण कारण 'बीज' कहा जा रहा है । एवं वह बीज महद्-अनुग्रहरुप है । उसका महद्-अनुग्रह भाव, सदभाव है, उसकी बीज की दृढ़ता अर्थात् निश्चय है । अथवा । बीजपद से भगवान कहे जा रहे हैं । उनमें भाव, उनके विषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धि है । इस पंक्ति में 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' शब्द आया है, यही बात भगवद्गीता (२/४१) में भी कही गई है । विशेष जानकारी के लिए देखें । "भगवान ही आश्रय करने योग्य हैं, अन्य नहीं" ऐसे रुप वाली बुद्धि । 'दृढ़ता' अर्थात् उसका अंतर्हित लुप्त न होना है । 'तु' शब्द प्रसिद्धि अर्थ में है । अर्थात् यह बात लोक में प्रसिद्ध ही है, यह अर्थ है । एवं वह ही **बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति** इन वाक्यों से कहेंगे ।

मर्यादामार्गीयाणां गृहस्थानां बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः **बीजदार्ढ्यप्रकार**स्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ।।२।।
व्यावृत्तोपि हरौ चित्त श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ।।३।।
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्यादृहारुचिः ।।४।।
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ।।५।।
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

गृहे स्थित्वा कृष्णं भजेदित्यन्वयः । कथं केनेत्याकांक्षाद्वयप्राप्तावाद्यायां स्वधर्मतः स्वस्य यो धर्मः श्रुत्याद्युक्तो वर्णाश्रमधर्मः तत्सहितः सन् अव्यावृत्तो भगवद्भजनविरुद्धो लोकवेदधर्मव्यासङ्गो व्यावृत्तिस्तद्रहितः सन्नित्यर्थः । केनेत्याकांक्षायां पूजया श्रवणादिभिरिति योज्यम् । अत्र प्रत्येकसमुदायाभ्यां पूजादिकं ग्राह्यम् । तत्र पूजा वेदपुराणोक्ता ग्राह्या । ऋग्विधानाद्युक्तपुरुषसूक्तादिभिर्या सा वैदिकी । आगमपुराणाद्युक्तान्या । श्रवणं तु श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासरामायणादिवाक्येभ्य एव । आदिपदेन चिन्तनलीलानुकरणादिकं ज्ञेयम् । सर्वापेक्षया श्रवणस्य प्राधान्यं ज्ञेयम् । अत एवं महाभारते श्रूयते 'सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् । न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथे'ति । व्यावृत्तिरहित्येन भजनासम्भवे उपायान्तरमाहुः व्यावृत्तोपीति । व्यासक्तोपि सन् हरौ त्रिविधदुःस्वहरणशीले चित्तं विधाय पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत् यत्नं कुर्यादित्यर्थः । यतेदिति परस्मैपदं नामधातुना ज्ञेयम् । भगवच्चरणारविन्दयोश्चित्तं संस्थाप्य बाह्यश्रवणादौ कृतस्य यत्नस्य निःफलत्वेपि न स्वार्थहानिरिति भावः । अत एवैतद्वचनमपि 'क्रियासु यत्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते' इति । हरौ चित्तमित्यनन्तरं क्रियापदमध्याहृत्याग्रे योजनीयम् । सदेत्येतदुभयत्र सम्बध्यते ।

मर्यादामार्गीय गृहस्थों के बीज की दृढ़ता का प्रकार **बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

गृह में स्थित होकर कृष्ण को भजना चाहिए, यह अन्वय है । कैसे ? किसके द्वारा ? यह दो आकांक्षा प्राप्त होने पर प्रथम आकांक्षा को **स्वधर्मतः** इन शब्दों से कह रहे हैं । श्रुति आदि में कहा स्वयं का जो वर्णाश्रमधर्म है, उनके सहित अव्यावृत्त होता हुआ, भगवद्-भजनविरुद्ध लोकवेदधर्म से व्यासंग अर्थात् व्यावृत्ति रहित होकर भजना चाहिए यह अर्थ है । किसके द्वारा ? इस आकांक्षा में 'पूजा-श्रवणादि द्वारा' यह योजित करना चाहिए । यहाँ प्रत्येक समुदाय में पूजादि को ग्रहण करना चाहिए । वहाँ पूजा, वेदपुराणों में कही ग्रहण करनी चाहिए । वह पूजा ऋग्विधानादि, पुरुषसूक्तादि में कही वैदिकी है । आगम वेद पुराणों में कही पूजा अन्य है । श्रवण तो श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास-रामायणादि के वाक्यों द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए । 'आदि' पद से चिंतन-लीलानुकरण-आदि समझने चाहिए । सभी की अपेक्षा श्रवण की प्रधानता समझनी चाहिए । अतएव महाभारत में, ''सभी आश्रमों में गमन, सभी तीर्थों का अवगाहन वैसा फल नहीं देता, सौते सूत जी जैसा नारायण कथा में है'' यह सुना जाता है । व्यावृत्ति रहित होने से भजन असंभव होने पर **व्यावृत्तोपि** इन शब्दों से दूसरा उपाय कह रहे हैं । व्यासक्त होने पर भी त्रिविधदुःस्वहरणशील हरि में चित्त लगाकर, पूर्व में कहे श्रवणादि में यत्न करना चाहिए, यह अर्थ है । **यतेत्** शब्द को परस्मैपद नामधातु से जानना चाहिए । भगवच्चरणारविंदों में चित्त को संस्थापित कर बाह्यश्रवणादि में किए यत्न के निष्फल होने पर भी स्वयं की हानि नहीं है, यह भाव है । अतः ''क्रिया द्वारा तुम्हारे चरणारविंदो में जिसका चित्त आविष्ट है'' (श्री.भा. १०/२/३७) ऐसे वचन भी हैं । **हरौ चित्तं** इसके अनंतर क्रियापद यतेत् का अध्याहार करके आगे जोड़ लेना चाहिए । 'सदा' पद दोनों स्थानों पर संबंधित है अर्थात् हरि में एवं श्रवणादि से संबंधित है, यह अर्थ है ।

एवंकृते यद्भवति तदाहुः तत इति । प्रेम स्नेहः । आसक्तिस्तद्विना स्थातुमशक्तिः । व्यसनं स्वभावत एव तद्वार्तादिरुचिर्नान्यप्रेरणतः । इदं सर्वं यदा भवेत्सम्पद्यते तदेतत् त्रितयसम्पत्तिरुपशास्त्रे भवगच्छास्त्रे दृढं बीजमिति व्यवह्रियते । दार्ढ्यमेव स्पष्टीक्रियते यत्नापि नश्यतीति । प्रेमादीनामसाधारणं तत्तत्कार्यमाहुः स्नेहादिति । रागी भगवदतिरिक्तविषयकः । गृहारुचिरिति । गृहे अरुचिरनासक्तिः । गृहस्थानामिति । गृहविषयकरागाद्यभावे स्त्रीपुत्रादिपोषणसम्भवरुपदोषोद्भावनेनाविवेकिनां गृहस्थानां परमपुरुषार्थसाधकयोरप्यनयोर्धर्मयोर्बाधकत्वमेव भासते । अनधिकारित्वात् अनात्मत्वं चेति । आत्मनो भाव आत्मत्वम् । भावपदेन स्वाभाविकधर्म उच्यते । तेन नायमात्मनः स्वधर्म इत्येवं भासते । वस्तुतस्तु ज्ञानं तेषां नास्तीति ज्ञापनार्थं भासत इत्युक्तम् । व्यसनकार्यमाहुः यदा स्यादिति । यस्मिन्काले स्वभावतो यत्किञ्चित्क्रियमाणमपि भगवद्विषयकमेव स्फुरति, तदा किं वक्तव्यं कृतार्थतायामित्यर्थः ।

ऐसा करने पर जो होता है, उसे **तत** इन शब्दों से कह रहे हैं । प्रेम अर्थात् स्नेह । **आसक्ति** अर्थात् उनके भगवान के बिना रहना अशक्य होता है । व्यसन अर्थात् स्वभाव से ही अन्यत्र प्रेरित न होकर उनकी भगवान की वार्तादि में रुचि है । टीकाकार कह रहे हैं, कि भगवान में व्यसन स्वभाव से ही होता है, वह व्यसनवाला जीव अन्यत्र कहीं से प्रेरित न होकर, स्वभावतया प्रभु में ही प्रेरित होता है । इसे विशेष समझने के लिए श्रीमद्-भागवत् का प्रहलाद-प्रसंग (७/५/२८) देखें । हिरण्यकशिपु ने प्रहलाद के गुरुजनों पर क्रोध किया, क्योंकि उसने प्रभु की स्तुति गायी । उसने इसके लिए प्रहलाद के गुरुजनों को दोषी ठहराया । किंतु गुरुजन कहते हैं, कि प्रहलाद न हमारे कहे को कह रहा है न अन्य किसी के । यह तो उसकी नैसर्गिक अर्थात् प्रकृतिजन्यबुद्धि है जिसके कारण वह स्वभाव से ही प्रभुभक्तिमय है । यह सभी जब संपादित हो, तब यह त्रिसंपत्तिरुप प्रेम-आसक्ति-व्यसन भगवद्-शास्त्र में दृढ़ बीजभाव से संपादित होता है । दृढ़ता ही **यत्नापि नश्यति** इन शब्दों से स्पष्ट की जा रही है । प्रेमादि के उन-उन असाधारण कारणों को **स्नेहात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । **राग** अर्थात् भगवद्-अतिरिक्त विषय में राग का विनाश हो जाता है । यहाँ टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं, कि भगवान में स्नेह हो जाने से, भगवान के अतिरिक्त अन्य विषयों में राग का विनाश हो जाता है । **गृहारुचि** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । गृह में अरुचि अर्थात् अनासक्ति । गृह में रहनेवालों में अनासक्ति । **गृहस्थानां** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । गृहविषयक रागादि के अभाव में स्त्रीपुत्रादिपोषण-असंभवरुप दोषों के उद्भव होने से अविवेकी गृहस्थों को परम-पुरुषार्थ के साधक ये धर्म बाधकत्व ही भासित होते हैं । एवं अनधिकारी होने से अनात्मत्व भासित होता है । आत्मा का भाव आत्मत्व है । 'भाव' पद से स्वाभाविक धर्म कहे जा रहे हैं । इससे ये "ये आत्मा के स्वधर्म नहीं हैं" ऐसा भासित होता है । वास्तव में तो उनमें ज्ञान नहीं है, यह बताने के लिए 'भासित होता है' यह कहा । व्यसन का कार्य **यदा स्यात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । जिस कालमें, स्वभाव से, जो कुछ भी किया जाता हो, जब वह भगवद्-विषयक ही स्फुरित होता है, तब जीव की कृतार्थता में क्या कहना ? यह अर्थ है ।

हिशब्दः प्रह्लादादौ प्रसिद्धिद्योतनार्थः । प्रह्लादस्यैवंविधत्वं विष्णुपुराणे श्रूयते । 'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पत्वि'ति । तादृशस्यापीति । उक्तस्नेहादिमतोपि गृहस्थस्य गृहरुपं स्थानं सततं सर्वदैव विनाशकं विनाशहेतुः । स्नेहादिसम्पत्तेः पूर्वमेव विनाशकत्वेपि तत्सम्पत्त्यनन्तरं तथा न भविष्यतीति मनसि गृहस्थैर्न धार्यमिति भावः । अत्र विनाशकत्वं प्रतिबन्धकत्वमेव । यद्वा । तादृशस्यापि सततं गृह एव स्थानं स्थितिरिति । ईदृशगृहस्थेन मध्ये मध्ये भगवद्भक्तपुण्यक्षेत्रनद्यायतनेष्वटनं कार्यम् । न तु गृहमात्रैकस्थितिशीलतया भाव्यमिति भावः ।।६।।

'हि' शब्द प्रहलादादि की भक्ति की प्रसिद्धि बताने के लिए है । "जैसे किसी अविवेकी मनुष्य की विषयों में अनपायिनी प्रीति होती है, वह प्रीति तेरा स्मरण करके मेरे हृदय में बस जाय एवं कभी न निकले (१/२०/१९)" इस प्रकार का प्रहलाद का ऐसा विधान विष्णुपुराण में सुना जाता है । **तादृशस्यापि** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । कहे हुए स्नेहादि से युक्त गृहस्थ को भी 'गृहरूप स्थान' सतत-सर्वदा विनाशक अर्थात् विनाश का ही हेतु होता है । यहाँ सर्वप्रथम "स्नेहादि की संपत्ति के पूर्व में ही विनाशक" यह कहा गया है अर्थात् यदि भगवान से स्नेह न हो, तो वह स्थिति जीव की विनाशक होती है, क्योंकि तब उसे लौकिक गृह आदि में राग हो जायेगा । यहाँ पहले कह चुके हैं, कि भगवान में स्नेह होने से गृह में राग का विनाश हो जाता है । अब यहाँ टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं, कि भगवान में एक बार स्नेह हो जाने पर एवं गृह से राग का विनाश हो जाने पर भी, भविष्य में कोई प्रतिबंध अथवा विनाशकत्व न आए, ऐसा आवश्यक नहीं है । अतः तादृशी गृहस्थ को निश्चिंत होकर नहीं बैठ जाना चाहिए । ऐसी स्थिति होने पर क्या करना चाहिए, यह आगे कह रहे हैं । स्नेहादि की संपत्ति के पूर्व में ही विनाशक होने पर उस संपत्ति अर्थात् भगवान में स्नेह की संपत्ति के पश्चात वैसा विनाश नहीं होगा, यह गृहस्थों को मन में धारण नहीं करना चाहिए, यह भाव है । यहाँ विनाशकत्व से प्रतिबंध ही कहा जा रहा है । अथवा । तादृशी का भी सतत गृह ही रहने का स्थान है । वैसे गृहस्थ को बीच-बीच में भगवद्-भक्त, पुण्यक्षेत्र, नदी-स्थलों पर अटन करना घूमना चाहिए । न कि मात्र गृह में ही स्थित होकर शीलताभाव द्वारा रहना चाहिए, यह भाव है ।

पूर्वं गृहस्थितस्यैव श्रवणाद्युक्तमिदानीं तस्य बहुप्रतिबन्धकत्वानुसन्धानेन समीहितासिद्धिमाशङ्क्य निःप्रत्यूहोपायमाहुः त्यागं कृत्वेति । लभेतेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ।।६।।
लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाऽऽतः ।।७।।

यः पुरुषः सकलदुःस्वाकरगृहत्यागं कृत्वा पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत्, सः सुदृढामत्यन्तदृढामन्यैः प्रतिबन्धसहस्रैरप्यतिरस्कृताम् । सर्वतोपि ज्ञानादिभ्योप्यधिकामधिकफलदायिनीं परां भगवत्प्राप्तेश्चरमकारणभूतां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः । तं विशदयन्ति तदर्थार्थैकमानस इति । स भगवानेवासावर्थश्च तदर्थः, अर्थः प्रयोजनं उद्देश्यमिति यावत् । स चासावेकश्चार्थः । तदर्थः स एवार्थैकः, तदर्थार्थैकः, तस्मिन्मानसं मनो यस्येति । एवंविधः सन् यतेदिति पूर्वेणान्वयः । यतेदिति घञर्थे कं कृत्वा पश्चात् नामधातुत्वात्परस्मैपदं ज्ञेयम् ।

पूर्व में गृहस्थित को ही श्रवणादि कहा; अब उसके गृह के बहुप्रतिबंधकत्व के अनुसंधान से ध्यानपूर्वक भक्तिकी असिद्धि की आशंका कर, निर्विघ्न उपाय **त्यागं कृत्वा** इन शब्दों से कह रहे हैं । **लभेत** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं ।

जो पुरुष सभी दुःस्वाकरगृह दुःस्वों से भरा हुआ त्याग करके पूर्व में कहे श्रवणादि में यत्न करता है, वह सुदृढ़, अत्यंत दृढ़, अन्य हजारों प्रतिबंधों से भी अतिरस्कृत, सभी से, ज्ञानादि से भी अधिक परमफलदायिनी, भगवद्प्राप्ति में चरमकारणभूता भक्ति को प्राप्त करता है, यह अर्थ है । उसे **तदर्थार्थैकमानसः** इन शब्दों से स्पष्ट कर रहे हैं । वह भगवान ही हैं अर्थ अर्थात् 'तदर्थ', अर्थः अर्थात् प्रयोजन अथवा उद्देश्य । एवं वह एक 'अर्थ' है । 'तदर्थ' अर्थात् वही एक अर्थ, 'तदर्थार्थैक' अर्थात् उन भगवान में एक मन जिसका है, वह तदर्थार्थैकमानस है । ''इस प्रकार होकर प्रयत्न करना चाहिए'' यह पूर्व से अन्वय है । 'यतेत्' का अर्थ होता है ''प्रयत्न करना चाहिए'' । यहाँ जो 'पूर्व से अन्वय है' यह कहा, उससे टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं, कि पूर्व के तीसरे श्लोक व्यावृत्तोपि..... से लेकर छठे श्लोक तदर्थार्थैकमानस..... तक हर स्थान पर 'यतेत्' जोड़ देना चाहिए । अर्थात् जो-जो उपदेशात्मक बातें कहीं, जैसे ''हरि में चित्त लगाना चाहिए'' आदि-आदि वहाँ हर तरफ जीव को प्रयत्नशील रहना चाहिए, यह अर्थ है । 'यतेद्' पद 'घञ्' अर्थ में 'क' प्रत्यय लगा कर पश्चात् नामधातु से परस्मैपद जानना चाहिए ।

ननु त्यागरूपोपाये विद्यमाने किमन्योपायकथनमित्यत आहुः त्याग इति । त्यागसिद्धौ सर्वं सुकरम् । सैव तु नोपपद्यते । तत्र हेतुः । बाधकानां प्रतिबन्धकानां भूयस्त्वं बाहुल्यादित्यर्थः । तत्र हेतुः दुःसंसर्गात् । दुष्टांना भगवद्बहिर्मुखाणां यः संसर्गः सम्बन्धः शारीरादिस्तस्मादित्यर्थः । तथैवान्नतः दुष्टादन्नादित्यर्थः । अन्नदोषास्तु पञ्चमहायज्ञाकरणाद्भगवदनिवेदनाच्चोद्भवन्तीति ज्ञेयम् । श्रुतिरपि 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः । सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य । नार्यमाणं पुष्यति नो सख्यायं केवलाघो भवति केवलादी'ति । अर्थस्तु अप्रचेताः मूढः मोघं व्यर्थमन्नं विन्दते प्राप्नोति । यतः सो अन्नलाभस्तस्य वध एव । इदं तु सत्यमेवाहं ब्रवीमि । न मृषेत्यर्थः । किञ्च । अर्यमाणं सूर्यं न पुष्यति, देवयज्ञाकरणात् । उपलक्षणमेतत्, देवतामात्रमपि । सख्यायं अतिथिं नो न पुष्यति, मनुष्ययज्ञाकरणात्, किन्तु स्वयमेव अश्नाति, अतः केवलादी पुमान् केवलाघ एव भवति । तदन्नं नात्ति, किन्तु पापमत्तीत्यर्थः । इममर्थं भगवानप्याह 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः । भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणा'दिति । अनिवेदितभक्षणेपि दोषः श्रूयते । 'अम्बरीष नवं वस्त्रं फलं अन्नाद्यमौषधम् । अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी'ति पुराणान्तरे ॥७॥

यहाँ शंका करते हैं, कि त्यागरुप उपाय विद्यमान होने पर अन्य उपाय क्यों कहा ? इसे **त्याग** इन शब्दों से कह रहे हैं । त्यागसिद्धि होने पर सभी आसान है । वही त्याग तो उपपादित नहीं होता है । समझना चाहिए, कि एक बार त्याग सिद्ध हो जाय, फिर सभी कुछ सरल हो जाता है । क्योंकि तब उसे संसारासक्ति प्रभु से विमुख नहीं कर सकती परंतु वही त्याग हो पाना कठिन है । क्योंकि विना विचारे किए त्याग से बड़ी बाधाएँ आती हैं, यह आगे कह रहे हैं । उसका हेतु कह रहे हैं । त्याग में बाधाओं की, प्रतिबंध की बहुलता होने से, यह अर्थ है । वहाँ हेतु **दुःसंसर्गात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । दुष्टों के, भगवद्-बहिर्मुखों के शरीरादि का जो संसर्ग अर्थात् संबंध है, उससे प्रतिबंध होते हैं । उसी प्रकार अन्न से - दुष्ट अन्न से प्रतिबंध होते हैं । यह अर्थ है । अन्नदोष तो पञ्चमहायज्ञ न करने एवं भगवान को निवेदित न करने से पैदा होता है, यह जानना चाहिए । श्रुति भी ''मूर्ख व्यर्थ अन्न को प्राप्त करते हैं । सत्य कहता हूँ, वह उसका वध है । केवल स्वयं खाने वाला केवलादी सूर्य को, हमें, सख्या को पोषित नहीं करता, केवल पाप का भक्षण करता है'' इस प्रकार कहा है । अर्थ तो यह हुआ कि मूर्ख अप्रचेता व्यर्थ में अन्न प्राप्त करता है । क्योंकि वह अन्नप्राप्ति उसका वध ही है । यह तो मैं सत्य ही कहता हूँ, मिथ्या नहीं, यह अर्थ है । एवं । सूर्य को देवयज्ञ न करते से पोषित नहीं करता । यह उपलक्षण है, देवताओं को भी नहीं । अतिथि को, हमें, मनुष्ययज्ञ न करने से पोषित नहीं करता, किंतु स्वयं ही खाता है । अतः केवल स्वयं खाने वाला केवल पाप ही करता है । वह अन्न नहीं खाता, किंतु पाप ही खाता है, यह अर्थ है । इसी अर्थ को भगवान ने भी ''यज्ञ से बचे अन्न का भोजन करने वाले भगवद् भक्त सब पापों से मुक्त हो जाते हैं, पर जो स्वयं के लिए भोजन बनाते हैं, वे पाप ही खाते हैं (भ.गी.३/१३)'' इन वाक्यों के द्वारा कहा है । अनिवेदित-अन्न के भक्षण में भी दोष सुना जाता है । ''हे अंबरीष ! नये वस्त्र, फल, अन्न, औषधि हरि को निवेदित न कर सात जन्मों का नर्क भोगता है, यह पुराणों में कहा है ।

त्यागस्याशक्यत्वं उक्त्वा सुशक्योपायमाहुः अत इति

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥८॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥९॥

उक्तहेतोर्हरिस्थाने भगवदधिष्ठितप्रदेशे तत्परैर्भगवदेकपरैः तदीयैर्भगवदीयैर्भक्तैः सह अदूरे नैकट्यं यथा स्यात्तथा स्थेयमित्यर्थः । अतिनैकट्यासम्भवे विप्रकर्षे वा, किञ्चिद् दूरेपि स्थेयम्, नत्वतिदूर इति भावः । नन्वेवं स्थितौ कियत आहुः यथेति । येन प्रकारेण स्थितिरुक्ता

तथाकरणे चित्तमन्तःकरणं न दुष्यति, न दोषग्रस्तं भवतीत्यर्थः । एवं भगवदीयैः सह स्थितौ यस्य परमभाग्यवतः सेवायां स्वशरीरसाध्ये भगवद्भ-जने कथायां तद्गुणश्रवणे वा आसक्तिः तद्विहाय स्थातुमशक्तिः दृढा निश्चला भवेत् तस्य पुंसो यावज्जीवं आदेहपातं क्वापि कस्मिंश्चिद्देशे काले वा नाशः अन्यथाभावो न भवतीति । अस्मिन्नर्थे मम मतिः सम्मतिरेवेत्यर्थः । वाशब्दावन्योन्यं समुच्चिनुतः ।। ८ ।। ९ ।।

त्याग की अशक्यता कहकर सुशक्य उपाय **अतः** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

कहे हेतु चित्त में दोष के हेतु से में भगवद्-अधिष्ठित प्रदेश में, तत्पर, भगवद्-एकपर तदीय, भगवद्-भक्तों के साथ दूर या निकट जैसे हो, वैसे रहना चाहिए । अति-निकट असंभव होने पर थोड़ी दूर भी रहना चाहिए, न कि अति-दूर, यह भाव है । इस प्रकार कैसे रहना ? यह शंका होने पर **यथा** इन शब्दों से कह रहे है । जिस प्रकार से रहना कहा, वैसा करने पर चित्त/अंतःकरण दूषित नहीं होता है, दोषग्रस्त नहीं होता, यह अर्थ है । इस प्रकार भगवदीयों के साथ रहकर, जिसका परमभाग्य से सेवा में, स्वशरीरसाध्य भगवद्- भजन में, कथा में या उनके भगवान के गुणश्रवण में उनके बिना रहना अशक्य हो, ऐसी आसक्ति, दृढ़ निश्चय होता है, उस पुरुष का जीवन-पर्यंत देहपतन कहीं भी, किसी भी देश या काल में नाश/अन्यथा भाव नहीं होता । इस अर्थ में मेरी मति अर्थात् सम्मति है, यह अर्थ है । 'वा' शब्द दोनों अर्थात सेवा एवं कथा में समाहित है ।

नन्वेवं सति पूर्वोक्तत्यागस्य वैयर्थ्यमेवोत सार्थकत्वमपीत्याकांक्षायामाहुः बाधेति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।।१०।।

त्यागे सर्वथा बाधः सम्भावितश्चेद्भवेन्न तत्कृतस्तदा एकान्ते वासः सर्वत्यागपूर्विका स्थितिररण्यादौ नेष्यते न सम्मतेत्यर्थः । तदभावे त्विष्टैवेति भावः । नन्वेकान्तस्थितौ व्याघ्रादिभिरपमृत्युरपि सम्भाव्यते, वरं तदपेक्षया गृहस्थितिरित्यत आहुः हरिरित्विति । हरिशब्दार्थस्तु पूर्वोक्तोनुसन्धेयः । तुशब्दः प्रसिद्धौ । सर्वतः सुर्वदुःस्वहेतोः रक्षणं करिष्यत्येव, न संशय इत्यर्थः ।।१०।।

ऐसा होने पर पूर्व में कहे त्याग की व्यर्थता ही है या सार्थकता भी ? यह आकांक्षा होने पर **बाध** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

यदि त्याग में सर्वथा बाधा संभावित हो, तो वैसा त्याग नहीं करना चाहिए । तब सर्वत्यागपूर्वक वन में एकांत में रहना नहीं चाहिए, यह सम्मत नहीं, यह अर्थ है । उसके अभाव में इष्ट ही है, यह भाव है । यहाँ टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि सर्वत्यागपूर्वक एकांत-रुप से वन में नहीं रहना चाहिए । क्योंकि वहाँ बाधाओं की बहुलता है । यदि बाधाओं की बहुलता न हो तो अर्थात् वन में एकांत रुप से रहना चाहिए, तब तो उसे ही इष्ट मानना चाहिए । यहाँ ''एकांत में रहने से सिंहादि के द्वारा अपमृत्यु भी संभावित होती है'' ऐसी शंका होती है अतः इसकी अपेक्षा गृह में रहना ही श्रेष्ठ है, इसे कहने के लिए **हरिस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं । 'हरि' शब्द से पूर्व में कहे कथन अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः का अनुसंधान करना चाहिए । 'तु' शब्द प्रसिद्धि अर्थ में है । सभी ओर से, सभी दुःखों के कारणों से रक्षण करते ही हैं; संशय नहीं है, यह अर्थ है ।।१०।।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरुपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ।।११।।

उपसंहरन्ति । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवत्सम्बन्धिशास्त्रं शिक्षणम् । गूढं गुप्तं तत्त्वं यस्य तादृशं निरुपितम् । यः पुमानेतदुक्ताचरणेऽशक्तः सन्नेतच्छास्त्रमुपादित्सुः सम्यगधीयीत, अर्थानुसन्धानपूर्वकं पठेत्, तस्याप्येतच्छास्त्रोक्ता रतिर्दृढा भवेदित्यर्थः ।।११।। भक्त्यङ्कुरितचित्तस्य तदुद्रेकाय साम्प्रतम् । आचार्यस्यामृतोद्भूता विवृता भक्तिवर्धिनी ।।१।।

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ भक्तिवर्धिनीविवरणं संपूर्णम् ।।

उपसंहार कर रहे हैं । इस प्रकार कहे गये प्रकार से भगवद्-शास्त्र, भगवद्-संबंधी शास्त्र की शिक्षा है । गूढ़, गुप्त जिसका तत्व है, वैसा निरुपित किया है । जो जीव इन कहे गये आचरण करने में अशक्त होने पर इन शास्त्र में उपादित वचनों को अच्छी तरह, अर्थानुसंधान पूर्वक पढ़ता है, उसकी भी इन शास्त्रों में कही रति दृढ़ होती है, यह अर्थ है ।।११।।

वर्तमान में, भक्ति-अंकुरित चित्तवालों को उसकी अधिकता के लिए श्रीमदाचार्यो ने भक्तिवर्द्धिनी-रुप-अमृत-उद्भूत किया है ।

यह एक श्रीवल्लभनंदनचरण के शरण श्रीरघुनाथ द्वारा की गई भक्तिवर्द्धिनी का विवरण संपूर्ण हुआ ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीकल्याणरायविरचितविवृतिसमेता ।

वामे करे गिरिं स्त्रीषु मुदमिन्द्रे च साध्वसम् । धारयन्तमहं वन्दे चित्रं गोपेषु गोप्रियम् ॥१॥
यदङ्गीकृतितो भक्त्या स्वानन्दं नन्दनन्दनः । ददाति तान्प्रभून् वन्दे सर्वकामार्थसिद्धये ॥२॥

श्रीकृष्णभक्तिस्पृष्टान्तःकरणानां स्वकीयानां तत्फलविलम्बासहिष्णवः श्रीवल्लभाचार्या एकादशेन्द्रियशोधिका भक्तिरित्येकादशभिः श्लोकैर्भक्तिप्रवृद्ध्युपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

वामहस्त में गिरि, स्त्रियों गोपियों में प्रसन्नता एवं इंद्र में भय धारण करनेवाले, गोपों में विचित्रता धारण करनेवाले गोप्रिय ऐसे विचित्र कृष्ण को मैं वंदन करता हूँ ॥१॥

जिनके अंगीकार करने से भक्ति द्वारा, नंदनंदन स्वानंद प्रदान करते हैं, ऐसे श्री महाप्रभु को मैं सर्वकाम-सिद्धि के लिए वंदन करता हूँ ॥२॥

श्रीकृष्णभक्ति ने स्पर्श कर लिया है जिनके अंतःकरणों को, ऐसे स्वकीयों को उस फल में विलंब को न सहन करने वाले श्रीवल्लभाचार्य, एकादश-श्लोकों द्वारा एकादशेन्द्रिय-शोधिका भक्ति की प्रवृद्धि के उपाय निरूपण करने की प्रतिज्ञा **यथा** इन शब्दों से कर रहे हैं ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥१॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नुयात्तेन प्रकारेण साधनं विनिरूप्यत इत्यर्थः । वृद्धौ प्रकर्षोत्र फलोन्मुखत्वम् । भक्तिप्रवृद्धेरुत्तरावधिः क इत्याकांक्षायामाहुः बीज भावे दृढे तु स्यादिति । बीजरुपो भावोऽल्पस्नेहः, तस्मिन् दृढे व्यसनात्मके सति प्रवृद्धिः पूर्णा स्यादित्यर्थः । भावे बीजत्वोक्तिः फलेऽस्य निदानत्वबोधनाय । प्रथमतस्तत्र किं साधनमित्याकांक्षायामाहुः त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । भक्तिमार्गविरोधिनोऽन्यभजनादेस्त्यागात् । श्रवणं कीर्तनं च ताभ्याम् । इदमुपलक्षणम् । स्मरणमाचार्यभक्तिर्विश्वासश्चेत्यपिज्ञातव्यम् । श्रवणकीर्तनयोरेकवद्भावः कर्मणोरिव नात्र विरोध इति ज्ञापयति । न हि यथैकस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे नान्यत् क्रियते, तथा श्रवणकीर्तनयोरपि ॥१॥

जिन प्रकारों से भक्ति प्रकर्ष-रुप से वृद्धि को प्राप्त होती है, उस प्रकार से साधन विनिरुपित कर रहे हैं, यह अर्थ है । भक्ति की वृद्धि में प्रकृष्टता अर्थात् फलोन्मुखे हानी ह । यँही टाकाकार 'प्र' उपसग का अथ करे रहे ह । भक्ति की वृद्धि अर्थात् प्रकृष्टता, फलोन्मुख होना है एवं पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद के अनुसार 'भगवानेव फलं' अर्थात् भगवान ही फल हैं, अतः प्रकृष्ट-भक्ति, भगवान की ओर ले जाने वाली हुई यह समझना चाहिए ।

भक्ति-प्रवृद्धि की उत्तरावधि कब ? यह आकांक्षा होने पर **बीजभावे दृढे तु स्यात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । बीजरूप भाव, अल्पस्नेह हैं, उसमें दृढ़, व्यसनात्मक होने परभक्ति प्रवृद्ध अर्थात् पूर्ण होती है, यह अर्थ है । भाव में बीजत्व का कथन, उसके फल में निदान के बोध के लिए है । यहाँ प्रभु में रहे भाव को बीज द्वारा समझाया जा रहा है । टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि भाव को बीजत्व द्वारा कहना, भाव में प्राप्त होते फल के निदान अर्थात् निष्कर्ष का बोध कराने के लिए है । जैसे जैसे बीज प्रवृद्ध होता है, उसी प्रकार भाव भी प्रवृद्ध होता है, यह समझना चाहिए । प्रथमतः वहाँ क्या साधन है ? यह आकांक्षा होने पर **त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । भक्तिमार्ग विरोधी अन्य-भजनादि के त्याग से भक्ति प्रवृद्ध होती है । श्रवण एवं कीर्तन दोनों से बीजभाव दृढ़ होता है । यह उपलक्षण है । भगवद्-स्मरण, आचार्यभक्ति एवं दृढ़-विश्वास से भी बीजभाव दृढ़ होता है यह जानना चाहिए । श्रवणकीर्तन में एकवद् भाव यहाँ कर्मों की तरह विरोध नहीं बता रहा है । निश्चय ही, जिस प्रकार एक कर्म करने पर दूसरा नहीं करते, उस प्रकार श्रवणकीर्तन में भी समझना चाहिए । समझना चाहिए, कि हर कर्म दूसरे कर्म से भिन्न होता है एवं उसका फल भी भिन्न होता है, परंतु यहाँ श्रवणकीर्तन में समभाव है । श्रवण करने से मिलता फल वही है, जो कीर्तन करने से प्राप्त होता है, दोनों परस्पर विरुद्ध नहीं हैं, यह अर्थ है ।

भक्तिप्रवृद्धौ साधनान्युक्त्वा प्रकारमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥२॥

---

१. साधनमपि निरुप्यत इति पाठः ।

बीजरुपस्य भावस्य दृढतासिद्ध्यर्थमयं वक्ष्यमाणः प्रकारः । इममेवाहुः । गृहस्थितेर्भजनानुकूल्यात् । 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेणे'त्यादिवाक्यैः स्ववर्णाश्रमाचारधर्मेण गृहे स्थित्वा व्यावृत्तिः कार्यान्तरव्यासङ्गस्तद्रहितोऽव्यावृत्तः । श्रवणादिभिः सहितया परिचर्यया कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् । कृष्णपदात्फलत्वेन भजनं, न साधनत्वेनेति ज्ञाप्यते । तन्त्राद्युक्तपूजायां शीतलशंस्वोदकस्नानादिमत्त्वेन भक्तिमार्गीयाणामनधिकारात् । स्नेहाभावे सेवापि पूजातुल्यैव भातीति ज्ञापनार्था पूजापदोक्तिरत्र ज्ञेया ।

भक्ति प्रवृद्धि में साधनों को कहकर, प्रकार **बीजदार्ढ्य प्रकारस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

बीजरूप भाव की दृढ़तासिद्धि के लिए यह कहे गये प्रकार हैं । इसी को कह रहे हैं । गृह में रहने से भजन अनुकूल होने से । ''श्रुति, स्मृति मेरी ही आज्ञा है'' ''वर्णाश्रम का आचरण करने वाले पुरुष द्वारा'' इत्यादि वाक्यों द्वारा अपने वर्णाश्रम-आचार-धर्म से गृह में स्थित होकर व्यावृत्ति अर्थात् कार्यान्तर के व्यासंग से रहित होकर अर्थात् अव्यावृत्त होकर भजना चाहिए । श्रवणादि सहित परिचर्या द्वारा सदानंद, पुरुषोत्तम-कृष्ण को भजना चाहिए । 'कृष्ण' पद से फलत्व से भजन है, साधनत्व से नहीं, यह बता रहे हैं । तंत्रादि में कही पूजा में शीतल शंस्वोदकस्नानादि द्वारा भक्तिमार्गीयों का अनधिकार होने से । ''स्नेह के अभाव में सेवा भी पूजा तुल्य ही भासित होती है'' यह बताने के लिए यहाँ 'पूजापद' कहा समझना चाहिए ।

'तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनोवचः । नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वर' इत्यादिवाक्यैर्भगवद्भजनाभावे जन्मादिवैयर्थ्यात् व्यावृत्तिराहित्येन सेवाया असंभवेपि यथासंभवं शक्त्यनुसारेण श्रवणादिकमेव कार्यम्, नत्वन्यथा स्थातव्यमित्याशयेनाहुः व्यावृत्तोपि हरौ चित्तमिति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ।।३।।
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति ।

कार्यान्तरव्यासक्तोपि हरौ दुःस्वहरणशीले चित्तं निधाय श्रवणादौ यत्नं कुर्यादित्यर्थः । यसु प्रयत्ने । यतेदिति पाठे अनुदात्तेतामात्मनेपदानित्यत्वात् साधुत्वम् । एवं वर्तमानस्य प्रेमादिकं भवतीत्याहुः ततः प्रेमेति । भगवत्सेवया श्रवणादितोपि चित्तासङ्गावस्थावत् प्रेम भवति । स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते । प्रेमानन्तरं तथा पूर्वोक्तादेव सङ्कल्पावस्थावदासक्तिर्भवति । स्वविषये विविधमनोरथजनको भाव आसक्तिः । व्यसनं च यदा प्रभुकृपया भवेत्, तदा तद् बीजं बीजरूपो भावः शास्त्रे भगवच्छास्त्रे दृढमन्यापरिभूतमुच्यते, यत्फलं जनयति, दुष्टसंसर्गादिना नश्यत्यपि न । व्यसनं स्वविषयं विना स्थातुमशक्तिजनको भावः ।

''वही जन्म, वही कर्म, वही आयु, वही मन और वही वाणी सफल है जिसके द्वारा विश्वात्मा-हरीश्वर का सेवन किया जाता है । (श्री.भा. ४/३१/९)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवद्भजन का अभाव होने पर जन्मादिव्यर्थ होने से, व्यावृत्ति रहित होने से सेवा के असंभव होने पर भी यथासंभव शक्ति-अनुसार श्रवणादि ही करना चाहिए, न कि अन्यथा रहना चाहिए, इस आशय से **व्यावृत्तोपि हरौ चित्तम्** इत्यादि शब्दों द्वारा कह रहे हैं ।

अन्य कार्य में व्यासक्त होने पर भी दुःस्वहरणशील हरि में चित्त निर्धारित करना चाहिए यह अर्थ हैं । 'यसु' धातु प्रयत्न अर्थ में है । 'यतेद्' इस पाठ में 'अनुदात्त' यह आत्मनेपद अनित्य होने से साधु है । इस प्रकार करने वाले को प्रेमादि होता है, यह **ततः प्रेम** इन शब्दों से कह रहे हैं । भगवत्सेवा से श्रवणादि करने वाले को भी 'चित्तासंगावस्था' की भाँति प्रेम होता है । स्वविषय भगवद्-विषय में स्वतः प्रवर्तक-भाव 'प्रेम' शब्द द्वारा कह रहे हैं । प्रेम के अनंतर पूर्व की भाँति अर्थात् संकल्पावस्था की भाँति आसक्ति होती है । स्वविषय भगवद्-विषय में विविध मनोरथजनक-भाव 'आसक्ति' है । एवं जब प्रभुकृपा से व्यसन होता है, तब वह बीज अर्थात् बीजरुपभाव शास्त्र में अर्थात् भगवद्-शास्त्र में दृढ़ अर्थात् अन्य से अपरिभूत अतिरस्कृत कहा जाता है । जो फल देता है, दुष्ट संसर्गादि से भी नष्ट नहीं होता है । 'व्यसन' अर्थात् स्वविषय भगवद् विषय बिना न रह सकने का भाव है ।

प्रेमासक्त्योर्ज्ञापके आहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्दहारुचिः ।।४।।
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ।।५।।
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

यथा यथा भगवति स्नेहस्तथा तथान्यत्र हीयत इत्यर्थः । भगवत्यासक्त्या भगवदनुपयोगिगृहादिषु अरुचिरप्रीतिर्भवति । भगवति प्रेमासक्त्योः सर्वपुरुषार्थसाधिकयोरपि गृहस्थानां गृहासक्तानामविवेकिनां गृहादिषु रागाभावजनकत्वेन स्त्रीपुत्रादिपोषणासंभवरुपदोषोद्भावनेन

बाधकत्वं, स्वस्य प्रवृत्तिमार्गस्थत्वेनानात्मधर्मत्वं च भासते । अथवा । सर्वेषामात्मरुपे हितकारिणि भगवत्यनात्मत्वं भासते । वस्तुतस्तु 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' 'न मे भक्तः प्रणश्यति' 'किमलभ्यं भगवती'त्यादिवाक्यैस्तेषां भगवानेवैहिकपारलौकिकसाधक इति तेषामेवेदमज्ञानमिति भासत इत्युक्तम् । यदा कृष्णे पूर्णानन्दे व्यसनं स्यात्, तदैव जीवः कृतार्थः पूर्णार्थः स्यात् । एवकारेण प्रेमासक्त्योर्व्युदासः । हि युक्तोयमर्थः । यतः तादृशस्यापि प्रेमासक्तिमतोपि सततं निरन्तरं गेहस्थानं गेह एवावस्थानं विनाशकं भावस्येति शेषः । तेन सत्सङ्गादिकं कर्तव्यमिति भावः ।

प्रेम-आसक्ति के ज्ञापक को **स्नेहात्** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

जैसे-जैसे भगवान में स्नेह होता है, वैसे-वैसे अन्यत्र कम होता जाता है, यह अर्थ है । भगवद्-आसक्ति से भगवान के अनुपयोगी गृहादि में अरुचि अर्थात् अप्रीति होती है । भगवान में प्रेमासक्ति सर्वपुरुषार्थसाधिका होने पर भी, गृहस्थों को अर्थात् गृह में आसक्त अविवेकियों को, गृहादि में उस प्रेमासक्तिवान भक्त को राग का अभाव होने से एवं स्त्रीपुत्रादिपोषण-असंभवरुप दोष उद्भावित होने से वह भक्त बाधक लगता है एवं स्वयं के प्रवृत्तिमार्गस्थ होने से अनात्मधर्म भासित होता है । अथवा । सभी के आत्मरुप हितकारी भगवान में अनात्मत्व भासित होता है । वास्तव में तो ''उन निरंतर भक्तिनिष्ठ मनुष्यों की संपूर्ण आवश्यकताओं का वहन करता हूँ (भ.गी. ९/२२)'', ''मेरा भक्त नष्ट नहीं होता (भ.गी. ९/३१)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा, भगवान ही ऐहिक पारलौकिक के साधक हैं, यह उनको ज्ञान ही नहीं होता, अतः 'भासित होता है' यह कहा है । यहाँ टीकाकार यह कहना चाहते हैं, कि गृहासक्त अविवेकी मनुष्यों को कृतार्थ-जीव के भगवद्-कार्य बाधक लगते हैं एवं उन्हें उसमें अनात्मत्व भी भासित होता है । टीकाकार विशेष ध्यान 'भासित' शब्द पर दिलाना चाह रहे हैं । वे कह रहे हैं, कि भगवद्-गीता के इन वाक्यों के अनुसार ऐहिक-पारलौकिक के साधक भगवान ही हैं , ये वे नहीं जानते । अतः उन्हें कृतार्थ-जीव के भगवद्-कार्यो में अनात्मत्व भासित होता है । वस्तुतः उनका ऐसा विचार सत्य नहीं है, अतः 'भासित होता है' यह कहा । जब पूर्णानंद कृष्ण में व्यसन होता है, तब ही जीव पूर्ण-अर्थ में कृतार्थ होता है । 'एवकार' से प्रेमासक्ति का निरसन हो जाता है । यहाँ समझना चाहिए कि प्रेम-आसक्ति-व्यसन यों प्राथमिक तीन अवस्थाएँ हैं । प्रेम एवं आसक्ति पश्चात् जीव व्यसन दशा को प्राप्त होता है । यहाँ मूल पंक्ति ''यदा.....तदैव (तत्-एव) हि'' में 'एव' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ होता है 'तब ही' । यहाँ टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि प्रेम एवं आसक्ति संपूर्ण हो जाने पर ही 'व्यसन' होता है यह समझना चाहिए । 'हि' शब्द युक्त-अर्थ का द्योतक है । 'हि' शब्द का प्रयोग किसी निश्चय अर्थ के लिए किया जाता है । यहाँ मूल पंक्ति में ''यदा.....तदैव हि'' आया है । जिसका अर्थ है, कि जब कृष्ण में व्यसन होता है, तब ही जीव कृतार्थ होता है, यह निश्चित है । अतः यहाँ मूल पंक्ति में 'हि' शब्द का प्रयोग युक्त है अर्थात् उचित है, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं । क्योंकि तादृशी को भी अर्थात् प्रेम-आसक्तिवान को भी सतत-निरंतर गृहस्थान 'भाव' का विनाशक है; यह शेष रह जाता है अतः इससे सत्संगादि करना चाहिए, यह भाव है ।

भक्तिप्रवृद्धिसाधने प्रकारान्तरमाहुः त्यागं कृत्वेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ।।६।।
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ।।७।।

यस्तु पुरुषो गृहे भगवद्भजनप्रतिबन्धं ज्ञात्वा गृहत्यागं कृत्वा श्रवणादौ यसेत् यत्नं कुर्यात् । 'यतेदि'ति पाठे पूर्ववज्ज्ञेयम् । तदर्थार्थैकमानसः तदर्थं भगवन्निमित्तं योर्थः श्रवणादिः तस्मिन् । यद्वा । भगवतोर्थः प्रयोजनं लीला तदर्थार्थं तन्निमित्तं एकमनन्यं मानसं यस्य एतादृशः सन् सुदृढां विषयाद्यपरिभूतां सर्वतोपि ज्ञानयोगादिभ्योप्यधिकामधिकफलदायिनीं परां प्रेमलक्षणां फलरुपां भक्तिं लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः ।

भक्तिप्रवृद्धि के साधन में दूसरे प्रकार को **त्यागं कृत्वा** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

जो पुरुष गृह में भगवद्-भजन का प्रतिबंध जानकर गृहत्याग करके श्रवणादि का प्रयत्न करता है । 'यतेत्' इस पाठ में पर्ववत् जानना चाहिए । मूलग्रंथ की छठी कारिका में जो 'यतेत्' पद आया है, टीकाकार उसके लिए कह रहे हैं । जैसा कि पहले बताया गया कि 'यतेत्' का अर्थ होता है 'प्रयत्न करना'; मूलग्रंथ की तीसरी कारिका में भी 'यतेत्' पद आया है, जैसे वहाँ श्रवणादि के लिए प्रयत्न करना । कहा, वैसे यहाँ भी त्याग करके 'तदर्थार्थैकमानस' होने का प्रयत्न करना चाहिए, यह अर्थ है । तदर्थार्थैकमानसः अर्थात् तदर्थं अर्थात् भगवान के निमित्त जो श्रवणादि अर्थ हैं उनमें; । अथवा । भगवद्-अर्थ अर्थात् प्रयोजन लीला उसके लिए-उनके निमित्त अनन्य एकमन जिसका है, वैसा होकर सुदृढ़, विषयों से अपराजित, सभीसे - ज्ञानयोगादि से भी अधिकाधिक-फलदायिनी, परा, प्रेमलक्षणा फलरुपा भक्ति को प्राप्त करता है, यह अर्थ है ।

तर्हि निर्विघ्नेस्मिन् प्रकारे विद्यमाने किमर्थं प्रकारान्तरमाश्रयणीयमित्यत आहुः त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति । दुःसङ्गसर्गात् । दुष्टानां भगवद्-बर्हिर्मुखादीनां सहभोजनादिना सङ्गात् । तथान्नतः दुष्टान्नात् । वैश्वदेवभगवच्चरणामृतप्रक्षेपादिनाप्यन्नदोषनिवृत्तेः संभवात्सङ्गदोषोऽधिक इति तस्य प्रथमनिर्देशः । गृहत्यागे बाधकभूयस्त्वं बाधकानामन्तरायहेतूनां बाहुल्यमस्ति, तेन यावद्गृहे भजनं संभवति, तावद्गृहत्यागो न कर्तव्यः,

सर्वथा भजनाऽसंभवे कर्तव्यः । तदुक्तं श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपे 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति ।

फिर भी, इस निर्विघ्न प्रकार के विद्यमान होने पर, क्यों अन्य-प्रकार का आश्रय करना चाहिए ? यह शंका होने पर **त्यागे बाधकभूयस्त्वम्** इन शब्दों से कह रहे हैं । दुःसंर्ग से बाधाएँ आती हैं । दुष्टों के, भगवद्-बहिर्मुखों के संग भोजन करने से बाधाएँ होती हैं । उसी प्रकार अन्न से, दुष्टान्न से बाधाएँ होती हैं । वैश्वदेव-भगवच्चरणामृत पधराने से भी अन्नदोषनिवृत्ति होती है । 'वैश्वदेवबलि' एक कर्मकांडीय, मर्यादामार्गीय (अन्नशुद्धि की) प्रक्रिया है । जिस अग्नि में भोजन-सामग्री तैयार की जाती है, उस अग्नि में पाँच आहुतियाँ भोजन से पहले पधराई जाती हैं । जिससे अन्नदोष निवृत्त होता है । इसे 'वैश्वदेवबलि' कहते हैं । हमारे भक्तिमार्ग में प्रभुप्रसादी ग्रहण करने अथवा भगवद्चरणामृत पधराने से भी अन्नदोष की निवृत्ति हो जाती है, यह जानना चाहिए । किंतु इससे अधिक संग दोष है, अतः उसका निर्देश प्रथम है । गृहत्याग में बाधकों की अधिकता है । बाधकोंकी अर्थात् अंतरायहेतुओं की बहुलता है, अतः इससे जब तक गृह में भजन संभव होता है, तब तक गृहत्याग नहीं करना चाहिए । सर्वथा भजन असंभव होने पर करना चाहिए । वही श्रीभागवतार्थतत्वदीप में ''यदि पत्नी आदि अनुकूल हों, तो भगवत्-क्रियाएँ करवानी चाहिए । उदासीन होने पर स्वयं करनी चाहिए, प्रतिकूल होने पर गृहत्याग करना चाहिए (त.दी.नि./स.नि./२३३)'' इन श्लोकों में कहा है ।

तेन गृहस्य त्यागेऽत्यागेपि यावद्व्यसनं संपद्यते, तावत्सत्सङ्गादिकं कर्तव्यमित्याहुः अतः स्थेयं हरिस्थान इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ।।८।।

यतः पूर्वोक्तं बाधकमतः कारणात् हरिस्थाने व्रजमथुरादौ तदीयैर्भगवन्मार्गस्थैरनन्यैः तत्परैः सेवाकीर्तनादिना भगवत्परैः सह अदूरं निकटं यथा भवति तथा स्थेयम् । निकटस्थित्यसंभवे दूरेपि स्थित्वा तदनुसरणं कर्तव्यमित्याहुः विप्रकर्षे वेति । भक्तिमार्गस्थत्वाभावे त्ववैष्णवसङ्गात् स्वस्य कार्यं न सिध्येत्, तत्परत्वाभावे भगवत्सेवाकथाद्यभावात् स्वस्य लाभो न स्यादिति द्वयमुक्तम् । निकटे दूरे वा स्थित्वा तादृशभगवदीयानुसरणे तत्कृपया चित्तं दुष्टं न भवतीत्याहुः यथा चित्तं न दुष्यतीति ।।८।।

अतः गृह के त्याग-अत्याग में भी जब तक व्यसन संपादित होता है, तब तक सत्संगादि करने चाहिए, यह अतः स्थेयं हरिस्थाने इन वाक्यों द्वारा कह रहे रहैं ।

क्योंकि पूर्व में कहे बाधक हैं, अतः इस कारणसे व्रजमथुरादि हरिस्थान में तदीयों भगवन्मार्गस्थ, अनन्य, सेवाकीर्तनादि में तत्पर अर्थात् भगवत्पर के साथ निकट अदूर जिस प्रकार हो, उस प्रकार रहना चाहिए । निकटस्थिति असंभव होने पर दूर भी रहकर उनका अनुसरण करना चाहिए, यह **विप्रकर्षे वा** इन शब्दों से कह रहे हैं । 'भक्तिमार्गस्थ' के अभाव में तो अवैष्णव के संग से स्वयं का कार्य सिद्ध नहीं होता; 'तत्पर' के अभाव में, भगवत्सेवाकथादि के अभाव से स्वयं का लाभ नहीं होता, यह दो बातें कहीं । निकट या दूर रहकर वैसे भगवदीय का अनुसरण करने पर चित्त दुष्ट नहीं होता, यह **यथा चित्तं न दुष्यति** इन शब्दों से कह रहे हैं ।।९।।

एवं सत्सङ्गे सति केवलमनिष्टनिवृत्तिरेव न, किन्त्विष्टप्राप्तिरपि भवतीत्याहुः सेवायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ।।९।।

यस्य महत्कृपया सेवायां स्वशरीरसाध्यश्रीकृष्णभजने, कथायां तद्गुणलीलादिश्रवणे दृढा विषयाद्यनभिभूता आसक्तिर्भवेत्, यावज्जीवमादेहपातं, तस्य क्वापि कुत्रापि देशे कालेपि नाशः भगवद्भजनाननुरूपफलप्राप्तिर्न भवति । अथवा । भावस्य नाशो भावान्तरोत्पत्तिर्वा न भवति इति मम मतिः । प्रभुः कृपया को वेद किं दास्यति । वाशब्दावनुक्तस्मरणादिसमुच्चयार्थौ ।।९।।

इस प्रकार सत्संग करने पर केवल अनिष्टनिवृत्ति ही नहीं किंतु इष्टप्राप्ति भी होती है, यह **सेवायां** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

जिसकी, श्री महाप्रभुजी की महद्-कृपा से सेवा में, स्वशरीर से साध्य कृष्णभजन में, कथा में उनके गुणलीलादि श्रवण में, 'दृढ़'-अर्थात् विषयों से अपराजित 'आसक्ति' होती है, उसका जीवनपर्यंत अर्थात् देह रहने तक कुछ भी, कहीं भी, देशकाल में भी, नाश अर्थात् भगवद्-भजन के विपरीत फल प्राप्ति नहीं होती है । अथवा । भाव का नाश अथवा दूसरे-भाव की उत्पत्ति नहीं होती है, यह **इति मम मतिः** इन शब्दों से कहा । प्रभु कृपा द्वारा क्या देंगे, कौन जानता है ? 'वा' शब्द यहाँ न कहे स्मरणादि का समुच्चय-अर्थ द्योतित कर रहा है । ।।९।।

ननु भगवदीयानामपि सङ्गः किमर्थं कर्तव्यः, एकाकिना अरण्यादौ भगवल्लीलादि चिन्तनं कुर्वता कथं न स्थेयमित्यत आहुः बाधसम्भावनायामिति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।।१०।।

तुशब्दः तं पक्षं व्यावर्तयति । बाधोत्र चित्तोद्वेगविक्षेपादिः, स चेन्न सम्भवति तदा तथैव स्थेयम् । बाधसम्भावनायां सत्यामेकान्तेऽरण्यादौ वासो नेष्यते, न इष्टः । नवांतनबाधाभावेपि बहिश्चौरव्याघ्रादिभयसम्भवे सति कथं स्थेयमित्यत आहुः हरिस्त्विति । सर्वदुःस्वहर्ता प्रभुः सर्वतः सर्वस्मात् सुदर्शनादिना रक्षां करिष्यति । 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च वादिने । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।' 'न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्यैरस्मिन्नर्थे न संशय इत्यर्थः ।।१०।।

यदि यहाँ "भगवदीयों का संग भी किसलिए करना चाहिए ? एकाकी अरण्यादि में भगवल्लीला का चिंतन करते हुए, क्यों न रहना चाहिए ?" ऐसी शंका करें, तो वहाँ **बाधसंभावनायां** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

'तु' शब्द उस पक्ष का एकांतवास का निरसन कर रहा है । बाधा यहाँ चित्तोद्वेग-विक्षेपादि हैं; वह यदि न संभावित हों, तब ही उस प्रकार (एकांतवास में) रहना चाहिए । बाधसंभावना होने पर एकांत में, अरण्यादि में वास नहीं करना चाहिए, इष्ट नहीं है । नई बाधा के अभाव में भी वाह्यचोरव्याघ्रादि का भय संभव होने पर कैसे रहना ? अर्थात् कोई नई बाधा न भी हो, तथापि एकांत-स्थलों में चोरलुटेरे, सिंहादि हिंसक पशु तो होते ही हैं । तब वहाँ कैसे रहना ? यह शंका उठा रहे हैं । यह **हरिस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं । सर्वदुःस्वहर्ता प्रभु सभी ओर से, सभी से, सुदर्शनादि से रक्षा करेंगे । "एक बार ही मेरी शरण आकर एवं 'मै आपका हूँ' यह प्रार्थना करता है; उसे सभी प्राणियों से अभय देता हूँ, यह मेरा व्रत है" (वा.रा. ६/१८/३३), "मेरा भक्त नष्ट नहीं होता" (९/३१ भ.गी.) इत्यादि वाक्यों द्वारा इस अर्थ में संशय नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है ।।१०।।"

श्रीवल्लभाचार्याः सगुणनिर्गुणभेदेन दशधा भक्तिरिति दशभिः श्लोकैर्भक्तिवर्धिनीप्रक्रियां निरुप्य, एतदुक्ताचरणैतत्पाठयोः फलमाहुः इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरुपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्यादृढा रतिः ।।११।।

इतीदं गूढं गुप्तं तत्त्वमनारोपितं रुपं यस्यैतादृशं भगवच्छास्त्रं भक्तिप्रतिपादकम् । अथवा । गूढतत्वं यथा स्यात्तथा, एवममुना प्रकारेण निरुपितम् । य एतदुक्तमाचरेत्तस्यभगवति दृढा रतिः प्रीतिः स्यात् । यो वैतदुक्ताचरणाशक्तः स त्वेतद्भक्तिवर्धिनीरूपं समधीयीत श्रद्धाभक्तिपूर्वकं पठेत् । तस्याप्यग्रे दृढा रतिः स्यादित्यर्थः

श्रीमत्कल्याणरायेण श्रीगोविन्दात्मजेन वै । गुरुन् नत्वा यथाबुद्धि विवृता भक्तिवर्धिनी ।।

इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणैकतानश्रीकल्याणरायविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः ।।

श्रीवल्लभाचार्य सगुणनिर्गुण-भेद से दशप्रकारक-भक्ति, दश-श्लोकों द्वारा भक्तिवर्धिनी प्रक्रिया निरुपण कर, इसमें कहे आचरण एवं पाठ का फल **इत्येवं** इन शब्दों द्वारा कह रहे हैं ।

यह गूढ़, गुप्ततत्व, अनारोपित अर्थात् शुद्ध जिसका जैसा रुप है वैसा, भगवत्-शास्त्र अर्थात् भक्ति का प्रतिपादक है । अथवा । गूढतत्व जिस प्रकार होता है, उस प्रकार निरुपित किया । जो इन कहे का आचरण करता है, उसकी भगवान में दृढ़ रतिप्रीति होती है । जो इन कहे आचरण को करने में अशक्त है उसे तो यह भक्तिवर्धिनीरुप ग्रंथ श्रद्धाभक्तिपूर्वक पढ़ना चाहिए । उसकी भी आगे दृढ़ रति होती है, यह अर्थ है ।

यह एक श्रीविट्ठलेश्वरचरणों में ध्यानमग्न श्रीकल्याणरायविरचित भक्तिवर्धिनीविवृति समाप्त हुई ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीहरिरायविरचितभक्तिवर्धिनीविवृतिः ।

श्रीवल्लभाचार्यपदानुकम्पाबलेन किञ्चित् परिचिन्त्य चित्ते ।
निरूप्यते भक्तिविवृद्धयुपायनिरूपणग्रन्थनिरूपितोर्थः ॥ १ ॥
श्रीवल्लभाचार्यचरणों के अनुग्रहबलसे चित्त में कुछ परिचिंतन कर।
भक्तिविवृद्धि-उपायनिरुपणग्रंथ में निरुपित अर्थ को निरुपित कर रहा हूँ ॥ १ ॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थाभ्यां भक्तिः सप्रेमसेवनम् । चेतस्तत्प्रवणं तच्च तनुवित्तप्रसाधितम् ॥ २ ॥
प्रकृति-प्रत्यय अर्थ द्वारा भक्ति, प्रेमसहित की जानेवाली सेवा है।
एवं, चित्त की वहाँ भगवान में प्रवणता, तनुवित्त से प्रकृष्ट रुप से साधी जाती है ॥ २ ॥

तत्र मूलं[1] हरेरंगीकारोथ शरणागतिः । ततः समर्पणं जीवदेहसंबन्धिवस्तुनः ॥ ३ ॥
वहाँ मूल कारण 'हरि का अंगीकार' तत्पश्चात् 'शरणागति' है।
तत्पश्चात् जीव के देहसंबंधी सभी वस्तुओं का समर्पण होता है ॥ ३ ॥

ततो योग्यत्वसम्पत्त्या सेवनं तु प्रवर्तते । पूर्वोक्तरूपतद्वृद्धिस्तनुवित्तजसेवनात् ॥ ४ ॥
इसके पश्चात् तो योग्यतासंपत्ति द्वारा सेवा की जाती है।
पूर्वोक्तरूप भक्ति वृद्धि, तनुक्तिजा सेवा द्वारा होती है ॥ ४ ॥

तदुपायापरिज्ञाने सा कथं वृद्धिमेष्यति । अतस्तद्वृद्धयुपायोत्र ग्रन्थे प्रभुभिरुच्यते ॥ ५ ॥
उसके उपाय का परिज्ञान न होने पर, वह भक्ति कैसे बढ़ेगी?
अतः उसके वृद्धि-उपाय यहाँ ग्रंथ में श्रीमहाप्रभु द्वारा कहे जा रहे हैं ॥ ५ ॥

यथा येन प्रकारेण चेतस्तत्प्रवणात्मिका । भक्तिर्व्यसनपर्यन्तं वृद्धा भवति सर्वथा ॥ ६ ॥
तथा तेन प्रकारेण य उपायः स कथ्यते ।
जैसे, जिस प्रकार से चित्त की वहाँ भगवान में प्रवणात्मिकाभक्ति व्यसनपर्यंत
सभी प्रकार से वृद्ध होती है; वैसे, उस प्रकार से जो उपाय हैं, वह कह रहे हैं ॥ ६ १/२ ॥

उपायस्तु स एवात्र तनुवित्तजसेवनम् ॥ ७ ॥
उपाय तो यहाँ वही 'तनुवित्तजा' सेवा है ॥ ७ ॥

त्यागात्यागविभेदेन गृहे भक्तगृहे तथा । बीजभावः प्राथमिको यतः सेवा प्रवर्तते ॥ ८ ॥
'बीजभाव' प्राथमिक है जिससे सेवा प्रवर्तित होती है।
त्याग-अत्याग के विभेद से गृह एवं भक्तगृह में; ॥ ८ ॥

स्वामिसेवकभावात्मा[2] तद्दार्ढ्याद्दृढ्सिंभवः । अथवा त्यापक्षेण कृतश्रवणकीर्तनात् ॥ ९ ॥
अनायासेन सुदृढभक्तिप्राप्तिर्न संशयः ।
स्वामिसेवक भावरुप वाले उस बीज की दृढ़ता से वृद्धि संभव होती है,
अथवा त्यागपक्ष द्वारा किए श्रवणकीर्तन से:
अनायास ही सुदृढ़भक्ति प्राप्त होती है इसमें संशय नहीं है ॥ ९ १/२ ॥

---

१ कारणमित्यर्थः । २ यथा वृक्षबीजे सूक्ष्मरूपेण फलपर्यन्तावस्थास्थितौ वृक्षस्य फलपर्यन्ता वृद्धिः स्थूलरूपस्य भवति, तथा भक्तिबीजे स्वामिसेवकभावे व्यसनपर्यन्तावस्थानां सूक्ष्मरूपेण स्थितौ भक्तिद्रुमस्य स्थूलरूपस्य व्यसनपर्यन्ता वृद्धिर्भवतीति भावः ।

अत्यागपक्षे क्रमशो भक्तिवृद्धिरिहोच्यते ॥ १० ॥
अत्यागपक्ष में यहाँ भक्तिवृद्धि क्रमशः कह रहे हैं ॥ १० ॥
अतो हि बीजदार्ढ्यस्य[३] प्रकारोत्र निरूपितः । गृहे स्थितिः स्वधर्मेण वर्णाश्रमगतेन हि ॥ ११ ॥
विधेया नापि सेवार्थमधर्मेण कथञ्चन ।
अतएव बीजदृढ़ता का प्रकार यहाँ निरुपित है।
निश्चय ही, वर्णाश्रमगत स्वधर्म द्वारा गृह में रहना चाहिए। सेवार्थ भी अधर्म से कभी भी नहीं, यह विधान किया है ॥ ११ १/२ ॥

अधर्मे स्थितितो बुद्धिनाशादुःसङ्गतस्तथा ॥ १२ ॥
ततो[४] दुष्कर्मकरणे चेतस्तत्प्रवणं कुतः ।
उस प्रकार अधर्म से रहने पर बुद्धिनाश द्वारा एवं दुःसंग द्वारा
इससे दुष्कर्म करने पर चित्त की वहाँ प्रवणता कैसे होगी? ॥ १२ १/२ ॥

अतस्तथाविधं कृष्णं सदानन्दं परं बृहत् ॥ १३ ॥
लोकवेदफलार्थव्यावृत्तिरहितो जनः । भजेत्सेवेत तन्त्राद्यैस्तत्र व्यावृत्तियोजनम् ॥ १४ ॥
अतः उस प्रकार लोकवेदफलादि के अर्थ की व्यावृत्ति से रहित जनों को सदानंद-परंबृहत् ब्रह्म कृष्ण को भजना/सेवना चाहिए; तनु आदि के द्वारा व्यावृत्ति भी वहीं योजित करनी चाहिए ॥ १३, १४ ॥

प्रेम्णैव भजनं तत्र माहात्म्यज्ञानसिद्धये । पूजा प्रोक्ता निबन्धे या मन्त्रादिरहिता हरौ ॥ १५ ॥
वहाँ, माहात्म्यज्ञानसिद्धि के लिए प्रेम से ही भजन है।
'निबंध' में कही हरि की जो पूजा है, वह मंत्रादि से रहित है ॥ १५ ॥

बाहिर्मुख्योद्भवाभावसिद्धये श्रवणादयः । अयं तु मुख्यकल्पो हि सर्वथा साधको मतः ॥ १६ ॥
बहिर्मुखता के उद्भव के अभाव की सिद्धि के लिए श्रवणादि है।
यह गृह में रहना तो मुख्यकल्प है जा निश्चय ही सर्वथा भजन का साधक है यह मत है ॥ १६ ॥

यथा रोगशतार्तस्य कुपथ्यरहितौषधम् । एवंबिधस्य निर्वाहं स्वयमेव करोति हि ॥ १७ ॥
जिस प्रकार सैंकड़ों रोगों से दुःखी को कुपथ्यरहित औषधि लाभ करती है; उसी प्रकार ऐसे भजन करने वाले का निर्वाह स्वयं भगवान निश्चयरुप से करते ही हैं ॥ १७ ॥

योगक्षेमोद्वहे स्वीयप्रतिज्ञापरिपालकः । सेवकस्यापि विश्वासः कर्तव्योऽवश्यमेव हि ॥ १८ ॥
स्वीयों के 'योगक्षेम' वहन करने में प्रभु प्रतिज्ञापरिपालक हैं।
अतः सेवक को भी निश्चयरुप से अवश्य विश्वास करना चाहिए ॥ १८ ॥

नहि सेवकनिर्वाहं विदधाति न हि प्रभुः । तथापि जीवप्रकृतिवशतो न त्यजत्यसौ ॥ १९ ॥
व्यावृत्तिं दृढविश्वासाभावतो लोकवेदयोः ।
यदि सेवक का निर्वाह न करें ता वह निश्चय ही 'प्रभु' नहीं हैं ।
तथापि जीव प्रकृतिवश लोकवेद
में दृढ़विश्वास का अभाव होने से इस व्यावृत्ति का त्याग नहीं करता ॥ १९ १/२ ॥

तस्य भक्तिप्रवृद्ध्यर्थमनुकल्पोपि रूप्यते ॥ २० ॥
उसकी भक्तिप्रवृद्धि के लिए अनुकल्प भी रुपित कर रहे हैं ॥ २० ॥

व्यावृत्तिसहितो वापि चित्तमात्रं हरौ परे । सर्वकार्येषु सततं यत्नेन स्थापयेत्पुनः ॥ २१ ॥
अथवा व्यावृत्तसहित होने पर भी सभी कार्यों में यत्न द्वारा चित्तमात्र को पुनः परमहरि में स्थापित करना चाहिए ॥ २१ ॥

तथापि भगवत्कार्यतिरिक्त उपयोगिनि । तथाभावाभाववतां चित्तवैमुख्यसंभवः ॥ २२ ॥
तथापि भगवत्कार्यातिरिक्त वस्तुओं के उपयोग एव वैसे भगवद्भाव के अभाव वालों से चित्त की विमुखता संभव होती है ॥ २२ ॥

---

३ स्थूलस्येति शेषः । ४ तदनन्तरमित्यर्थः ।

तदर्थं स्थापयेत्तत्तु श्रवणादावपि स्वतः । एवंविधा तु सततं प्रेमासक्तिक्रमेण हि ॥ २३ ॥

इसके लिए, वह चित्त तो श्रवणादि में स्थापित करना चाहिए, इस प्रकार सतत करने पर स्वतः प्रेमासक्ति क्रमशः निश्चय ही हो जायेगी ॥ २३ ॥

भवेद्व्यसनसंसिद्धिः प्रवृद्धासौ तदा रतिः ।

तब व्यसनसंसिद्धि तथा यह रति प्रवृद्ध हो जायेगी ॥ २३ १/२ ॥

यदेति वचनात्तत्र व्यसनं दुर्लभं मतम् ॥ २४ ॥

'यदा' यह कहने से वहाँ 'व्यसन' होना दुर्लभ माना है ॥ २४ ॥

प्रभुणापि यतो दत्तं रासस्थास्वेव तत्पुनः । यद्धि व्यसनपर्यन्तावस्थं बीजं तदुच्यते ॥ २५ ॥

रासस्थ गोपिकाओं को भी प्रभु ने जो दिया वही पुनः जो व्यसनपर्यन्तावस्थारुपी बीज है, वह कह रहे हैं ॥ २५ ॥

बीजं भावात्मकं शास्त्रे दृढं सङ्गान्न नश्यति । कुत उत्पादयेद्भावान्तरमित्यपि नोदितम् ॥ २६ ॥

दृढ़भावात्मक बीज शास्त्र में दुःसंग से भी नष्ट नहीं होता, वह भावान्तर कैसे उत्पादित करेगा? यह भी नहीं कहा है ॥ २६ ॥ अर्थात् उत्पादित ही नहीं करेगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है ॥ २६ ॥

आसक्तावपि दुःसङ्गो बाधकत्वेन चोदितः । श्रीस्वामिनीभिरप्युक्तं पञ्चाध्याय्यां प्रभुं प्रति ॥ २७ ॥

आसक्त होने पर भी दुःसंग को बाधकरुप कहा है। श्रीस्वामिनी गोपिकाओ द्वारा भी रासपंचाध्यायी में प्रभु के प्रति कहा गया है कि ॥ २७ ॥

त्वयाभिरमिताः स्यातुं पारयामोन्यतो न हि । विवृतं तत्तथाचार्यैर्व्याघ्रदेहिनिदर्शनात् ॥ २८ ॥

"हे प्रभु! आपके द्वारा अभिरमित मैं निश्चय ही अन्यत्र नहीं रह सकती"।
एवं वही आचार्यचरणों ने 'व्याघ्रदेहिदर्शन' पद द्वारा विवृत किया है ॥ २८ ॥

किं प्रेम का तथासक्तिः किं वा व्यसनमुच्यते । व्यतिरेकमुखेनैव तल्लक्षणमुदीर्यते ॥ २९ ॥

प्रेम क्या है? तथा आसक्ति क्या है? अथवा व्यसन क्या है? कह रहे हैं।
व्यतिरेकमुख अर्थात् निषेधपद्धति द्वारा ही वह लक्षण कह रहे हैं ॥ २९ ॥

नहि भावे हरिर्वाच्यो 'यतो वाच' इति श्रुतेः । निषेधमुखतो वाच्यो नेतिनेतीति वाक्यतः ॥ ३० ॥

न होने के भाव में 'यतो वाच' इस श्रुति द्वारा हरि ही कहे जाते हैं
निषेधमुख से 'नेतिनेति' इन वाक्यों से भी वे ही कहे जाते हैं ॥ ३० ॥

यतो रागविनाशः स्यादौदासीन्येन च स्थितिः । हरिभिन्ने विना हेतुं स भावः प्रेमशब्दितः ॥ ३१ ॥

हरि से भिन्न वस्तुआ में जिससे राग का विनाश हो जाता है एवं उदासीनता की स्थिति हो जाती है वह अहैतुक भाव 'प्रेम' शब्द से कह रहे हैं ॥ ३१ ॥

आसक्तियेंन भावेन गृहादिष्वनुयोगिषु । अप्रीतिश्च तथा तेषां गृहस्थानां निरोधनात् ॥ ३२ ॥
प्रियान्तिकगतौ तेषु बाधकत्वेन बोधनम् । स्वासंबन्धितया भानं स भावः सा निगद्यते ॥ ३३ ॥

जिस भाव से गृहादि में जोड़नेवालों में अप्रीति एवं उस प्रकार उन गृहस्थों के, प्रियभगवान के निकट जाने में रुकावट करने से उनमें बाधकत्व का बोध होता है, वह स्व-असंबंधीतया भान 'आसक्ति' कह रहे हैं ॥ ३२, ३३ ॥

स्वबाधकतया वापि यदा स्फूर्तिर्निवर्तते[१] ॥ गृहस्थानां तदा कृष्णे व्यसनं तदुदीर्यते ॥ ३४ ॥

अथवा गृहस्थों के स्वयं के बाधक होने से जब उनमें स्वयं की स्फूर्ति निवृत्त होती है, तब कृष्ण में वह 'व्यसन' शब्द स कहा जाता हैं ॥ ३४ ॥

तदैव पूर्णसर्वार्थो ह्यविर्भावतो हरेः । अपेक्षिता शरीरस्यालौकिकस्यासिरुत्तमा ॥ ३५ ॥

तब ही, हरि के हृदय में आविर्भूत होने से जीव सर्वार्थ में पूर्ण होता है। तव ही शरीर की उत्तम अलौकिकप्राप्ति भी अपेक्षित होती है ॥ ३५ ॥

तदभावे तादृशस्य निरन्तरगृहस्थितिः । बहिःसंवेदनाद्भावनाशिका समुदाहृता ॥ ३६ ॥

उस व्यसनदशा के अभाव में तादृशी की निरंतर गृह में स्थिति, बाह्याक्रमण होने से भावनाशिका कही गई है ॥ ३६ ॥

अस्याप्येवं तदान्येषां का वार्तेत्यपि नोदितम् । अतस्त्यक्त्वा गृहं क्वापि भगवत्सन्निधौ स्थितिः ॥ ३७ ॥
कार्या कदाचिन्न ततो भवेद्भावविनाशनम् ।

---

१ तथा च निरोधो व्यसनमिति भावः ।

इस तादृशी की भी इस प्रकार गति कही है, तब अन्यों की बात क्या कहनी?
अतः गृहत्याग कर किसी भगवत्संनिधि में स्थिति करनी चाहिए, इससे भावविनाश नहीं होता ॥ ३७ १/२ ॥

एवमेकप्रकारो हि भक्तिवृद्धेरुदीरितः ॥ ३८ ॥
इस प्रकार, एक प्रकार निश्चयतया भक्तिवृद्धि के लिए कहा गया है ॥ ३८ ॥

दृढभक्तिप्राप्तिफलो द्वितीयोपि निरूप्यते ।
द्वितीय दृढ़भक्तिप्राप्तरुपी फल भी निरुपित कर रहे हैं ॥ ३८ १/२ ॥

भार्यादिप्रातिकूल्येन गृहे सेवाद्यसम्भवे ॥ ३९ ॥
त्यागं कृत्वा तु यः सेवायत्नं कुर्यात्स दुर्लभः । हर्यर्थमात्रचित्तस्तु नांशतोऽन्यगमानसः ॥ ४० ॥
पत्नी आदि की प्रतिकूलता से गृह में सेवादि असंभव होने पर तो, जो त्याग करके सेवा का यत्न करता है, वह तो मात्र हरि में चित्त रखनेवाला, अंशतः भी अन्य मन न करने वाला ऐसा दुर्लभ होता है ॥ ४० ॥

अनेनास्मिन्नपि प्रोक्ता कल्पेऽव्यावृत्तिरुत्तमा ।
इससे, इस पक्ष में अर्थात् गृहस्थिति म भी अव्यावृत्ति उत्तम कही है ॥ ४० १/२ ॥

लभते च स्वतः सिद्धदार्ढ्यां भक्तिं परां हरौ ॥ ४१ ॥
मोक्षदितो भक्तितश्चाधिकां व्यसनरूपिणीम् ।
एवं स्वतसिद्ध मोक्षादि से अधिक, सामान्यभक्ति से भी अधिक व्यसनरुपा, हरि की परम दृढ़ भक्ति प्राप्त करता है ॥ ४१ १/२ ॥

ननु त्यागं विधायैव कुर्याच्छ्रवणकीर्तने ॥ ४२ ॥
किमर्थं सेवना कार्या तनुवित्तयुता हरेः । चेतस्तत्प्रवणं सेवा सा तु तैरपि सिध्यति ॥ ४३ ॥
क्यों त्याग करके ही श्रवणकीर्तन करने चाहिए? किसलिए तनुवित्त से युक्त होकर हरि की सेवा करनी चाहिए?
चित्त की भगवान में प्रवणात्मिका सेवा तो उनके अर्थात् गृहस्थों द्वारा ही सिद्ध होती है॥ ४३ ॥

इति चेन्न यतस्त्यागे बाधकानन्त्यमीक्ष्यते । दुःसंसर्गान्नदोषाभ्यां दोषहेतुतया तयोः ॥ ४४ ॥
यदि ऐसी शंका हो तो, नहीं; क्योंकि दुःसंसर्ग एवं अन्नदोष के हेतु से त्याग में अनंत बाधक कह रहे हैं॥ ४४ ॥

अतो यया न दुःसङ्गदुष्टान्ने प्रतिबन्धके । स्यातां तथा हरिस्थाने देशदोषनिवारके ॥ ४५ ॥
अतः जिससे दुःसंग-दुष्टान्न प्रतिबंधक न हो ऐसे देशदोषनिवारक हरिस्थान में रहना चाहिए ॥ ४५ ॥

स्थेयं यतो हरिर्भक्तदुःखाभावाय हि स्थितः । तत्रापि चित्तदोषस्य सर्वथा विनिवृत्तये ॥ ४६ ॥
क्योंकि हरि, भक्तदुःख के अभाव के लिए ही स्थित हैं। वहाँ भी चित्तदोष की सर्वथा निवृत्ति के लिए रहना चाहिए॥ ४६ ॥

तदीयैः कृष्णसम्बद्धैः समर्पितनिजात्मभिः । तत्रापि कृष्णकथया सेवया चापि तत्परैः ॥ ४७ ॥
वहाँ भी, तदीय-कृष्णसंबद्ध-समर्पित कर दी है अपनी आत्मा कृष्ण को जिन्होंने ऐसे कृष्णकथा-कृष्णसेवा-तत्परों के भी संग रहना चाहिए ॥ ४७ ॥

यतः सत्सङ्गमो भक्तधर्मबोधेन[२] साधितः । तथा सहपदोक्त्यात्र सहभावेन[३] च स्थितिः ॥ ४८ ॥
जिससे भक्तधर्मबोध द्वारा सत्संग साधित होता है; वैसे 'सह' पद कहने के द्वारा यहाँ सदभाव से रहना कहा है ॥ ४८ ॥

अन्यथा कृष्णसेवायाः कथायाश्चाप्यसम्भवः ।
अन्यथा कृष्णसेवा एवं कथा की भी असंभावना है ॥ ४८ १/२ ॥

यदि ते भगवद्भक्ताः कृपयेयुः स्वभाग्यतः ॥ ४९ ॥
तदा दूरे तद्गृहे तत्सेवनायैः सहस्थितिः । तदान्नदोषदुःसङ्गौ बाधेयातां न सर्वथा ॥ ५० ॥
यदि वे भगवद्भक्त स्वभाग्य से कृपा करें; तब दूर अथवा उनके गृह में उनकी
सेवादि के द्वाग सहवास करना चाहिए; तब अन्नदोष-दुःसंग सर्वथा बाधा नहीं करेंगे॥ ५० ॥

---

२ भक्तधर्माः सत्सङ्गेन बुध्यन्ते, एवंप्रकारेण सर्वत्र सत्सङ्गमः साधित इत्यर्थः । ३ एकग्रामस्थित्यापि सहभावः सम्भवतीति सहस्थितिबोधनार्थं मूले सहपदमिति भावः ।

तत्रैव देहनिर्वाहस्तत्सङ्गेनैव च स्थितिः । तथाविधमहाभाग्याभावेन यदि तादृशाः ॥ ५१ ॥
न स्थापयेयुर्निकटे विप्रकर्षे तदा स्थितिः ।
'वहीं देहनिर्वाह' एवं 'उनके संग द्वारा ही रहना' ऐसे महाभाग्य के अभाव से एवं यदि
तादृश, भक्त को स्वयं के निकट न रखें, तब दूर रहना चाहिए॥ ५१ १/२ ॥

वाशब्दोक्त्या न कोप्यत्र विशेषः पक्षयोर्द्वयोः ॥ ५२ ॥
'वा' शब्द कहने के द्वारा यहाँ दोनों पक्षों में कोई भी विशेष नहीं है॥ ५२ ॥

यथाकथञ्चित्संतोष्याः सन्तः सन्मार्गवर्तिभिः । यथा तेषां सतां चित्तं न स्वस्योपरि दुष्यति ॥ ५३ ॥
जिस प्रकार संतो का चित्त स्वयं पर दूषित न हो वैसे, सन्मार्गवर्तकों द्वारा सन्तों को यथाकथञ्चित् संतुष्ट रखना चाहिए॥ ५३ ॥

तथा विनयसौजन्यसेवाभक्त्यादिभिः स्थितिः । अथवा स्वस्य वा चित्तं यथा तदुपरि स्वतः ॥ ५४ ॥
न दुष्यति तथा स्थेयं तद्दोषापरिभावनैः ।
एवं, विनय-सौजन्य-सेवा-भक्ति आदि के द्वारा रहना चाहिए। अथवा स्वयं का चित्त जिस प्रकार उन पर दूषित नहीं होता, वैसे उनमें दोष की अपरिभावना द्वारा रहना चाहिए॥ ५४ १/२ ॥

यद्वान्यदीयसंसर्गं[2] चित्तदोषकरं परं ॥ ५५ ॥
विहाय भगवद्भक्तैः सह स्थेयं विशेषतः ।
अथवा अन्यों का संसर्ग चित्त में परमदोष करने वाला है अतः उसे छोड़कर विशेषरुप से भगवद्-भक्तों के संग रहना चाहिए॥ ५५ १/२ ॥
यथा प्रथमपक्षे[3] तु प्रेमासक्त्यादिसम्भवे ॥ ५६ ॥
बीजदार्ढ्यं तथात्रापि सेवया कीर्तनेपि च । दृढासक्तौ न भावस्य देहादेर्वापि नाशनम् ॥ ५७ ॥
जिस प्रकार प्रथमपक्ष में तो प्रेमासक्तिआदि संभव होने पर बीजदृढ़ता होती ह वैसे यहाँ भी सेवा द्वारा एवं कीर्तन से भी बीजदृढ़ता होती है। दृढ़ासक्ति होने पर भाव का अथवा देहादि का भी नाश नहीं होता॥ ५७ ॥

यस्येति दुर्लभा त्यागपक्षे प्रोक्ताधिकारिता । यतस्तस्मिन्हि कल्पे तु क्रमेणासक्तिसम्भवः ॥ ५८ ॥
'यस्य' इस पद से त्यागपक्ष में दुर्लभ अधिकारिता कही है। जिससे, उस कल्प में निश्चय ही क्रमशः आसक्ति होती है॥ ५८ ॥

अत्र तु स्यात्स्वतो दार्ढ्ययुता भाग्ये तथाविधे । कापीति पदतो लोकवेदौ भक्तिश्च रूपिता ॥ ५९ ॥
यहाँ तो उसप्रकारक भाग्य होने पर भक्ति स्वयं दृढ़युक्त होती है। एवं 'क्वापि' पद से लोकवेद में भक्ति रुपित की है॥ ५९ ॥

सम्यक्प्रकारकस्थित्या कीर्त्या लोके न नाशनम् । त्यागपक्षस्थितौ कर्मत्यागान्न श्रुतिनाशनम् ॥ ६० ॥
भलीभाँति प्रकार से रहने से, कीर्ती से, लोक में उस दृढ़बीज का नाश नहीं होता। त्यागपक्ष में रहने पर, कर्मत्याग से श्रुति का अर्थात वैदिक मार्ग का नाश नहीं होता॥ ६० ॥

भगवद्भक्तसङ्गेन भक्तिमार्गे न नाशनम् । दुःसंसर्गान्नदोषौ च नैव प्रभवतो यतः ॥ ६१ ॥
भगवद्-भक्त के संग से भक्तिमार्ग में नाश नहीं होता। क्योंकि दुःसंसर्ग एवं अन्नदोष प्रभावकारी नहीं ही होते॥ ६१ ॥

तादृशस्यापीति वाक्ये यथापूर्वं गृहस्थितिः । बाधिकोक्ता तथात्रापि विच्छेदो बाधको मतः ॥ ६२ ॥
'तादृशस्यापि' इस वाक्य में जैसे पूर्व में गृहस्थिति को बाधक कहा, वैसे यहाँ भी विच्छेद अर्थात् बाधक कहा है॥ ६२ ॥

यावज्जीवमिति प्रोक्तमत एव पदं पुनः । एतेन त्यागपक्षाणामन्यासक्तिर्निवारिता[1] ॥ ६३ ॥
अतएव जा 'यावज्जीवं' पद पुनः कहा। इससे, त्यागपक्षवालों की अन्य आसक्ति निवारित की जा रही है॥ ६३ ॥

तयैव चात्र विच्छेदस्तदभावे न नाशनम् । मतिर्ममेति यत्प्रोक्तं तदभिप्राय ईदृशः ॥ ६४ ॥
एवं उस गृहस्थिति स यहाँ विच्छेद है, उसका अभाव होने पर नाश नहीं होता है। 'मतिर्मम' जो कहा उसका अभिप्राय ऐसा है कि ॥ ६४ ॥

कदाचिद्दूरदृष्टेन भगवत्प्रियरोषतः । दुर्बुद्धौ तदतिद्रोहाद्भगवत्प्रतिबन्धतः ॥ ६५ ॥
नाशोपीति यतो वाक्ये संदेहो विनिरूपितः ।

---

१ हरिस्थानवासपक्षादिदं पक्षान्तरं, न तु त्यागपक्षात् । २ अत्यागपक्षे । ३ हरिस्थानवासः, सेवापरता, कथापरता चेति त्यागे त्रय पक्षा उक्ताः ।

कदाचित् भाग्य से, भगवत्-प्रियजन के रोष द्वारा दुर्बुद्धि होने पर उससे अतिद्रोह से भगवत्प्रतिबंध से, नाश भी है? इस वाक्य में संदेह निरुपित कर रहे हैं ॥ ६५ १/२ ॥

ननु त्यागं विधायान्यसङ्गः किमिति बोधितः ॥ ६६ ॥

ज्ञानिनामिव संसर्गमात्रत्यागो न चोदितः । त्यागे त्वेकान्तवसतिर्विशेषेण च साधिका ॥ ६७ ॥

त्याग कहकर अन्यसंग को क्यों बोधित कर रहे हैं? ज्ञानियों की भाँति संसर्गमात्र का त्याग क्यों नहीं कह कहे हैं? त्याग में तो एकांतस्थिति विशेषरुप से भक्ति की साधिका होती है ॥ ६७ ॥

तत्रोत्तरं तु भावस्य बाधनं हृदयस्थितैः । कामादिभिर्जीवधर्मैर्यावत्सम्भाव्यते पुनः ॥ ६८ ॥

तावदेकान्तवासस्तु नेष्टो बाधानिराकृतेः ।

उसका उत्तर तो यह है कि हृदयस्थिति कामादि जीवधर्मों के द्वारा जब तक भाव की पुनः बाधा संभावित होती है, तब तक एकांतवास तो बाधा का निराकरण न होने से इष्ट नहीं है॥ ६८ १/२ ॥

कामादयो भावनाभिर्नाशयन्ति क्षणान्मनः ॥ ६९ ॥

कामादि भावनाओं से क्षण में मन नष्ट हो जाता है॥ ६९ ॥

न तत्र दोषनाशाय सहायोस्ति रहःस्थितौ । भक्तिमार्गप्रकारेण हरिश्चापि तिरोहितः ॥ ७० ॥

एकांतस्थिति में दोषनाश के लिए वहाँ कोई सहायक भी नहीं है। एवं भक्तिमार्गप्रकार द्वारा हरि भी वहाँ तिरोहित हैं॥ ७० ॥

भक्तिमार्गीयकार्याय न व्यापकतया स्थितिः । अतो न रक्षकः कोपि तस्यैकान्तस्थितौ भवेत् ॥ ७१ ॥

भक्तिमार्गीयकार्य के लिए व्यापकतया स्थित नहीं हैं। अतः एकांतस्थिति में उसका कोई भी रक्षक नहीं होता है॥ ७१ ॥

तुशब्देन ततोन्योपि त्यागपक्षोत्र सूचितः । अत्र[४] प्रबलबाधोपि दुर्बलत्वेन रूपितः ॥ ७२ ॥

इसके पश्चात् 'तु' शब्द से अन्य त्यागपक्ष भी यहाँ सूचित है। यहाँ, ज्ञानमार्ग में कही प्रबलबाधा भी भक्तिमार्ग में दुर्बलता से रुपित की गई है ॥ ७२ ॥

हरिरत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोपरे । अतो न रक्षकापेक्षा सिद्धत्यागे विधीयते ॥ ७३ ॥

यहाँ हरि बाधा नहीं कर सकते ता दूसरे क्या? सं.नि.१९ । अतः सिद्धत्याग में रक्षा की अपेक्षा नहीं है॥ ७३ ॥

स्वास्थ्यहेतोः परित्यागादिति वाक्यात्प्रभूदितात् । यदा तु साधनदशा तदापेक्ष्यं हि रक्षणम् ॥ ७४ ॥

स्वास्थ्यहेतु से अर्थात् विरहानुभव के लिए परित्याग द्वारा एवं प्रभु द्वारा कहे वाक्य से जब साधनदशा हो, तब तो निश्चय ही रक्षण अपेक्षित है॥ ७४ ॥

भक्तानां रक्षकः कृष्णो नान्य इत्येष निश्चयः ।

भक्तों के रक्षक कृष्ण हैं, अन्य नहीं, यह निश्चय है ॥ ७४ १/२ ॥

स तु सन्निहितो नित्यं लीलास्थाने तथा पुनः ॥ ७५ ॥

एवं फिर वे तो लीलास्थान में नित्य सन्निहित हैं॥ ७५ ॥

यत्र वा भगवद्भक्ताः सेवया कथया युताः ।

अथवा जहाँ सेवाकथायुक्त भगवद्भक्त हैं वहाँ रहना चाहिए ॥ ७५ १/२ ॥

स्वभावतो दुःखहर्ता निजाश्रितजनाश्रितान् ॥ ७६ ॥

नोपेक्षते यतस्तत्र स्थेयं यत्र स्थितो हरिः ।

क्योंकि जहाँ रहने पर स्वभाव से दुःखहर्ता हरि, निजाश्रितजनों के आश्रितों की उपेक्षा नहीं करते, वहाँ रहना चाहिए॥ ७६ १/२ ॥

तत्रापि सर्वतो रक्षा नान्यसाध्या न संशयः ॥ ७७ ॥

वहाँ भी सभी प्रकार से, ''अन्यों से असाध्य'' ऐसी रक्षा करते हैं, इसमें संशय नहीं है॥ ७७ ॥

---

४ मुख्ये सर्वथा त्यागपक्षे ।

यतः कालवशाः कालकर्मादिभ्यो न रक्षकाः । तुशब्देन स्वभावोपि हरेरेष निरूपितः ॥ ७८ ॥
क्योंकि काल के वशी कालकर्मादि भी रक्षक नहीं है। 'तु' शब्द से हरि का यह स्वभाव भी निरुपित किया है॥ ७८ ॥

संशयाभावकथनं तत्र भक्तवशो हरिः । भक्तभक्तानपि सतो रक्षति स्वगतानिति ॥ ७९ ॥
वहाँ संशय का अभाव कहने से हरि 'भक्तवश' होते हुए स्वगत-भक्तों के भक्त की भी रक्षा करते हैं॥ ७९ ॥

रक्षणं कालकर्मादेस्तथा भावान्तरादपि । पक्षद्वयेन भक्तेस्तु वृद्धिरेवं निरूपिता ॥ ८० ॥
'कालकर्मादि से रक्षण' एवं 'भावान्तर से भी रक्षण' इस प्रकार तो दोनों पक्षों के द्वारा भक्ति की वृद्धि निरुपित की है॥ ८० ॥

इतिशब्दः समाप्त्यर्थोन्यप्रकारनिषेधकः । एतावता हि भगवच्छास्त्रमेव निरूपितम् ॥ ८१ ॥
'इति' शब्द समाप्ति के अर्थ में अन्यप्रकार का निषेधक है। निश्चय इतना ही भगवत्शास्त्र में निरुपित किया है॥ ८१ ॥

यतस्तद्गूढतत्त्वं हि ततोन्येषां सुदुर्गमम् । तत्त्वमेतावदेवास्य तस्मिन्नत्र निरूपिते ॥ ८२ ॥
क्योंकि वह गूढ़तत्व निश्चय ही अन्यों से सुदुर्गम है। वह तत्व यहाँ, इस शास्त्र में इतना ही निरुपित किया गया है॥ ८२ ॥

तदेव सकलं शास्त्रं निरूपितमितीरितम् । एतदध्ययनात्सम्यग्वृद्धिं याति रतिर्हरौ ॥ ८३ ॥
वही सकल शास्त्र निरुपित किया है अर्थात् कहा है। इसका भलीभाँति अध्ययन करने से हरि में रति होती है एवं भक्ति वृद्धि को प्राप्त होती है॥ ८३ ॥

सम्यक्त्वं श्रद्धया भक्त्या तथा विश्वासतो गुरौ । य इत्यनेन वर्णादिनियमोधिकृतौ न हि ॥ ८४ ॥
'सम्यक्त्व', श्रद्धा से, भक्ति से एवं गुरु पर विश्वास से होता है। 'य' इस पद द्वारा निश्चय ही यह भक्ति वर्णादिनियम के अधिकृत नहीं है॥ ८४ ॥

अपिशब्देन कैमुत्यन्यायोप्यत्र निरूपितः । ग्रन्थपाठादपि रतेर्वृद्धिर्यत्र तदा किमु ॥ ८५ ॥
वाच्यामाचरणे साधु सभायामुपदेशने ।
'अपि' शब्द से 'कैमुतिक न्याय' भी यहाँ निरुपित किया है अर्थात् जहाँ ग्रंथपाठ से भी रतिवृद्धि होती है, वहाँ आचरण करने पर तो क्या कहना एवं साधुसभा में उपदेश करने पर क्या कहना? ॥ ८५ १/२ ॥

तत्रापि[१] भक्तिर्वृद्धापि दृढोक्ता पाठमात्रतः ॥ ८६ ॥
वहाँ भी पाठमात्र से ही कहे 'दृढ़' शब्द से भक्तिवृद्धि कही गई है॥ ८६ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यकरुणालब्धशक्तितः स्वसन्तोषाय भावस्य पोषायातिप्रयत्नतः ॥ ८७ ॥
श्लोकरूपेण सर्वापि विवृता भक्तिवर्धिनी । यथामति निजाचार्यचरणाश्रयणादपि ॥ ८८ ॥
इस प्रकार, श्रीवल्लभाचार्यकरुणा से प्राप्त शक्ति द्वारा, स्वसंतोष के लिए एवं भावपोषण के लिए अतिप्रयत्न द्वारा, निजाचार्यचरणों के आश्रय द्वारा भी, सभी श्लोकरूप से भक्तिवर्धिनी की यथामति विवृत्ति की ॥ ८७, ८८ ॥

एतेनास्मत्कुलपतिः प्रभुः श्रीविट्ठलेश्वरः । प्रसीदतु सदा दासे हरिदासे स्ववंशगे ॥ ८९ ॥
इस विवृति से हमारे कुलपति प्रभुश्रीविट्ठलेश्वर, स्ववंशज-दासहरिदास पर सदा प्रसन्न हों ॥ ८९ ॥

इति श्रीहरिदासविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।
यह श्रीहरिदासविरचित भक्तिवर्धिनी समाप्त हुई ।

---

१ 'तत्रापि भक्तिर्वृद्धापि प्राप्यते सुदृढा हरौ । पाठमात्रेण तेनैषा संसेव्या भक्तिवर्धिनी ।' इत्यधिकं कचित् ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगोपेश्वरविरचितविवृतिसमेता ।

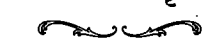

श्रीवल्लभाचार्यचरणवारिरुहेभ्यो नमः । श्रीविट्ठलपदपङ्केरुहेभ्यो नमः ।
यत्पदाम्भोजभजनाद्भवन्ति समसिद्धयः । कलयामि कृपावार्धिं तं प्रभुं भक्तिवृद्धये ॥
निधाय श्रीमदाचार्यचरणाब्जयुगं हृदि । तत्कृपातो यथाशक्ति व्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥
भगवद्रसपीयूषपायिनो यत्कृपायुजः । भवन्ति ..... भक्त्या तं श्रीविट्ठलमाश्रये ॥
श्रीमत्कल्याणरायाख्याननुकम्पायोनिधीन् । नमामि तातचरणानहं स्वाभीष्टसिद्धये ॥

अथ मायावादादिदुरध्वेति[1]वाजालमहेन्द्रजालजनितजनताव्यामोहमूलनिर्मूलेनसमर्थामितागमनिगमान्तस्मृतिपुराणतत्त्वसूत्रादिप्रमाणशतप्रतिपन्नप्रपन्नजनप्रतिक्षणक्षेमंकरप्रभ्वाज्ञाप्रादुर्भावितततद्भक्तिमार्गेणातिकरालकलिकालविलुप्तकर्माद्यधिकारान् भगवदीयकृपादृक्पातसंजातभक्तिमार्गश्रद्धाद्याधिक्यसमधिगतैतदधिकारानपि भक्तितत्प्रवृद्धिकरोपायविशेषपरिचयाभावप्रभवप्रचुरक्लेशकरंबितान्तःकरणान्प्राणिनः समुद्धिीर्षवः परमकृपालवः श्रीवल्लभाचार्यचरणा भक्तितत्प्रवर्धकोपायनिरूपणं प्रतिजानते यथेति ।

श्रीवल्लभाचार्यचरणकमलों को नमन। श्रीविट्ठलचरणकमलों को नमन।
जिनके चरणकमल के भजन से अच्छी तरह सिद्धियाँ होती हैं। उन कृपासागरप्रभु को मैं भक्तिवृद्धि के लिए प्रणाम करता हूँ॥
श्रीमदाचार्यचरणकमलयुग्म को हृदय में धारण कर। उनकी कृपा से यथाशक्ति भक्तिवर्धिनीव्याख्या करुँगा॥
जिनकी कृपा से युक्त होकर (जीव) भगवद्रसपीयूषपेयी होते हैं, उन श्रीविट्ठल का मैं भक्ति से आश्रय करता हूँ॥
''श्रीमत्कल्याणराय'' नामवाले कृपासागर-तात चरणों को मैं स्वाभीष्ट सिद्धि के लिए नमन करता हूँ ॥

अथ, मायावादादि दुर्गम मार्ग से, वाक्जाल-महेन्द्रजाल से जनित जनता के व्यामोहमूल को निर्मूल करने के लिए वेद-उपनिषद्-स्मृति-पुराण-तत्वसूत्रादिसमर्थक प्रमाणशत से उत्पन्न, शरणागत जनों को प्रतिक्षण कल्याणकारी, प्रभुआज्ञा से प्रादुर्भावित भक्तिमार्ग द्वारा, अति कठिन कलिकाल से विलुप्त कर्मादि अधिकारी को भगवदीयों की कृपादृष्टि पड़ने से उत्पन्न भक्तिमार्ग की श्रद्धाधिक्य से प्राप्त हुए इन अधिकारों को भी भक्तिप्रवृद्धि करने के विशेष उपायों से परिचय के अभाव से उत्पन्न प्रचुरक्लेश से प्राणियों के दुःखी अंतःकरण का भलीभाँति उद्धार करने के इच्छुक, परमकृपालु श्रीवल्लभाचार्यचरण भक्तिप्रवर्धक उपाय निरुपण करने की प्रतिज्ञा **यथा** इन शब्दों से कर रहे है। अर्थात् संक्षेप में यो समझें कि मायावाद का मार्ग कठिन है। वह वाक्जाल/महेन्द्रजाल आदि को पैदा करनेवाला है। अतः जनता उससे व्यामोहित है। उस व्यामोह को निर्मूल करने के लिए भक्तिमार्ग अर्थात् पृष्टिमार्ग है, जो वेद-उपनिषद्-स्मृति-पुराणादि से प्रमाणित है एवं जो शरणागतों के लिए कल्याणकारी है एवं प्रभु आज्ञा से प्रकट हुआ है। अब अति कठिन कलिकाल के कारण प्राणियों अर्थात् जीवों के कर्मादि अधिकार विलुप्त हो गये हैं एवं भले ही वे जीव श्रद्धा की अधिकता से भक्तिमार्ग में प्रविष्ट हो गये हैं तथापि उन्हें भक्तिप्रवृद्धि के विशेष उपायों का परिचय नहीं है। अतः क्लेश से उनका अंतःकरण दुःखी है। उनका उद्धार करने के इच्छुक श्रीवल्लभाचार्य हैं। अतः वे उन उपायों का निरूपण **यथा** इन शब्दों से कर रहे हैं।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥१॥

यथा येन प्रकारेण भक्तेः प्रकृष्टा वृद्धिर्भवति, तथा तेन प्रकारेण उपायो निरूप्यते, विविच्य कथ्यत इत्यर्थः । ननु श्रीभागवतगीतादिषु भक्तितद्वृद्धिनिदानभूतदानव्रतादीनामुपवर्णितत्वेन तत एव तदवगतेरनर्थकमेतन्निरूपणमिति चेत् । अत्र वदन्ति । भक्तिर्हि द्विविधा, साधनरूपा फलरूपा च । तत्राद्यायां दानव्रतायुपायपूर्वकत्वमिति तदुत्पत्तिवृद्धिप्रकाराः सुप्रसिद्धाः, न द्वितीयस्याः । अतस्तस्याः स्वयं प्रकटिताया वृद्धिप्रकारनिरूपणमुचिततरं भवतीति । वस्तुतस्तूभयविधभक्तिवृद्ध्युपाय एव निरूपणीयत्वेनात्राभिमत इत्याभाति, श्रवणकीर्तनाद्युभयसाधारणसाधनानामग्रेऽभिधानात् । न चैषामुभयरूपत्वमनुपपन्नमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रफलत्वफलान्तरसाधकत्वप्रतिसन्धानपूर्वकविधानेनोभयरूपतायाः सम्भवात् । नन्वेवं सत्येतेषामन्यत्र निरूपितत्वेनात्रापि निरूपणे क्रियमाणे पौनरुक्त्यदोषो

१. अत्राशुद्धमिव भाति ।

दुष्परिहर इति चेत् । न । अन्यत्र धर्मान्तरव्यतिकरेणानिर्लुठिताकाराणामेषां व्यक्तमवश्यं वक्तव्यतयोक्तदोषस्य वक्तुमनुचितत्वात् । न पुनरुक्तता महान्दोषः, शतकृत्वोपि पथ्यं वक्तव्यमिति न्यायात् । भक्तिप्रवृद्धिः कदा भवेदित्याकांक्षायामाहुः बीजभावे दृढे तु स्यादिति । बीजभावे स्वल्पस्नेहे दृढे व्यसनरूपे सति भक्तेः सर्वांशेन वृद्धिर्भवेदित्यर्थः ।

जैसे, जिस प्रकार से भक्ति में प्रकृष्ट वृद्धि होती हैं, वैसे उस प्रकार से उपाय निरुपित अर्थात् विवेचन कर रहे हैं, यह अर्थ है। यदि यहाँ, ''श्री भागवत-गीता में भक्तिवृद्धि के निदानभूत दानव्रतादि के उपवर्णित होने से, वहीं अवगत होने से यह निरुपण अर्थरहित है'' ऐसी शंका हो तो? यहाँ कह रहे हैं कि भक्ति निश्चित रूप से दो प्रकारक है 'साधनरूपा' एवं 'फलरूपा'। वहाँ प्रथमतः साधनरूपा दानव्रतादि उपायपूर्वक उसकी उत्पत्तिवृद्धि प्रकार सुप्रसिद्ध हैं, द्वितीय की नहीं। अतः उसकी स्वयं प्रकटितवृद्धि के प्रकार का निरुपण उचिततर है। वस्तुतः तो दोनों प्रकार की ही भक्तिवृद्धि के उपाय निरुपण करने का अभिमत आभासित होता है, श्रवणकीर्तनादि दोनों साधारण साधनों का आगे अभिधान होने से। एवं, इनका उभयरुप (साधनरूप एवं फलरूप) अनुचित है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, स्वतंत्रफलत्व एवं फलान्तरसाधकत्व के अनुसंधानपूर्वक विधान द्वारा उभयरुप संभव होने से । 'स्वतंत्रफलत्व' का अर्थ होता है, पुष्टिमार्ग में प्राप्त होता साक्षात् पुरुषोत्तम का फल एवं 'फलान्तरसाधकत्व' का अर्थ है, मर्यादामार्ग में प्राप्त होता पुरुषोत्तम की विभूतियों का फल। टीकाकार कह रहे हैं, कि वेदपुराणों में इन दोनों फलों की चर्चा की गई है। अतः ये दोनों संभव हैं। अतः इन्हें अनुचित नहीं मानना चाहिए, यह अर्थ है। यदि यहाँ ''ऐसा होने पर इनका साधनरूप/फलरूप अन्यत्र निरुपण अन्यत्र होने से यहाँ भी निरुपण करने पर पौनरुक्त्य दोष दुष्परिहर है ऐसी'' शंका करें तो? टीकाकार पूर्वपक्ष उठा रहे हैं। वे कह रहे हैं, कि भक्ति के साधनरुप एवं फलरूप पूर्व में अर्थात् वेद पुराणों में निरुपित हैं ही, तब क्या इन्हें पुनः निरुपित करने पर एक ही बात को पुनः कहने का दोष नहीं लगेगा? नहीं। कहा गया है (पुनुरुक्तिः दोष अनुचित है। अन्यत्र वे साधन एवं फल भक्तिमार्ग-धर्म से भिन्न अन्य धर्मों की अधिकता से शुद्धतया कहे अवश्य हैं किंतु मात्र कहने के लिए, अतः कहा गया पुनरुक्ति दोष अनुचित है। अर्थात् अन्यत्र वेद पुराणों में भक्ति की साधनरूपता एवं फलरूपता अवश्य कही गयी है। परंतु भक्तिमार्ग से भिन्न मर्यादामार्गरूप से कही है। एवं कहनेमात्र के लिए ही, उनका स्पष्टतया निरूपण नहीं हुआ है। अतः 'पुनरुक्तिदोष' यहाँ युक्त नहीं है। सौ बार करके भी, 'पथ्य' कहना चाहिए'' उस न्याय से पुनरुक्तता महान दोष नहीं है। भक्तिप्रवृद्धि कब होगी? यह आकांक्षा होने पर **बीजभावे दृढ़े तु स्यात्** इन शब्दों से कह रहे हैं। बीजभाव (अर्थात्) स्वल्पस्नेह के दृढ़ व्यसनरूप होने पर भक्ति में सर्वांश से वृद्धि होगी, यह अर्थ है।

यद्वा । बीजभावे स्वाचार्यानुग्रहसंसिद्धभगवन्निवेदनानन्तरभाविभगवदङ्गीकारे दृढे अतिस्थिरे केनाप्यचाल्ये सति सा स्यादित्यर्थः । न च भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वाद् ज्ञाननैव तदवाप्तेर्भक्तिवृद्धिरनभिलषितेति वाच्यम् । भक्तेः स्वतन्त्रफलत्वेन तद्वृद्धेः सर्वाकांक्षणीयत्वात् । कथमन्यथा मुक्तमूर्धाभिषिक्तः श्रीशुकी भृशं भक्तावनुरक्तोऽभूत् । कथं वानारतनिवृत्तिनिरताः सनकादयोपि भक्तावत्यासक्ता आसन् । अत एव 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्च' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ती' त्यादिवाक्यानि । नापि भक्तिं विना कृतं ज्ञानं कैवल्यकरणीभवितुमर्हति, भक्तिसहितस्यैव तस्य मुक्तिसाधकत्वात् । 'श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्ये'ति वाक्यात् । ननु यथाकथञ्चिन्मुक्तिहेतुत्वोक्तावपि भक्तेः स्वतन्त्रफलत्वं न सुप्रतिपदमिति चेत्? भ्रान्तोसि । स्वतः पुरुषार्थत्वेन कृतायास्तस्यास्तथात्वस्य दुर्वारत्वात् । अत एव प्रभुचरणैरभाणि भक्तिहंसे 'स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिरुत्तमः पुष्टिरूप' इति । एवं सति 'मत्सेवया प्रतीतं च' 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत' 'मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गुः,' 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी' 'भगवान्भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्सम न भक्तियोगम्' 'एवं धर्मैर्मनुष्याणाम्' 'भक्तिं लब्धवतः' 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या,' 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये' त्यादिवचनानि सङ्गच्छन्ते ।

अथवा। बीजभाव में, स्वाचार्य-अनुग्रहपूर्ण भगवद्-निवेदन के पश्चात् भावि भगवद्-अंगीकार दृढ़, अतिस्थिर, किसी से भी अचलित होने पर, वृद्धि होगी, यह अर्थ है। एवं, भक्ति का हेतु मुक्ति न होने से; ज्ञान से ही वह मुक्ति प्राप्त होने से, ''भक्ति अनभिलषित है'' ऐसा नहीं कहना चाहिए। समझना चाहिए कि भक्ति का अपना स्वतंत्र फल है। भक्ति का हेतु 'मुक्ति' नहीं है, यदि ऐसा होता तो 'मुक्ति' तो ज्ञान से भी प्राप्त हो सकती है। तब 'मुक्ति' के लिए भक्ति करने की क्या आवश्यकता है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। यदि भक्ति को मुक्ति प्राप्त करने का हेतु कह देंगे तो फिर भक्ति अनभिलषित सिद्ध हो जायेगी अतः टीकाकार कह रहे हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि .....भक्ति का स्वतंत्र फल होने से एवं उसकी वृद्धि सर्वाकांक्षणीय होने से। अन्यथा मुक्तशिरोमणि श्रीशुकदेवजी पुनः भक्ति में अनुरक्त क्यों हुए? क्यों सदा वैराग्य में निरत रहने वाले सनकादि भी भक्ति में आसक्त हुए? अतएव ''निर्गुणब्रम्ह में परिनिष्ठ होने पर भी (श्री.भा.२/१/९)'', ''आत्मरमण करनेवाले (श्री.भा.१/७/१०)'', ''मुझसे सायुज्य की भी इच्छा नहीं करते (श्री.भा.३/२५/३४)'' इत्यादि वाक्य हैं। न ही भक्ति बिना किया गया ज्ञान मुक्ति कर सकता है (अपितु) भक्तिसहित ही उसके मुक्तिसाधक होने से। अर्थात ज्ञान भी भक्ति के बिना मुक्तिप्रापक नहीं हो सकता वह भक्ति के साथ ही मुक्ति का साधक हो सकता है, यह अर्थ है। ''आपकी श्रेयस्कर भक्ति त्याग कर (श्री.भा. १०/१४/४) इत्यादि वाक्यों से। यदि यहाँ ''जिस किसी प्रकार से

भक्ति में मुक्तिहेतु कहा होने पर भी भक्ति का स्वतंत्रफल भलीभाँति प्रतिपद में नहीं कहा, ऐसी शंका करे तो? अर्थात् यदि मान लिया जाय कि जिस किसी भी प्रकार से भक्ति को मुक्ति का हेतु बताया भी हो परंतु भक्ति का स्वतंत्रफल तो किसी श्लोक में भलीभाँति नहीं बताया गया है यदि ऐसी शंका हो तो? यह कहना चाह रहे हैं। तुम भ्रांत हो। स्वतः पुरूषार्थरूप होने से की गई भक्ति का स्वतंत्रफल न हटाया जा सकने से। अतएव प्रभुचरणों ने 'भक्तिहंस' में स्नेह की उत्पत्ति के अनंतर स्वव्यसन से स्वतंत्र पुरूषार्थ रूप से किए गये श्रवणादि (धर्म) उत्तम अर्थात् पुष्टिरूप होते हैं'' यह कहा है। ऐसा होने पर ''एवं मेरी सेवा से प्राप्त (श्री.भा. ९/४/६७)'' ''सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्य भी (श्री.भा.३/२९/१३)'' ''मधुसूदन की सेवा में अनुरक्त मनवालों को मोक्ष भी तुच्छ है (श्री.भा.५/१४/४४)'' भगवान-मुकुंद, भजने वालों को कदाचित् मुक्ति देते हैं, भक्तियोग नहीं (श्री.भा.५/६/१८), ''इस प्रकार धर्मो का पालन करके मनुष्यों को (श्री.भा. ११/१९/२४)'', ''जिसे भक्ति प्राप्त हो गई हो (श्री.भा. ११/२६/३०)'', ''उत्पन्न-भक्ति द्वारा भक्ति (श्री.भा. ११/३/३१)'', ''अतएव मेरी भक्ति से युक्त को (श्री.भा. ११/२०/३१)'' इत्यादी वचन उपर कहे अर्थ के सहगामी होते है।

तद्बृद्धावतिरिक्तानि साधनान्याहुः त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति। भक्तिमार्गविरोधिदेवान्तराश्रयादेस्त्यागाद्भगवन्नामचरित्रादेः श्रवणात्कीर्तनाच्च । कर्मणोरिव श्रवणकीर्तनयोर्विरोधो नास्तीति बोधनार्थमेकवद्भावः । श्रवणकीर्तनयोरुपलक्षणत्वेन स्मरणस्वाचार्यभक्ति-विश्वासादीनामपि संग्रहः । न चाप्रमाणसिद्धान्यन्याश्रयत्यागश्रवणादीनीति वाच्यम् । 'यो वै स्वां देवतामयिजते, प्रस्वायै देवतायै च्यवते, न परां प्राप्नोति, पापीयान्भवति' 'यावदन्याश्रयस्तावत्', 'अनन्यचेताः सततं,' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्,' 'प्र तत्ते अद्य शिपिविष्टः नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्, तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयंतमस्य रजसः पराके' 'तस्मात्सर्वात्मना राजन्' 'तस्माद्भारत' 'तस्मादेकेन' 'तमु स्तोतारः' 'शृण्वन्गृणन्संस्मरयन्' 'शृण्वन्ति गायन्ती' त्यादिभृतिपुराणवाक्यसिद्धत्वात् ॥ १ ॥

भक्ति की वृद्धि में अतिरिक्त साधनों को **त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्** इन शब्दों से कह रहे हैं। भक्तिमार्ग विरोधी अन्य देवों के आश्रयादि के त्याग से एवं भगवन्नाम, चरित्रादि के श्रवणकीर्तन से (बीजभाव दृढ़ होगा); कर्म की भाँति श्रवणकीर्तन में विरोध नहीं है, यह बोध कराने के लिए (श्रवणकीर्तन) का एकवद् भाव है। श्रवण -कीर्तन के रूपलक्षण द्वारा स्मरण, स्वाचार्यभक्ति में विश्वास आदि का भी संग्रह है। एवं, अन्याश्रयत्याग, श्रवणादि अप्रमाणसिद्ध हैं ऐसा ''जो अपने देवता के यज्ञ का अतिक्रमण करता है; अपने देवता (के स्वरूप) से च्युत होता है (वह) परा(तत्व) को प्राप्त नही होता, पापी होता है (वि.सू.),'' ''जब तक अन्याश्रय है तब तक'' ''अनन्य चित्त से सतत (भ.गी. ८/१४)'', अनन्यभाव से चिंतन करते हुए मुझे (भ.गी.९/२२)'', ''हे शिपिविष्ट विष्णु! समस्त पदार्थों के ज्ञाता, समस्तलोक से पर 'परमलोक' के स्वामी अब तुम्हारे उन नामं की प्रशंसा कह रहे हैं (ऋग्वेद ७/१००/५)'', ''इसलिए सभी प्रकार से राजन! (श्री.भा. २/२/३६) इसलिए हे भारत! परिक्षित (श्री.भा. २/१/५), ''अतः एकाग्र मन से (श्री.भा. १/२/१४)'', ''निश्चय ही, उनकी स्तुति करनेवाले (वि.सू.)'', ''श्रवण, कीर्तन, संस्मरण करते हुए (श्री. भा. १०/२/३७)'', ''श्रवण-गान करते हैं (श्री.भा. १/५/११; १२/१२/५१)'', इत्यादि श्रुतिपुराण वाक्यों से सिद्ध होने से, नहीं समझना चाहिए ॥ १ ॥

भक्तिवृद्धौ साधनान्यभिधाय तत्प्रतिभुवं प्रकारमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥२॥

तुशब्दः प्रकारान्तरव्यवच्छेदकः । बीजस्य भगवद्भावस्य दार्ढ्यजनकः प्रकारो भगवद्भजनलक्षण इत्यर्थः । यद्वा । बीजस्य पूर्वोक्तरूपस्य स इत्यर्थः । तमेवाहुः गृहेस्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिरिति । स्वधर्मतोऽग्निहोत्रादेर्गृहे अव्यावृत्तः कर्तव्यान्तरव्यासक्तिशून्यः स्थित्वाऽचञ्चलो भूत्वा कृष्णं सदानन्दं, 'कृषिर्भूवाचक' इति वाक्यात्, श्रवणादिभिः पूजया भजेदित्यर्थः । इह स्नेहाधिक्यवैधुर्येण विधीयमानायाः सेवायाः पूजासाम्यात्पूजापदमुक्तम् । तन्त्रायुक्तपूजायां शीतलशङ्खसलिलस्नानाद्यभिधानेन भक्तिमार्गविरोधात् । अथवा । ननु कृष्णभजनप्रकरणे तद्विभूतिविषयकागमायुक्तयज्ञोक्तेरयुक्तत्वेन प्रकृते कथं पूजापदोपादानमुपपद्यत इति चेत् । इत्थम् । सन्ति हि बहवो भावभजनप्रकाराः, तदन्तर्निविष्टा भवति भावपूर्विका पूजापि । अत एव शुद्धपुष्टिमार्गाचार्यैः प्रमेयप्रकरणीयसप्तमाध्याये 'पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकै'रित्यत्र गुणगाने हरिणीभावनिरूपणानन्तरं तद्भावदशः पूजारूपता निरूपिता । नहि तत्र तान्त्रिकी पूजा युज्यते जातुचित्, तस्याः पृथग्रूपत्वात् । तेनैवंभूतभावानुसारिणी सात्राभिधित्सितेति तदुपादानमविरोधि । न चैवमप्यन्ततो भक्तौ पर्यवसानेन तस्या एव वाच्यत्वात्संशयितपूजोक्तिरयुक्तेति वाच्यम् । श्रवणाद्यभक्तिनवकान्तर्गतस्वतन्त्रभावपूजायाः प्रकृते पुरस्करणीयत्वेन क्षतेरभावादिति ।

भक्तिवृद्धि के साधनों को कहकर उसके उत्पन्न होने का प्रकार बीजदार्ढ्य प्रकारस्तु इन शब्दों से कह रहे हैं।

'तु' शब्द अन्य प्रकारों का निषेध करने के लिए है। भगवद्भावबीज का दृढ़ताजनक प्रकार भगवद्भजनलक्षण है, यह अर्थ है।

अथवा। वह (भगवद्भजन) बीज का पूर्वोक्तरूप है। उसी को **गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः** इन वाक्यों से कह रहे हैं। स्वधर्मतः अर्थात् अग्निहोत्रादि द्वारा गृह में अव्यावृत्त इतर कर्तव्यों में व्यासक्तिशून्य होकर अर्थात् अचंचल होकर सदानंद श्रीकृष्ण को (कृष्ण में) 'कृष्' शब्द सत्तावाचक है इन वाक्यों से श्रवणादि द्वारा पूजा द्वारा भजना चाहिए यह अर्थ है। यहाँ स्नेहादि की प्रचुरता से विधीयमान सेवा की पूजा से समानता होने से 'पूजापद' कहा है तंत्रादि में कही पूजा में शीतलशंखजलस्नान आदि का अभिधान होने से एवं भक्तिमार्ग से विरोध होने से। अथवा। यदि यहाँ ऐसी शंका करें कि ''कृष्ण भजन'' प्रकरण में उनकी विभूति विषयक वेद में कहे गये यज्ञों को कहा होने से एवं वर्तमान में अयुक्त होने से 'पूजापद' कैसे उपपादित कर रहे है? यहाँ समझना चाहिए कि वर्तमान में अर्थात् इस भक्तिवर्द्धिनी ग्रंथ में 'पूजा' का तात्पर्य साक्षात् पुरूषोत्तम की भक्ति से है परंतु वेद में, तंत्रादि में पूजा का तात्पर्य शीतलशंखजलस्नान, यज्ञ, तपादि से है। अतः टीकाकार पूर्वपक्षी की शंका उठा रहे हैं कि यहाँ क्या 'पूजा' पद देना अयुक्त न होगा? यह अर्थ है। इस प्रकार। भावभजनप्रकार बहुत हैं; उनके अंतर्निविष्ट भावपूर्विका पूजा भी होती है। अतएव शुद्धपुष्टिमार्गआचार्यो ने प्रमेयप्रकरणीय सप्तमाध्याय में ''प्रेमभरे नेत्रों से श्रीकृष्ण की पूजा का विधान कर रही हैं (श्री.भा. १०/२१/११)'' यहाँ गुणगान में हरिणीभाव के निरुपण पश्चात् उस भाव के सदृश पूजारूपता निरुपित की है। वहाँ तांत्रिकी पूजा पृथकरूप होने से थोड़ी सी भी योजित नहीं की गई है। अतः इस प्रकारक भावानुसारिणी भावपूर्विका पूजा यहाँ भी अभिलषित है एवं उस पूजा पद देने का कारण अविरोधी है एवं इस प्रकार अंततः भक्ति में पर्यवसित होने से, उसे ही कहा होने से ''संशयित-पूजा का कथन अयुक्त'' है ऐसा नहीं कहना चाहिए। अर्थात् अंततोगत्वा वह पूजा तो भक्ति में ही पर्यवासित अर्थात् पूर्ण होती है अतः मूलपंक्ति में 'पूजा' पद देना अनुचित नहीं है यह कहना चाह रहे हैं। श्रवणादि को भक्तिनवक के अंतर्गत पूजा का स्वतंत्रभाव होने से, प्रकृत ग्रंथ में अग्रणीय कर दिया होने से क्षति नहीं है। टीकाकार कह रहे है कि इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में वर्णित नवधाभक्ति में भी 'पूजा' का अपना स्वतंत्र स्थान है अतः यहाँ अर्थात् इस ग्रंथ में उसे मुख्यतया कहने में कोई हानि नहीं है।

यद्वा । धर्मान्तराणां परधर्मत्वेन परिहार्यत्वात्स्वधर्मतो भगवद्धर्मतः सेवानुकूले गृहेऽव्यावृत्तस्त्यक्तान्यव्यासक्तिरिति यावत्, तथाभूतः सन्, कृष्णं सदानन्दं पूर्वोक्तया पूजया श्रवणादिभिर्भजेदित्यर्थः । अत्र कृष्णपदेनोक्ता भजने फलरूपता । सूचितोकरणे प्रत्यवायो लिङ्गव्यत्ययेन च । न चास्मिन्पक्षे विहितवर्णाश्रमधर्मत्यागे प्रत्यवायपाषण्डित्वादिदोषप्रसङ्ग इति वाच्यम् । सेवासमयाभावे यथाधिकारं सर्वधर्मसम्पादनेनैव दोषापाकरणसम्भवात् । सेवासमये च सर्वधर्माणामनवकाशनिराकृतत्वेन तदभावेपि हानेरभावात् । 'मत्कर्म कुर्वतां पुंसा' मिति वाक्यात् । कदाचिद्दोषापातेपि भगवतैव तदपगमोपपत्तेश्च । 'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः । विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्ट' इति वाक्यात् । मर्यादामार्गीयव्यवस्थैषा । शुद्धपुष्टिमार्गम-भिनिविशमानस्य तु प्रभुचरणतामरसैकतानचेतसः कृत्स्नकर्मकलापं परित्यजतोपि प्रभोरशिथिलपरिग्रहेण न कश्चिद्दोषः, यतस्तथाभूत एव स पन्थाः । ''यदायमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः । स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिता'' मिति वाक्यात् ॥ २ ॥

अथवा। इतर धर्मों का परधर्मतया परिहार कर के स्वधर्मसे अर्थात् भगवद्-धर्म से सेवानुकूल गृह में अर्थात् अव्यावृत्त अन्यव्यासक्ति त्यागकर, वैसा होकर सदानंद कृष्ण को पूर्व में कहे पूजा-श्रवणादि द्वारा भजना चाहिए यह अर्थ है। यहाँ 'कृष्णपद' से भजन में फलरूपता कही गई है। सूचित (किए गये कार्य को भी) न करने पर दोष एवं स्वरूपहानि होती है। अर्थात् जो प्रामाणिक उपदेश दिए गये हैं उन्हें सूचित करने पर भी न करने पर दोष लगता है एवं स्वरूपहानि भी होती है, यह अर्थ है। एवं इस पक्ष में विहित वर्णाश्रमधर्म त्याग करने पर पाप-पाषण्डित्व आदि दोषप्रसंग नहीं समझने चाहिए। सेवासमयेतर यथाधिकार सर्वधर्मसंपादन के द्वारा ही दोष का नाश संभव होने से। एवं सेवासमय में सर्वधर्मो का अवकाश न होने से उसके अभाव में भी अर्थात् सर्वधर्म का अभाव होने पर भी हानि नहीं है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि सेवा के समय में तो कोई वर्णाश्रमधर्म आदि संभव नही हैं क्योंकि जो सेवा में अनुरक्त है, उसे सभी धर्मों का उस समय अन-अवकाश है एवं यदि प्रभुसेवा करने के कारण यदि उन धर्मो का निर्वाह नहीं हो पा रहा है, तो भी कोई हानि नहीं है। यह कहना चाह रहे हैं। ''मेरा कार्य करनेवाला पुरूष'' इन वाक्यों के द्वारा। एवं कदाचित् दोष आपतित होने पर भी भगवान द्वारा ही उनका निरसन होने से। इत्यादि वाक्यों द्वारा। यह मर्यादामार्गीय व्यवस्था है। शुद्धपुष्टिमार्ग में अभिनिविष्ट चित्त एवं प्रभुचरणरस में एकाग्रचित्त वालों को तो संपूर्ण कर्मकलापों का परित्याग करने पर भी प्रभु का अशिथिल परिग्रहण होने से कोई दोष नहीं है। अर्थात् प्रभु ने एकाग्रचित्त वालों को अशिथिल अर्थात् मजबूती से परिग्रहण अर्थात् पकड़ रखा है। क्योंकि यह पंथ इस प्रकारक ही है। ''भगवान जब, जिसका अनुग्रहण करते हैं वह लौकिक एवं वैदिक कर्म-मार्ग से छूट जाता है (श्री.भा. ४/२९/४६)'' इत्यादी वाक्यों के द्वारा ॥ २ ॥

एवं तद्भूद्विप्रकारं व्यासक्तिविरहितभगवद्भजनलक्षणमुक्त्वा, 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृ'दितिन्यायेन काचित्कव्यावृत्तावपि चित्तं भगवति निधाय भजनप्रयत्नमत्यजन्नासीतेत्यभिप्रायेणाहुः -

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदेति । व्यावृत्तो लौकिककर्मव्यापृतोपि हरौ स्वकीयदुःखहरणस्वभावे चित्तं निधायेति शेषः, सदा निरन्तरं श्रवणादौ तन्निमित्तं यसेत्प्रयतेतेत्यर्थः । यसु प्रयत्ने तेन, यथा केनचिदुक्तं, 'परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि । तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायन'मितिवद्धृदये हरिं धृत्वावश्यकसांसारिककार्यव्यापृतेनाप्यनन्तरमनवरतं श्रवणादिप्रयत्नप्रवणान्तःकरणेन भवितव्यमित्यर्थः ।

इस प्रकार भक्तिवृद्धि प्रकार का लक्षण व्यासक्ति विरहित भगवद्भजन कहकर निस्संदेह कोई भी, क्षणभर भी बिना कर्म किए नहीं रहता है (भ.गी. ३/५) इस न्याय से कभी व्यावृत्ति करते हुए भी भगवान में चित्त लगाकर भजनप्रयत्न न त्यागते हुए रहना चाहिए इस अभिप्राय से कह रहे हैं .....

व्यावृत्त होने पर भी हरि में चित्त लगाकर श्रवणादि में प्रयत्न करना चाहिए। 'व्यावृत्त' अर्थात् लौकिक कर्मो में व्यावृत्त होने पर भी स्वकीयों के दुःखहरण स्वभाव वाले हरि में चित्त लगाना चाहिए यह शेष रह जाता है, सदा-निरंतर श्रवणादि द्वारा उनके निमित्त प्रयत्न करना चाहिए, यह अर्थ है। 'यसु' धातु प्रयत्न अर्थ में है । अतः जैसे किसी ने कहा है ''परव्यसनिनी नारी गृहकार्यो में व्यग्र होते हुए भी उसी परसङ्ग रस का भीतर आस्वादन करती है'' उस प्रकार हृदय में हरि को धारण कर आवश्यक सांसारिक कार्यो में व्यावृत्त होने से भी तत्पश्चात् भीतर अनवरत, अंतःकरण-प्रवणताद्वारा श्रवणादि का प्रयत्न करना चाहिए, यह अर्थ है । उपर्युक्त दृष्टांत से मिलता जुलता ही एक दृष्टांत श्री रघुनाथ जी की टीका में आया है। पाँचवीं कारिका की टीका में 'विष्णुपुराण' के प्रहलाद्वाक्य में भी इसी अर्थ में बात कही है।

यद्वा । भगवत्कार्यव्यापृतोपि तत्परिसमाप्योर्वरितसमये श्रवणाद्यर्थमुद्यमं विदध्यादित्यर्थः । यतेदिति क्वचित्पाठः । तत्र परस्मैपद-मनुदात्तेतामात्मनेपदानित्यत्वात्प्रत्येतव्यम् । एवं प्रयतमानस्यानुपूर्व्येण प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्तीत्याहुः ततः प्रेमेति । ततः श्रवणादिभ्यः प्रथमं प्रेम चित्तासङ्गवद्भवति, पश्चात्तथैव सङ्कल्पवदासक्तिर्भवति, व्यसनं च पुनर्यदा भवेदतिप्रचुरप्रभुप्रसादप्राप्यत्वात्तस्य । कीदृशानि पुनः प्रेमासक्तिव्यसनानि । स्वगोचरे स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेम । तथानेकविधमनोरथजनको भाव आसक्तिः । विषयेण विना स्यातुमशक्तिर्यैन स भावो व्यसनमित्येवमाकलय । अत्र संग्रहश्लोकौ । 'स प्रेम यः संविदधाति भावः स्वतःप्रवृत्तिं विषये स्वकीये । यश्चाभिलाषान् जनयेदनेकान्भावः स आसक्तिरिति प्रसिद्धः । स्यातुमेव न शक्नोति विषयव्यतिरेकतः । येन भावेन तं भावमाहुर्व्यसनसंज्ञकम् ॥ ३ ॥

अथवा। भगवत्-कार्य में व्यावृत्त होने पर भी, उसकी समाप्ति होने पर शेष समय में श्रवणादि के लिए उद्यम करना चाहिए, यह अर्थ है। जहाँ 'यतेत्' पाठ है, वहाँ परस्मैपद के अनुदात्त एवं आत्मनेपद के अनित्य होने से इस प्रकार अर्थसंगती करनी चाहिए। इस प्रकारक प्रयत्नशील को क्रमशः प्रेम-आसक्ति-व्यसन आदि होते हैं, यह **ततः प्रेम** इन शब्दों से कह रहे हैं। श्रवणादि द्वारा प्रथमतः 'चित्तासंग' की भाँति प्रेम होता है, पश्चात् उसी प्रकार 'संकल्प' की भाँति आसक्ति होती है एवं पुनः जब अतिप्रचुर प्रभुप्रसाद प्रसन्नता प्राप्त होने से उसे व्यसन होता है। 'प्रसादो दि प्रसन्नता' इस वाक्यानुसार 'प्रसाद' शब्द का एक अर्थ प्रसन्नता भी होता है अतः व्यसन होने पर प्रभु की प्रचुरमात्रा में प्रसन्नता या कृपा समझनी चाहिए। यह अर्थ हुआ । पुनः प्रेमासक्तिव्यसन कैसे हैं? स्वगोचर अर्थात् भगवद्विषय में स्वतः प्रवर्तक भाव, 'प्रेम' है। उस प्रकार अनेकविध मनोरथजनक भाव 'आसक्ति' है। जिस भाव से भगवद्विषय बिना रहना अशक्य हो वह 'व्यसन' है ऐसा आकलन है। यहाँ श्लोक संग्रहीत हैं। ''जो भाव स्वकीय विषय में स्वतःप्रवृत्ति विधान करता है 'प्रेम' है। एवं जो भाव अनेक अभिलाषाओं को पैदा करता है 'आसक्ति' से प्रसिद्ध है। जिस भाव के द्वारा भगवद्विषय बिन रहना ही शक्य नहीं होता है, वह 'व्यसन' नामक भाव कह रहे हैं'' ॥ ३ ॥

एतत्सम्पत्तौ बीजं दृढं भवतीत्याहुः बीजमिती ।

बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्रूहारुचिः ॥ ४ ॥

भगवत्कृपादिना यदि व्यसनसमुद्भवस्तदा यद्भगवच्छास्त्रे बीजं स्नेहाद्भुरस्वरूपमुच्यते तद्दृढमशिथिलं भवति, अत एव विषयादिसंसर्गेण नश्यत्यपि न । व्यसनभावस्य बीजभावदार्ढ्यपरभावधिरूपत्वादिति भावः । यद्वा । बीजं यत्प्रभुपरिग्रहात्मकं तथदि व्यसनं समुत्पद्यते, तदा भक्तिशास्त्रे दृढं केनापि शिथिलीकर्तुमशक्यमुच्यते । एत एव कालासत्सङ्गेत्यादिनापि न विनश्यतीत्यर्थः । नहि भगवान्निजाङ्गीकृतान्कदाचिदपि विहातुमुत्सहते । तदङ्गीकारस्य नित्यत्वात् । एवमुत्तरोत्तरबलवत्तराणामेतेषामाद्ययोः कार्यमाहुः स्नेहेति । स्नेहाद्भगवद्विषयकप्रेम्णः प्रभुसेवाप्रतिकूले गृहे रागस्य विनाशो भवति । भगवद्रागस्य द्वागेव गेहानुरागनाशोपायत्वात् । 'तावद्रागादयः स्तेना' इति वाक्यात् । आसक्त्या चोक्तरूपया गृहेऽरुचिरासक्त्यभाव उपजायते । भगवदासक्तेस्तदतिरिक्तासक्तिनिराकरणशीलत्वात् ।

'कृष्णांघ्रिपद्ममधुलिट् न पुनर्विसृष्टमायागुणेषु रमते वृजिनावहेष्वि' तिवाक्यात् । न च प्रेमासक्तिमतामपि गेहस्नेहादिसद्भावदर्शनादसङ्गतमिदमिति वाच्यम् । तादृशां भगवद्विषयकस्नेहसङ्गोपनार्थमेव सांसारिकतत्प्रकाशनादनेवंभावे च भगवत्यपि तदभावादेवेत्युभयथापि दोषाभावात् । लोकसंग्रहार्थमपि भक्तानामसंख्यव्यापारदर्शनात् । भजनौपयिकभवनाद्यनुरागस्य स्वधर्मपर्यवसायित्वेनौचित्यावर्जितत्वाच ।

इन संपत्ति प्रेम-आसक्ति-व्यसन के होने पर बीज दृढ़ होता है यह **बीजं** इन शब्दों से कह रहे हैं।

भगवत्कृपादि से यदि व्यसन समुद्भावित होता है, तब भगवत् शास्त्र में जो स्नेहांकुरस्वरूपरूपी बीज कह रहे हैं, वह दृढ़ अर्थात् अशिथिल होता है, अतएव विषयादि संसर्ग से भी नष्ट नहीं होता है। व्यसनभाव के, बीजभावदृढ़ता का परमावधि-रूप होने से यह भाव है । अर्थात् बीजभावदृढ़ता की चरमसीमा रूपी भाव व्यसन है अर्थात् व्यसन दशा में बीजभाव दृढ़ता अपनी चरमसीमा में पहुँच गया समझना चाहिए। अथवा। जो, प्रभुपरिग्रहात्मकरूपी बीज, भलीभाँति व्यसन उत्पादित करता है, तब भक्तिशास्त्र में दृढ़, किसी से भी शिथिल करने में अशक्य कहा जाता है। अर्थात् जिसे प्रभु ने चहुँ और परिग्रहित कर लिया है ऐसा बीज। अतएव काल असत्संग इत्यादि से भी विनष्ट नहीं होता यह अर्थ है। भगवान निश्चय ही, निजांगीकृतों को, उनका अंगीकार नित्य होने से छोड़ना कभी भी सहन नहीं करते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर, बलवत्तर होते बीजभाव के प्रथम कार्य **स्नेह** इन शब्दों से कह रहे है। 'स्नेह' से अर्थात् भगवद्विषयक प्रेम से प्रभुसेवा में प्रतिकूल गृह में राग का विनाश होता है। भगवद्राग की दृष्टि से ही गृहानुराग के नाश का उपाय होने से । ''रागादि तब तक ही सर्वस्व चुराते हैं (श्री.भा. १०/१४/३६)'' इन वाक्यों के द्वारा। एवं कही गई आसक्तिरूप से गृह में 'अरूचि' अर्थात् आसक्ति का अभाव पैदा होता है। भगवदासक्ति, उससे अतिरिक्त आसक्ति की निराकरणशील होने से, अर्थात् भगवद्-आसक्ति का गुण यह है कि वह भगवान से अतिरिक्त आसक्ति का निराकरण कर देती है। ''जो कृष्णचरणारविंद के मधु का लोभी है वह पुनः माया, विषयों मे नहीं रमता (श्री.भा.६/३/३३) इत्यादि वाक्यों द्वारा। एवं, प्रेमासक्तिवान भी, गृह में स्नेहादि सद्भाव रखते दिखाई देने से उसे असंगत नहीं कहना चाहिए। अर्थात् जिसे प्रेमासक्ति हो गई है वह यदि गृह में स्नेह या सद्भाव भी रखता दिखाई पड़े, तो उसे अन्यथा नहीं लेना चाहिए। तादृशी प्रेमासक्तिवान भगवद्विषयकस्नेह का संगोपन करने के लिए ही उन सांसारिक (गृहस्नेह) का प्रकाशन करने से एवं भगवान में भी उनका अर्थात् सांसारिक लोगों का अभाव होने से, दोनों प्रकार से भी दोष का अभाव है। अर्थात् तादृशी, भगवद्-विषयक स्नेहगुप्त रखने के लिए सांसारिक-स्नेह का प्रकाशन करते है। भगवान की भक्ति में उन्हें सांसारिक गृहस्नेह बाधा नहीं करता। अतः वे गृह में स्नेह रखते भी दिखाई पड़े तो दोष नहीं समझना चाहिए, यह अर्थ है। लोक में दिखाने के लिए भी भक्तों के असंख्य कार्य दिखाई देने से। एवं भजन में उपयोगी भवन आदि में अनुराग के स्वधर्म में पर्यवसित होने से उचित एवं अवर्जित होने से दोष का अभाव है। टीकाकार कह रहे हैं कि जिस गृह अर्थात् भवन में उनकी आसक्ति दिखाई दे रही है आखिरकार वह भवन भी प्रभुसेवा के लिए ही है एवं अंततोगत्वा अपने स्वधर्म अर्थात् प्रभुसंबंधी धर्म में ही संपूर्ण होगा। अतः उस तादृशी की गृह में आसक्ति उचित ही है, वर्जित नही हैं एवं दोषरहित है।

एवं सति गृहाद्यनुरागिणामेवात्र बाधकत्वास्वधर्मत्वे स्फुरत इत्याहुःगृहेति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥५॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

भगवत्सम्बन्धिप्रेमासक्त्योर्गृहस्थानां विवेकवैकल्येन गृहेनुरागाधिक्यात्तत्रैव तिष्ठतां बाधकत्वं, तत्र स्नेहाभावोत्पादकतया कलत्रपुत्रादिपोषणसामर्थ्याभावलक्षणदोषोद्भावनात्प्रवृत्तिमार्गातिमात्रनिष्ठावत्तयानात्मधर्मत्वं च, भगवति वानात्मत्वं भासत इत्यर्थः । वस्तुतस्तु, 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' 'न मे भक्तः प्रणश्यति' 'न कर्हिचित् मत्परा शान्तरूपे नंक्ष्यन्ति' 'तस्मिन्प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ', 'तस्मिन्सन्तुष्टे किमप्राप्यं किमलभ्यं भगवती'त्यादिवाक्येभ्यो भगवानेव निजभक्तनिखिलकार्यनिर्वाहाय जागरूक इति वास्तवसर्वभावेन भजनीय इति वस्तुगतिमविदुषाममीषामेवेयं कुमनीषेति । अत एव श्रीमदाचार्यैर्भासत इत्यभाषि ।

इस प्रकार होने पर गृहादि में अनुराग रखने वालों को ही 'बाधकत्व' अर्थात् 'अस्वधर्मत्व' स्फुरित होता है यह **गृहस्थानां** इन शब्दों से कह रहे हैं।

भगवत्संबधी-प्रेमासक्त-गृहस्थों को विवेकविकलता से, गृह में अनुरागधिक्य होने से वहीं रहना बाधक है, वहाँ स्नेहाभाव उत्पादित होने से पत्नी-पुत्रादि के पोषणसामर्थ्य के अभावरूपी लक्षणरूप-दोष उद्भावित होने से, गृहके सदस्यों की प्रवृत्तिमार्ग मात्र में अति निष्ठावत्ता होने से उनमें अनात्मधर्म भासित होता है अथवा भगवान में अनात्म भासित होता है, यह अर्थ है। टीकाकार कह रहे हैं कि जिन्हें भगवान में प्रेमासक्ति हो गई है यदि वे गृह में अनुराग रखेंगे, तो उन्हें भगवद्संबंधी विवेक विकल करेगा एवं गृह उनकी भक्ति में बाधक लगने लगेगा। अतः गृह में स्नेह के अभाव से वह पत्नी-पुत्रादि का पोषण नहीं कर पायेगा एवं परिवार जनों की निष्ठा भगवान में

न होकर प्रवृत्तिमार्ग में अर्थात् संसार में होने से उसे उनमें अनात्मीयता हो जाती है। अथवा यदि वह गृह में आसक्ति रखे तो उसे भगवान या भगवद्संबंधी वस्तुओं में अनासक्ति हो जायेगी क्योंकि संसारासक्ति उसे भगवद्-आसक्ति की ओर जाने नहीं देगी। वास्तव में तो ''उन निरंतर भक्तिनिष्ठों के योगक्षेम का वहन करता हूँ (भ.गी.९/२२)'' ''मेरा भक्त नष्ट नहीं होता (भ.गी.९/३१), ''मेरा आश्रय करने वाले शांतिमय वैकुंठधाम पहुँचकर (श्री.भा. ३/२५/३८), ''प्रभु के प्रसन्न होने पर (श्री.भा. ३/१३/४९)'', ''भगवान के संतुष्ट होने पर क्या अप्राप्य है? क्या अलभ्य है? इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान ही निजभक्तों के समस्त कार्यनिर्वाह के लिए जागरूक हैं। अतः वास्तव में सभी भावों से भजनीय हैं। इस वास्तविकता को न जानना अविद्वानों-मूर्खों की दुर्बुद्धि है। अतएव श्रीमदाचार्यों ने 'भासित होता है' कहा।

अथवा । भगवदासक्तियुक्तानामतादृशशास्त्रादिषु बाधकत्वप्रतिसन्धानं भवतीत्याहुः गृहस्थानामित्यादि । अत्र गृहस्थपदेन भार्यापुत्रादयस्तात्स्थ्याद्गृह्यन्ते । तथा च सति तेषां विजातीयभावतया तद्भावस्य स्वभावप्रतिद्वंद्वित्वेन स्वात्मभावस्वाभाव्येन च निजभावभङ्गभीरूणां तेषु बाधकत्वं भासतेऽनात्मत्वं च । तथाभूतानां भगवत्येव स्फुरत्स्वात्मभावतया तदीयेष्वात्मीयताविर्भावात् । अत एव श्रीमदस्मदाचार्यैरुक्तं 'पुत्रे कृष्णप्रिये रति'रिति । एतेन 'न वारे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, किन्त्वात्मनः कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ती' त्यादि श्रुतेरात्मसम्बन्धितया पुत्रादीनां प्रियत्वेन बाधकत्वमसम्भवीत्याशङ्का व्युदस्ता । एवं प्रेमासक्त्योः कार्यमुक्त्वा व्यसनस्य तदाहुः यदेति। यदा परमदुरापमनुपममुक्तभावात्मकं व्यसनं कृष्णे सदानन्दे स्वलीलासहिते स्यात्, तदैव कृतार्थः पर्याप्तार्थः स्यात्, कर्तव्यान्तरपरिशेषाभावात् । अत एव व्रजस्थितानां तथाभावः श्रूयते श्रीभागवते, 'तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः,' 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्' 'क्षणं युगशतमिवे'त्यादिना । एवकारः प्रेमासक्तिमतोर्व्यवच्छिनत्ति । हिशब्देनात्र युक्तार्थतोक्ता, तद्भावविघातकसद्भावात् । तदेतदाहुः । तादृशस्यापि प्रेमादिमतोपि सततमविच्छेदेन सत्सङ्गाद्यभावेन गेहस्थानं भावस्य विनाशकं भवति । सत्सङ्गाद्यसचिवस्य तस्य तादृशत्वात् । न च व्यसनवतोपीदृशबाधकास्तित्वं शक्यशङ्कम् । तद्भावस्यैव स्वतन्त्रकार्यक्षमत्वेन सत्सङ्गादिभावाभावायत्नैर्वृद्धिह्रासैस्तद्व्यतिरिक्तभावानामेव साधकबाधकादिसम्बन्धितया प्रकृते बाधशङ्कानवतारात् ।

अथवा। भगवदासक्ति-युक्तों को अतादृशशास्त्रों में बाधकत्व का प्रतिसंधान होता है, यह **गृहस्थानां** इत्यादि वाक्यों से कह रहे हैं। यहाँ 'गृहस्थ' पद से वहाँ रहने वाले पत्नीपुत्रादि ग्रहण किए जा रहे हैं। ऐसा होने पर गृहस्थों में विजातीय-भाव उस भगवद्-भाव का स्वभावप्रतिद्वंद्वि होने से एवं स्वात्मभाव अर्थात् भगवद्भाव स्वाभाविक होने से, निजभाव भंग होने से भयभीत लोगों को उनमें बाधकत्व एवं अनात्मत्व भासित होता है। तादृशी को अपने अविवेकी गृहस्थों में विजातीय भाव उत्पन्न होता है। वह विजातीय भाव, तादृशी के भगवद्-भाव का प्रतिद्वंद्वी है। तादृशी में जो स्वाभाविक रूप से भगवद्भाव है वह उस विजातीयभाव से भंग होने के भय से उसे उनमें अनात्मत्व भासित होता है, यह समझना चाहिए। ऐसों को भगवान में ही स्फुरित आत्मभाव से तदीयों में आत्मीयता का आविर्भाव होने से गृहस्थो में अनात्मत्व होता है। अतएव श्रीमदाचार्यचरणों ने 'कृष्णप्रिय-पुत्र में प्रेम (नि.ल. १८) कहा है। इससे ''पुत्रों की कामना के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते किंतु आत्मा की कामना के लिए पुत्र प्रिय होते है (बृ. ५/६)'' इत्यादि श्रुति में आत्मसंबन्धितया पुत्रादि के प्रिय होने से 'बाधकत्व असंभव है' यह शंका निरस्त हो गई। इस श्रुति में कहा है कि पुत्र केवल पुत्र होने से प्रिय नहीं होता अपितु वह स्वयं की कामना पूर्ण करे, इसलिए प्रिय होता है। टीकाकार कह रहे हैं कि इस श्रुति द्वारा पुत्र बाधक नहीं हो सकते, यह शंका दूर हो गई अर्थात् पुत्र आत्मसंबंधी होने से बाधक हो सकते हैं। इस प्रकार प्रेमासक्ति के कार्य कहकर तब 'व्यसन' को **यदा** इन शब्दों से कह रहे हैं। जब जीव को स्वलीलासहित सदानंद-कृष्ण में कहा गया परम कठिन-अनुपम व्यसन होता है, तब ही शेष कार्यंतर का अभाव होने से 'कृतार्थ' अर्थात् 'पर्याप्तार्थ' होता है। अतएव ब्रजभक्तों का वैसा भाव श्रीभागवत में, ''सभी विषयोंको त्याग कर आपके चरणकमल (श्री.भा. १०/२१/३)'', ''एक क्षण युग की भाँति हुआ (श्री.भा.२०/१९/१६)'' इत्यादि में सुना जाता है। 'एवकार' प्रेमासक्तिवान को व्यसनवान से विभक्त कर रहा है। 'एवं' शब्द मूलपंक्ति में आए 'व्यसन' शब्द पर अधिक भार दे रहा है एवं उसे प्रेम से भिन्न बता रहा है। 'हि' शब्द से यहाँ मूलपंक्ति में आए ''यदा स्यात् ... तदैव हि वाक्य की युक्त-अर्थता कही गई है क्योंकि वह गृहस्थिति उसके भगवद्-भाव की विघातक होने से। वह कह रहे हैं। प्रेमादिशील - तादृश को भी सतत विच्छेद न होने से, सत्संगादि के अभाव से गृहस्थान भगवद्-भाव का विनाशक होता है। सत्संगादि का निर्वाह न होने से। एवं, ''व्यसनवान को भी इस प्रकारक बाधकों का अस्तित्व शक्य है'', ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। उस भाव अर्थात् व्यसनभाव की की स्वतंत्रकार्यक्षमता होने से सत्संगभाव के अभाव से उस व्यसनभाव से अतिरिक्त भाववालों को ही साधकबाधक संबंध द्वारा भक्तिवृद्धि का ह्रास होने से, प्रकृत ग्रंथ में बाधशंका निवृत्त हो जाने से। समझना चाहिए कि व्यसनदशा प्राप्त जीवन आत्माराम है। वह स्वयं में ही प्रभु के साथ अलौकिक भाव में रत है अतः उसे यदि सत्संग न भी प्राप्त हो तो कोई हानि नहीं है क्योंकि सत्संग प्राप्त न होने से भक्ति का ह्रास अर्थात् न्यूनता तो उसे होगी जिसे व्यसनदशा प्राप्त नहीं है। अर्थात् भक्ति में साधक कौन? एवं बाधक कौन? यह चिंता व्यसनदशा से अतिरिक्त भाववालों को है, व्यसनदशा प्राप्त को नहीं। अतः प्रकृत ग्रंथ में उपरोक्त शंका निवृत्त हो जाती है, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं।

गृहादेर्भावान्तरायरूपत्वं विदित्वा तदपहाय फलाय प्रयतेत यस्तस्य तदाहुः ।

त्यागं कृत्वा यसेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥६॥
लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

तुशब्दः प्रकारान्तरव्यावर्तकः । यः पुमान्गृहादिषु भगवद्भजनप्रतिबन्धं विबुध्य तत्त्यागं कृत्वा भगवल्लीलाश्रवणचिन्तनादिनिमित्तं यसेत् यत्नं कुर्यात्, कीदृशः ? तदर्थार्थैकमानसः । तस्य भगवतो योर्थः श्रवणादिरूपस्तदर्थं एकं मानसं यस्य तादृश इत्यर्थः । यद्वा । भगवतोर्थो लीला, तदर्थं तन्निमितं तदर्थेषु तत्सम्बन्धिपदार्थेषु वा तथेत्यर्थः । अथवा । स चासावर्थश्चेति कर्मधारये तदर्थो भगवान् तदर्थं तथेत्यर्थः । स एवार्थः शास्त्रस्कन्धादिषु यत्र । तादृशं श्रीभागवतं 'शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे । एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यत' इति श्रीभागवतार्थतत्त्वदीपवचनात् । तदर्थं वा तथेति वार्थः । स एवार्थो धनं येषां ते । तदर्था भगवद्भक्तास्तेषामर्थेषु कार्येषु वा तथेत्यर्थः । एतादृशः सन् भक्तिं सुदृढां विषयाद्यनभिभाव्याम्, 'प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयत' इति वाक्यात्, सर्वतो ज्ञानादिभ्योप्यधिकामुत्कृष्टाम् । न चाधिक्ये मानाभावः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य' 'ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावितः,' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति' 'परिनिष्ठितोपि नैर्गुण्ये' 'आत्मारामाश्चे' त्यादिवाक्यशतसिद्धत्वात् । विस्तरस्तु श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैरन्यत्र कृत इति नेह तन्यते । परामभिव्यक्तापरिच्छिन्नानन्दरसस्वरूपां लभेत प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ६ १/२ ॥

गृहादि में भावबाधकतारूप् जानकर, उसे त्याग कर जो 'फल' के लिए प्रयत्न करता है, उसको यह कह रहे हैं ..... 'तु' शब्द इतर प्रकारों को दूर करने के लिए है। जो पुरूष, गृहादि में भगवद्भजन प्रतिबंध जानकर उसका त्याग कर भगवल्लीला-श्रवणचिंतनादि के निमित्त यत्न करता है वह कैसा होता है? 'तदर्थार्थैकमानस' होता है। उसके श्रवणादिरूप भगवान जो अर्थ हैं, उनके लिए एकमन जिसका है, वैसा होता है, यह अर्थ है। अथवा। भगवदर्थ अर्थात् लीला के लिए, उसके निमित्त, उनके अर्थो में अथवा उनसे संबंधित पदार्थो में एकमन जिसका है वैसा होता है, यह अर्थ है। अथवा। वही है अर्थ जिसका ऐसे 'तदर्थ' अर्थात् भगवान के लिए ही है मन जिसका ऐसा वह, इस प्रकार कर्मधारय समास करने पर अर्थ होता है। वही अर्थ भगवान जहाँ शास्त्रस्कंधादि में हैं वैसा श्रीमद्भागवत में ''शास्त्र में, स्कंध में, प्रकरण में, अध्याय में, वाक्य में पद में, अक्षर में, एक ही अर्थ सात प्रकार से अविरुद्ध जानता हुआ मुक्त हो जाता है (त.दी.नि. ३/१/२) इत्यादि श्रीभागवतार्थ-तत्वदीप-वचन से है। ऐसे भागवत के अर्थ के लिए है मन जिसका वैसा होता है। वह भागवतार्थ ही है धन जिसका वे तदर्थ हैं। अथवा 'तदर्थ' अर्थात् भगवद्-भक्त के अर्थों में अर्थात् कार्यों में एकमन जिसका है वह 'तदर्थार्थैकमानस' है। इस प्रकारक होकर सुदृढ़, विषयों से अनभिभूत, ''प्रगल्भ-भक्ति से प्रायः विषयों से पराजित नहीं होता (श्री.भा. ११/१४/८)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा सभी ओर से, ज्ञानादि से भी अधिक उत्कृष्ट भक्ति; एवं अधिकता में (भक्ति की अधिकता में) मान का अभाव नहीं है। अर्थात् प्रमाण का अभाव नहीं है, यह अर्थ है। ''अतः मेरी भक्ति से युक्त को'', ''ज्ञानविज्ञान से संपन्न होकर भक्तिभाव से मुझे भजो (श्री.भा. ११/१९/५)'', ''मुझसे सायुज्य की भी इच्छा नहीं करते (श्री.भा. ३/२५/३४)'', ''निर्गुणब्रह्म में परिनिष्ठ होने पर भी (श्री.भा. २/१/९)'', ''आत्मरमण करने वाले (श्री.भा. १/७/१०)'', इत्यादि सैकड़ों वाक्यों से सिद्ध होने से; विस्तार तो हमारे श्रीमद्प्रभुचरणों ने किया है अतः यहाँ विस्तार नहीं कर रहा हूँ; परा अभिव्यक्त-अपरिछिन्न-आनंदस्वरूपा भक्ति प्राप्त करता है, यह अर्थ है ॥ ६ १/२ ॥

तर्हि निरन्तरायेऽस्मिन्नुपाये सति किमित्युपायान्तरमुपादेयमित्यत आहुः त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरं विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

न हि त्यागो निष्प्रत्यूहं फलाय कल्पते, त्यागे यतो बाधकानि दुःसंसर्गदुष्टान्नभक्षणादीनि सद्बुद्धिप्रतिक्षेपकारीणि भूयांसि सन्ति । न हि भगवत्पराङ्मुखानामनेकदोषदन्तुरितस्वान्तानां सङ्गस्तूर्णं भावभङ्गं न विधत्ते । न वा तथाभूतानामन्नादिकं भक्षयतो भगवत्यभीक्ष्णमविक्षिप्तं मनो भवति । अत एवावैष्णवादीनामन्नं न परिग्राह्यम् । तदुक्तं पद्मपुराणे 'अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च । अनर्पितं तथा विष्णोः श्वमांससदृशं भवे'दिति । ननु बाधकानां बहुत्वे द्वाबेव कथं कथितौ । दुष्टसंसर्गान्नदोषयोः प्रबलत्वादिति बुध्यस्व । तेन यदि भगवद्भजनं गृहादिषु निर्बाधं सम्पद्यते, तदा न परित्यागः श्रेयान् । तच्चेत्तत्र भार्यायभिद्वेषादिना सम्यङ्न निर्वहति, तदापूर्वोक्तप्रणालिकया त्याग एव कर्तव्य इति विवेकः । अत एव श्रीमदाचार्यैस्तत्त्वदीपनिबन्धेऽभ्यधायि 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति । द्वितीयस्कन्धविवरणे च 'दाम्पत्यं भगवद्भजनार्थमपेक्षित'मिति ।

तो, (अंतरायरहित) इस उपाय के होने पर क्यों इतर उपाय उपदिष्ट कर रहे हैं? ऐसी शंका हो तो? यहाँ ध्यातव्य है कि पूर्व में

गृहस्थिति को भगवद्भाव में बाधक कहा जा चुका है अतः गृहत्याग करना चाहिए। यहाँ शंका होती है कि जब गृहत्याग कर दिया है तब फिर और क्या शेष रह जाता है। अब तो सभी कुछ निर्विघ्नरूप से संपन्न होना चाहिए। वहाँ टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि केवल त्याग कर देने से सभी कुछ सिद्ध नहीं हो जाता, त्याग करने के पश्चात् भी कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। अतः श्री महाप्रभु **त्याग** इन वाक्यों से कह रहे हैं। इसके लिए **त्याग** इन शब्दों से कह रहे हैं। निश्चय ही त्याग, निष्कंटक फल के लिए योग्य नहीं होता, क्योंकि त्याग में दुःसंसर्गदुष्टान्नभक्षणादि सद्बुद्धि को नष्ट करनेवाले बाधक बहुत होते हैं। निश्चय ही भगवद्-पराङ्मुखों का अर्थात् अनेकदोष से दूषित जिनके अंतःकरण है; उन का संग संपूर्ण भावभंग नहीं करता, ऐसा नहीं है। अर्थात् ऐसे भगवद्-पराङ्मुखों का संग, भगवद्-भाव का भंग करेगा ही, यह अर्थ है। अथवा, उस प्रकारक लोगों का अन्नादि भक्षण करते हुए भगवान में निरंतर-अविक्षिप्त मन नहीं होता है ऐसा नहीं है अर्थात् ऐसे भगवद्-पराङ्मुखों के अन्न का भक्षण करने से भगवान में निरंतर अविक्षिप्त मन होगा ही। अतएव अवैष्णवादि का अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिए। यह पद्मपुराण में ''अवैष्णवों का एवं पतितों का अन्न, उसी प्रकार विष्णु को न अर्पित किया गया अन्न, श्वमांस के सदृश होता है। इत्यादि वाक्यों से कहा है। यहाँ शंका करते हैं कि बाधकों की बहुलता होने पर भी दो ही क्यों कहे गये? दुष्टसंसर्ग अन्नदोष के प्रबल होने से; यह समझिए। इससे यदि गृहादि में भगवद्भजन निर्बाध संपादित होता है, तब परित्याग श्रेयस्कर नहीं है। यदि हो, तो वहाँ पत्नी आदि द्वेषादियों का भलीभाँति निर्वाह नहीं होता है, तब पूर्व में कही प्रणालिका द्वारा त्याग ही कर्तव्य है, यह विवेक है। अतएव श्रीमदाचार्यचरणों ने तत्वदीपनिबंध में ''पत्नी आदि यदि अनुकूल हैं तो उनसे भगवद्-क्रिया करानी चाहिए। उदासीन होने पर स्वयं करनी चाहिए; प्रतिकूल होने पर गृह त्याग करना चाहिए (स.नि.२३३) यह बात रखी है। एवं द्वितीय-स्कंध विवरण में ''दांपत्य भगवद्भजन के लिए अपेक्षित है'' यह कहा है।

एवं त्यागे दुःसङ्गादेर्विघातकत्वं निरूप्य तद्दोषनिराकरिष्णुः सतां सङ्गः कचिद्भगवत्स्थाने सम्पादनीय इत्याहुः अत इति । यतस्त्यागे बाधकानां बहुत्वमतःकारणात्कचिद्धरेः सर्वदुःखहर्तुः स्थाने श्रीगोकुलश्रीगोवर्धनादौ तदीयैस्तत्सम्बन्धिभिस्तत्परैः, स एव परः सर्वापेक्षयोत्कृष्टो येषां तादृशैः, परमकाष्ठापन्नवस्तुनिष्ठैः सह स्थेयमित्यर्थः । न च तत्राप्यसत्सङ्गादिसम्भवादुक्तदोषानिवृत्तिरिति वाच्यम् । सर्वसमयसत्सङ्गत्वत्सु दुःसङ्गादिदोषाणामनवकाशनिवारितत्वात् । न हि प्रतिदिनं सत्सङ्गरसास्वादिनः कचिदन्यत्र चित्तप्रसादमासादयन्ति । अत एव सत्सङ्गोत्कर्षः श्रीभागवते गीयते । 'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिष' इति । ननु यत्र कचित्सत्सङ्गेन कार्यसिद्धेः सज्जिः सहावस्थानं हरिस्थान एव कार्यमिति निर्बन्धो बकबन्धवन्निरर्थक इति चेत् । मैवम् । तत्र बाहुल्येन तेषां सङ्गतेः सम्यक्सम्भवेन तदनुवृत्तेरावश्यकत्वात् । अन्यत्र तेषां प्रायशोनुरागविरहेणानवस्थानात् । बहिर्मुखजनकृतोपद्रवशङ्क्या स्थातुमशक्यत्वाच्च । अत एवोक्तं पञ्चमस्कन्धे 'न यत्र वैकुण्ठकथा सुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः । न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोपि न याति सेव्यता'मिति ।

इस प्रकार त्याग में दुःसंगादि का विघातकत्व निरूपण कर उन दोषों का निराकरण करने की इच्छा करने वाले को महात्माओं का संग किसी भगवत्-स्थान में संपादित करना चाहिए यह **अतः** इन वाक्यों से कह रहे हैं। क्योंकि त्याग में बाधकों का बहुत्व, है इस कारण से किसी सर्वदुःखहर्ता-हरिस्थान-श्रीगोकुलगोवर्धन आदि में, तदीयों, भगवद्संबंधियों अर्थात् तत्परों, ''भगवान ही 'पर' अर्थात् सभी की अपेक्षा उत्कृष्ट'' जिनके हैं, ऐसे तादृशी अर्थात् परमकाष्ठापन्नवस्तुनिष्ठों के संग रहना चाहिए। परमकाष्ठापन्नवस्तु का अर्थ होता है भगवान एवं उस परमकाष्ठापन्न के स्वरूप में जिसकी निष्ठा स्थापित हो गई हो वो परमकाष्ठापन्ननिष्ठ है, यह समझना चाहिए। एवं वहाँ भी, सर्वसमय संत्संग होने से दुःसंगादि दोषों का अवकाश निवारित हो जाने से वहाँ भगवत्-स्थान में भी असत्संगादि संभव होने से कहे दोष की निवृत्ति नहीं होगी, ऐसा नही, समझना चाहिए। यहाँ शंका हो सकती है कि कभी-कभी भगवत्स्थानों में भी असत्संग का वातावरण पैदा हो सकता है। अतः क्या वहाँ रहने पर भी दोषों की निवृत्ति हो जायेगी? टीकाकार कह रहे हैं, ऐसा नहीं है। वे कह रहे हैं, कि भले ही यदा-कदा वहाँ सत्संग न प्राप्त हो परंतु दुःसंग तो फिर भी प्राप्त नहीं है। अतः दोषों की निवृत्ति अवश्य होगी। निश्चय ही सत्संगरसास्वादी अन्यत्र कहीं चित्त की प्रसन्नता प्राप्त नहीं करते हैं। अतएव सत्संग का उत्कर्ष श्रीभागवत में ''क्षणभर के भी सत्संग के आगे स्वर्ग-मोक्ष कुछ भी नहीं है तब मानवी भोगों की बात क्या? (श्री.भा. ४/३०/३४)'' इत्यादि वाक्यों से गाया जाता है। यदि यहाँ ऐसी शंका करें कि ''जहाँ कहीं सत्संग से कार्यसिद्ध होने से 'सज्जनों के संग हरिस्थान में ही रहना चाहिए' यह बंधन बगुलाभगत की भाँति निरर्थक है तो। टीकाकार पूर्वपक्षी की शंका उठा रहे हैं कि यदि कहीं पर भी संत्संग मिल जाय एवं यदि उसी से कार्यसिद्धि हो जाय अर्थात् भक्ति को पोषण मिल जाता हो तब विशेषतया किसी सज्जन के ही संग एवं किसी हरिस्थान में ही रहने पर क्यों भार दिया जा रहा है? कहीं तब, बगुलाभगत जैसी स्थिति तो न हो जायेगी? अर्थात् तब भक्ति का प्रदर्शनरूप आडम्बर न हो जायेगा? ऐसा नहीं कहना चाहिए। वहाँ सज्जनों की बहुलता से उनका संग भलीभाँति संभव होने से, उनका अनुकरण आवश्यक हो जाने से भगवद्-भक्तों के प्रायः हरिस्थान में ही भगवद्अनुराग एवं भगवान के विरह की संभावना से अन्यत्र न रहने से एवं बहिर्मुखजनकृत उपद्रव की शंका से रहना अशक्य होने से। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि चूँकि हरिस्थान में सज्जन बहुलता से मिल जाते है एवं उनका संग भी भलीभाँति

संभव होता है उनका तदनुसार अनुकरण भी किया जा सकता है अतः हरिस्थान में ही रहना आवश्यक है। सज्जन भी प्रायः हरिस्थान में ही निवास करते है क्योंकि भगवद्मय वातावरण होने से उन्हें वहीं भगवान के प्रति अनुराग प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। अन्यत्र तो बहिर्मुखों द्वारा उपद्रव भी हो सकता है, यह अर्थ है। अतएव पंचम-स्कंध में ''जहाँ भगवत्कथा की अमृतमयीसरिता नहीं बहती, जहाँ उसके उद्गमस्थान भगवद्भक्त साधुजन निवास नहीं करते। जहाँ नृत्यगीतादी के साथ बड़े समारोह से भगवान-यज्ञपुरुष की पूजा-अर्चा नहीं की जाती, वह चाहे स्वर्गलोक ही क्यों न हो, उसका सेवन नहीं करना चाहिए (श्री.भा. ५/१९/२४) यह कहा है।

एवं सति तेषां सन्निधौ स्थितिः कथं कर्तव्येत्याकांक्षायामाहुः अदूरमिति । यथा भगवदीयानां चित्तं न दुष्यत्युद्वेगादिना, न विकृतिमाप्नोति, तथाऽदूरं निकटं यथा स्यात्तथा, विप्रकर्षे दूरे वा स्थातव्यमित्यर्थः । अत्रायमाशयः । सन्तो हि नितान्तमेकान्ते भगवत्कथां मिथःकुर्वन्तस्तद्रसरभसविवशा भवन्ति, ताननुसरन्यदि कश्चित्स्वलाभं निश्चित्य तेषामासक्तिमालम्बते, ते चेदतिगूढरसं तदग्रतः प्रकाशयितुमशक्यमाकलयन्तः, स्वयं ततो विरमन्ति चित्तोद्वेगवन्तः, तदा तस्य दूरस्थितिरेवानुसरणे श्रेयसी, अन्यथा मनीषितानिष्पत्तेः । अथ दयार्द्रहृदयतयातिनिकटागमने नियोगं विदधते, तर्हि तत्सामीप्यमेव समीचीनम्, अनुसरणानुकूलतया समीहितसिद्धिहेतुत्वादिति । यद्वा । स्वस्य चित्तं यथा दुष्टं न भवति तथा सन्निकर्षेण विप्रकर्षेण वा स्थेयमित्यर्थः ॥ ७,८ ॥

इस प्रकार होने पर उनकी सन्निधि में स्थिति कैसे करनी चाहिए? यह आकांक्षा होने पर **अदूरं** इन शब्दों से कह रहे हैं। जिस प्रकार भगवदीयों का चित्त उद्वेगादि से दुष्ट नहीं होता अर्थात् विकृति को प्राप्त नहीं होता, उस प्रकार 'अदूर' अर्थात् निकट या 'विप्रकर्ष' अर्थात् दूर जिस प्रकार हो, इस प्रकार रहना चाहिए, यह अर्थ है। यहाँ यह आशय है कि निश्चय ही संत नितांत एकांत में परस्पर भगवत्कथा करते हुए भगवद्-रस की अधिकता से विवश हो जाते हैं, उनको यदि कोई लाभ निश्चित कर, अनुसरण करते हुए उनकी घनिष्ठता का सहारा लेता है तब यदि वे अर्थात् संतः अतिगूढ भगवद्रक को आगे प्रकाशित करने में अशक्य हो जाते हैं एवं चित्तोद्वेग से स्वयं ही विराम ले लेते हैं तब उनका अनुकरण करने से दूर रहना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा बुद्धि उत्पन्न होने से। टीकाकार 'अदूर' अर्थात् 'निकट' का अर्थ कर रहे हैं। वे बता रहे हैं कि संतो के निकट क्यों नहीं 'रहना चाहिए? वे कहते हैं कि संत एकांत स्थल में परस्पर भगवद्-वार्ता करते हुए भगवद्-आवेश से सराबोर होकर देहानुसंधान भूल सकते हैं (अवश्य देखें श्री.भा.११/१४/२४) । अब ऐसे संत के निकट रहने से कोई लाभ होगा, यह विचारकर यदि कोई उनका अनुसरण करे तो वे संत तो भावविभोर हो जाने के कारण भगवद्रस को पूर्णरूप से प्रकट नहीं कर सकते एवं चित्त में उद्वेग हो जाने से कहीं भी विराम ले सकते हैं। अतः उनसे पूर्णरूपेण संतुष्टि न हो पायेगी। अतः भाव अधूरा रह जाने से उनमें अन्यथा बुद्धि भी हो सकती है। अतः उनसे दूर रहना ही ठीक है, यह अर्थ है। अब, दया से आर्द्र हृदय होने से, अति निकट आने पर प्रभु में नियोग होता है, तब उनका सामीप्य ही उचित है; उनका अनुसरण करने की अनुकूलता से समीहित सिद्धि का हेतु होने से संतों के निकट रहना चाहिए। अब टीकाकार 'विप्रकर्ष' अर्थात् संतो के निकट क्यों रहना चाहिए, इसके बारे में बता रहे हैं। वे कहते हैं कि भगवद्रस की अधिकता से जब ऐसे सज्जनों का हृदय दया से आर्द्र हो जाता है तब निश्चय ही उनके भीतर छिपा हुआ अतिगूढ़ भगवद्-भाव तो प्रकट होता ही है एवं वही गूढ़भाव भगवान में नियोग कराता है। अतः उनका सामीप्य ही लाभकारी होता है, उनसे दूर रहने पर उस गूढ़भाव से वंचित होना पड़ सकता है। निकट रहने से ही उनका अनुसरण करने में अनुकूलता होती है एवं वही समीहित सिद्धि का हेतु है। अतः संतों के निकट रहना आवश्यक है। अथवा। स्वयं का चित्त जिस प्रकार दुष्ट नहीं होता, उस प्रकार निकट या दूर रहना चाहिए, यह अर्थ है ॥ ७,८ ॥ यहाँ शंका होती है कि दूर भी रहने को कहा एवं निकट भी तब कैसे रहना? यह प्रश्न होता है। टीकाकार कह रहे हैं, कि चाहें जैसे रहें परंतु स्वयं का चित्त दुष्ट न हो जाय यह ध्यान रखते हुए निकट या दूर रहना चाहिए यह अर्थ है।

एवं सत्सङ्गापगताशेषदोषस्याग्रिमव्यवस्थामाहुः सेवायामिति।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य सत्सङ्गादिकमनुतिष्ठतः श्रीकृष्णसेवायां स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वपरिस्फूर्त्या दृढा निश्चलासक्तिर्भवेत्, कथायां वा, तस्या अपि सेवासमत्वात्, तस्य यावज्जीवं प्राणस्थितिपर्यन्तं नाशः फलाभावः क्वापि न स्यादिति मम मतिः । अतो नेह सन्देहः कर्तव्य इति भावः । यद्वा । मम मतिरेवं भगवान्परमकृपालुः कथं वा तस्य दयेतेति न वेदितुं शक्यमिति भावः । ननु सेवायाः कथायाश्च कथं साम्यम् । इत्थम् । तथाहि । सेवा नाम चित्तस्य तदेकप्रवणत्वम् । 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति लक्षणाभिधानात् । तत्सम्पादिकायाः कृतेरपि तथात्वम्, अन्यथा तस्याः परत्वानुपपत्तेः । अत एव 'मानसी सा परा मते'त्यभाणि । तेन यथैतस्या भगवद्भावतद्भक्तसङ्गादिसाधकत्वं नान्तरीयकानन्तकार्यसाधकत्वं च, तथा कथाया अपीति साम्यं दुरपवादम् । अत एवैतादृशाभिप्रायेण 'कथारतिषु सक्तस्य कथका अपि मिलन्ति, प्रेमापि भवति, आनुषङ्गिकं चान्यद्ब्रह्मेव भवती'त्युक्तमाचार्यैः ॥ ९ ॥

इस प्रकार सत्संगादि से नष्ट हुए संपूर्ण दोषों के पश्चात् अग्रिम व्यवस्था **सेवायां** इन शब्दों से कह रहे हैं।

जिसका सत्संगादि में बैठने से श्रीकृष्णसेवा में स्वतंत्रपुरूषार्थ की स्फूर्ति द्वारा दृढ़ अर्थात् निश्चल आसक्ति होती है; या कथा में, उसके भी सेवातुल्य होने से दृढ़, निश्चल आसक्ति होती है उसका यावज्जीवन प्राणस्थिति-पर्यंत 'नाश' अर्थात् 'फलाभाव' कभी नहीं होता, यह मेरी मति है। अतः यहाँ संदेह नहीं करना चाहिए, यह भाव है। अथवा। मेरी मति तो ऐसी है कि परम-कृपालु-भगवान कब उस पर दया करेंगे? यह जानना शक्य नहीं है, यह भाव है। यहाँ शंका करते है कि सेवा-कथा की समानता कैसे? इस प्रकार। अर्थात्। 'सेवा' अर्थात् चित्त का (भगवान में) एकप्रवणत्व, ''चित्त की उनमें प्रवणता सेवा है (सि.मु.२) उस लक्षण के द्वारा होता है। चित्त का भगवान में संपादन करने वाली कृति भी वैसी ही है अन्यथा सेवा की मानसीपरत्व अतएव मानसी 'पर' अर्थात् श्रेष्ठ मानी गई है (सि.मु./२) यह कहा। इससे जिस प्रकार सेवा के साधक, भगवद्भाव-भगवद्भक्तसंगादि एवं निर्विघ्न अनंतकार्य हैं, वैसे कथा के भी अतः इन दोनों की समानता अनिंदित है।

अतएव इस प्रकारक अभिप्राय से आचार्यचरणों ने ''कथाप्रेम मे आसक्त को कथाकार भी मिलते हैं, प्रेम भी होता है एवं आनुषंगिक बहुत से कार्य होते हैं'' कहा है ॥ ९ ॥

ननु कचित्काननादावेकान्ते वासं विधाय भगवन्नामलीलादिकमेव चिन्तनीयमेकाकिना, किं भगवद्भक्तसङ्गेनापीति चेत्तत्राहुः ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

तुशब्दः शङ्कान्युदासकः । यदुक्तमेकान्तेन नामचिन्तनमेव कार्यं, न सत्सङ्ग इति तत्सत्यम्, परन्तु यदि बाधस्य भोगचित्तोद्वेग-लक्षणस्य सम्भावना न भवेत्, सा चेत्स्यात्, तदैकान्ते वासो नेष्यते, चित्तचाञ्चल्यादिना नामचिन्तनाद्यनिर्वाहात् । अतः सत्सङ्ग एव कर्तव्य इति भावः । ननु चित्तविक्षेपादिरान्तरो बाधः सत्सङ्गादिना निवर्तताम्, बाह्यं चौरव्याघ्रादिभयं तु दुःपरिहरमिति चेत्तत्राहुः हरिरिति । तुशब्दः प्रकारभेदावेदकः । हरिर्भक्तदुःखहर्ता सर्वतो बाह्याद्यान्तराच्च बाधकाद्रक्षां करिष्यति । अस्मिन्नर्थे संशयो नास्तीत्यर्थः । न हि भगवान्भक्तदुःखं क्षणमात्रमपीक्षितुं क्षमते? निरुपमपरमानुकम्पापूर्णत्वात् । अत एव हरिपदमुपात्तम् । भक्तदुःखहर्तृत्वस्य तदसाधारणधर्मत्वात् । तदाहुराचार्याः 'यथा गन्धः पृथिव्याः, एवं भगवतो भक्तदुःखनिवर्तकत्व'मिति । यद्वा । सर्वतः सुदर्शनादिना रक्षां हरिः करिष्यति, नात्र संशय इत्यर्थः । 'अव्याहतानि कृष्णस्य चक्रादीन्यायुधानि तं, रक्षन्ति सकलापद्भ्यो येन विष्णुरुपासितः । सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्येभ्यः ॥ १० ॥

यहाँ यदि शंका हो, कि कहीं वन आदि में एकांत-वास के विधान होने से एकांकी भगवन्नामलीलादि ही चिंतन करना चाहिए; भगवद्भक्तों के संग ही क्यों? वहाँ कह रहे हैं .....

'तु' शब्द शंका-निरसन कर रहा है। जो ''एकांत द्वारा नाम चिंतन ही करना चाहिए सत्संग नहीं'' कहा, वह सत्य है, परंतु यदि बाधा अर्थात् भोगचित्तोद्वेग लक्षण की संभावना न हो तो; यदि हो, तब एकांत में वास, चित्तचञ्चलता-नामचिंतनादि अनिर्वहनीय होने से इष्ट नहीं है। अतः सत्संग ही करना चाहिए, यह भाव है। यहाँ शंका करते हैं, कि चित्तविक्षेपादि आंतरिक बाधा सत्संगादि से निवर्तित होती है परंतु बाह्य चोर-व्याघ्रादि भय तो दूर करना कठिन है? वहाँ **हरिः** इन शब्दों से कह रहे हैं। 'तु' शब्द प्रकार भेद को बताने के लिए है। भक्तदुःखहर्ता-हरि सभी ओर से, बाह्य एवं आंतरिक बाधकों से रक्षा करेंगे। इस अर्थ में संशय नहीं है, यह अर्थ है। निश्चय ही, भगवान भक्तदुःख को निरूपम-परमअनुकंपापूर्ण होने के कारण क्षणमात्र भी देख नहीं सकते हैं। अतएव 'हरि' पद युक्त है। भक्तदुःखहर्ता उनका असाधारणधर्म होने के कारण। वह श्रीमदाचार्य जी ने ''जिस प्रकार पृथ्वी का लक्षण 'गंध' है, उसी प्रकार भक्तदुःखनिवर्तकत्व भगवान का, इत्यादि वाक्यों से कहा है। अथवा हरि सुदर्शनादि से सभी ओर से रक्षा करेंगे, यहाँ '' जिसके भगवान विष्णु की उपासना की है उसकी समस्त विपत्तियों से भगवान श्रीकृष्ण अपने अनाहत चक्रादि आयुधों के द्वारा रक्षा करेंगे ''एक बार ही शरण में आकर 'मैं आपका हूँ' यह याचना करता है उसे मैं समस्त प्राणियों से अभय दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है (वा.रा. ६/१८/३३)'', हे कौन्तेय, निश्चयपूर्वक घोषणा कर कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता (भ.गी.९/३१)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा संशय नहीं है, यह अर्थ है ॥ १० ॥

एवं प्रस्तुतमशेषं शास्त्रमुपबण्र्यैतदर्थपरिज्ञानपूर्वकपाठफलोपन्यासपुरःसरमुपसंहरन्ति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतीति समाप्तौ । एवमुक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्भक्तिप्रकारप्रतिपादनात् निरूपितमपि गूढतत्त्वं गुप्तस्वरूपम्, भगवदनुगृहीतैरेवैतदभिप्रायस्यावगन्तुं शक्यत्वात् । एतद्यः पुमानुदितभाग्यो भगवदीयानुग्रहेण विचारेण वा सम्यगर्थावगमपूर्वकमधीयीत पठेत्तस्य

भगवति दृढा स्थिरा रतिः स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्रस्तुत संपूर्ण विषय को शास्त्र द्वारा उपवर्णित कर उसके अर्थ-परिज्ञानपूर्वक पाठ का प्राप्त फल आगे कर के उपसंहार कर रहे हैं।

'इति' समाप्ति अर्थ में है। इस प्रकार कहे गये प्रकार से भगवद्-शास्त्र, भगवद्-भक्तिप्रकार प्रतिपादन द्वारा गूढ़तत्व अर्थात् गुप्तस्वरूप भी निरूपित किया है। भगवद्-अनुग्रहीतों के द्वारा ही इसका अभिप्राय समझा जा सकता होने से इसे, जो उदितभाग्यवान पुरूष, भगवदीयों के अनुग्रह से या विचार से भलीभाँति अर्थज्ञानपूर्वक पढ़ता है, उसकी भगवान में दृढ़, स्थिर रति होती है, यह अर्थ है ॥ ११ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाङ्गजन्मा गोपेश्वराभिधः । विवृतिं भक्तिवर्धिन्याः कृतिनिर्वृतये व्यधात् ॥
यद्यप्यतिहृद्यास्याः पितृचरणैर्निर्मिता विवृतिः । तदुपरिकरणेऽन्यस्या आधोषो भूयतेनल्पम् ॥
तेषामतिकरुणानां तथापि बालेन संरचिता । निजपाठितगुणनेव प्रीत्यै नित्यं भवित्रीयम् ॥
इमां श्रीवल्लभाचार्यपदपङ्कजकिङ्कराः । पश्यन्तः सन्ततं सन्तः सन्तुष्यन्तु मुहुर्मुहुः ॥

इति श्रीमद्गोकुलाधीशपदपङ्केरुहनिरतिशयरतिवर्त्मप्रवर्तकोद्वेल्लद्भगवल्लीलामहारसाब्धिसमुच्छलद्भावकल्लोलसंवलितसकलस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यवदनचन्द्रच्युतमवचनमरीचिनिचयप्रोदञ्चिःसीमानन्दनिकुरुम्बकरम्बितीकृतनिजभृत्यनिकरचेतश्चकोरकाननधिकानुकम्पानिधानश्रीविट्ठलाभिधानप्रभुचरणपयोरुहरेणुकणमात्रसर्वस्वश्रीकल्याणरायतनुजगोपेश्वरविरचिता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्तिमुपागमत् ।

श्रीविट्ठलपदपङ्कजकिङ्करगोपेशसुरचिता या । तां श्रितानां तोषाय रोषाय द्वेषिणामस्तु ॥
अनया कृपया तेषां कृतयामितया मया । सदार्या वल्लभाचार्याः प्रसीदन्तु सदा मयि ॥ १ ॥

श्रीमत्कल्याणरायाङ्ग जनित 'गोपेश्वर' नामक ने भक्तिवर्धिनीविवृति स्वान्तसुखाय की।
यद्यपि पितृचरणों द्वारा हृदयस्पर्शी विवृति निर्मित हुई है; उस पर अन्य विवृति का प्रचार अधिक होगा।
तथापि उनकी करूणा से बालक द्वारा संरचित इस विवृत्ति के निजपाठित गुण से नित्य भगवान में प्रीती होगी।
श्रीमद्वल्लभाचार्यपदपङ्कज के दास-संत इस विवृत्ति को वारंवार देखकर सतत संतुष्ट हों।

यह, श्रीमद्गोकुलाधीश के चरणकमल में निरंतर प्रेममार्ग के प्रवर्तक, उच्छलित भगवद्-लीला के महासागर में उछलती भावरूपी लहर से मिश्रित, सकलस्वरूप-श्रीवल्लभाचार्य के मुखचंद्र से चंचल, सुंदरतम-वचनरूपी किरण-समूह के असीम आनंद से सुंदर किए निजदाससमूहों के चित्तचकोर जिन्होंने ऐसे असीम कृपानिधान 'श्रीविट्ठल' नामवाले प्रभुचरणों के चरणकमल की रेणु मात्र सर्वस्व जिनका है, ऐसे श्रीकल्याणराय के पुत्र 'गोपेश्वर' विरचित भक्तिवर्द्धिनी-विवृत्ति समाप्ति को प्राप्त हुई।

श्रीविट्ठल के चरणकमल के दास 'गोपेश' द्वारा सुरचित यह विवृत्ति आश्रितों की तुष्टि के लिए; द्वेषियों के रोष के लिए हो।
उनकी कृपाद्वारा इतनी विवृत्ति मेरे द्वारा की गई॥ सदा आर्यवल्लभाचार्य मुझ पर सदा प्रसन्न हों ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्री पुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेता ।

प्रणम्य गोकुलाधीशभक्तिमार्गाब्जभास्वतः ।
आचार्यांस्तदयादृष्ट्या व्याकुर्वे भक्तिवर्धिनीम् ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणा भगवता एकादशस्कन्धे चतुर्दशाध्याये 'न साधयति मां योग' इत्यत्रोपलक्षणविधया सर्वेषां योगादीनामुपायानां स्वासाधकत्वमुक्त्वोर्जितायाः[1] भक्तेः स्वसाधकत्वमुक्तम्, तत्र किं नामोर्जितत्वमित्याकांक्षायां प्रवृद्धत्वमेवोर्जितत्वमित्यभिसंधाय भक्तिवृद्ध्युपायं स्वीयानामर्थे वक्तुं प्रतिजानते यथा भक्तिरित्यादि ।

गोकुलाधीश को प्रणाम कर, भक्तिमार्गरुपी कमल को खिलाने वाले सूर्यरुपी
आचार्य की दयादृष्टि से भक्तिवर्धिनी की व्याख्या कर रहा हूँ।

अथ श्रीमदाचार्यचरण, भगवान द्वारा एकादशस्कंध चौदहवें अध्याय में कहे बीसवें श्लोक में ''मुझे प्राप्त कराने में योग सक्षम नहीं है'' को यहाँ उपलक्षण विधि से सभी योगादि उपायों को स्व-असाधकत्व कहकर उर्जित भक्ति को स्वसाधकत्व कहा है। वहाँ 'उर्जित' अर्थात् क्या? यह आकांक्षा होने पर ''प्रवृद्ध होना ही उर्जित होना है'' यह जानकर अपने निजजीवों के लिए भक्तिवृद्धि के उपाय **यथा भक्तिः** इत्यादि शब्दों से प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।

तत्र भक्तिशब्दो माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्नेहे रूढः । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति पञ्चरात्रस्मृतेः, 'सा परानुरक्तिरीश्वर' इति शांडिल्यसूत्रोक्ताद्भक्तिलक्षणात्, 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति भावलक्षणस्मृतेश्च । स्नेहश्च ज्ञानादिभ्योतिरिक्तो मनोधर्मविशेषः । प्रीणाम्यनुरज्यामि स्निह्यामीत्यनुव्यवसायेन मानसप्रत्यक्षगम्य इति शांडिल्यसूत्रभाष्ये स्वप्नेश्वराचार्यैर्व्यवस्थापनात् । नचैवं सति स्नेहमात्रमेव भक्तिरिति शंक्यम् । 'गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः । संबन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो' इति सप्तमस्कन्धीयनारदवाक्ये भक्तिस्नेहयोर्निर्देशभेदस्य विरोधापत्तेः । उक्तपञ्चरात्रस्मृत्यादिधूक्तानां तद्विशेषणानां वैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्मात्तावद्विशेषणविशिष्टस्नेह एव रूढो, न केवल इति निश्चयः ।

वहाँ पुष्टिमार्ग में 'भक्ति' शब्द महात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह में रूढ़ है। ''महात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ़, सर्वतोधिक स्नेह, भक्ति है यह कहा एवं उसके द्वारा ही मुक्ति होती है अन्यथा नहीं।'' यह नारदपञ्चरात्रस्मृति में कहा गया है; ''ईश्वर में परम अनुराग भक्ति है'' यह शांडिल्यसूत्र में कहे भक्ति लक्षण से ''देवादि विषयिणी रति, भाव है'' यह भावलक्षण, स्मृति में भी कहा है। एवं, प्रेम करता हूँ, अनुराग करता हूँ, स्नेह करता हूँ, ऐसे परस्पर व्यवहार से, स्नेह मन का प्रत्यक्ष गम्य है'' यह शांडिल्यसूत्र भाष्य में स्वप्नेश्वराचार्य द्वारा व्यवस्थापन करने से, स्नेह ज्ञानादि से अतिरिक्त मन का विशेष धर्म है। एवं ऐसा होने पर 'मात्र स्नेह ही भक्ति है' यह शंका नहीं करनी चाहिए। ''गोपियों ने काम से, कंस ने भय से, शिशुपालादि राजाओं ने द्वेष से, यदुवंशियों ने परिवारसंबंध से, आपने स्नेह से, हमने भक्ति से भगवान को प्राप्त किया है (७/१/३०)'' इस श्रीमद्-भागवत के सप्तम स्कंधीय नारदवाक्य में भक्ति एवं स्नेह की निर्देश भेद से विरोधापत्ति होने के कारण । श्रीमद्भागवत के ''आपने स्नेह से, हमने भक्ति से'' इस वाक्य से स्नेह एवं भक्ति दो पृथक[2] वस्तुएँ हैं, यह सिद्ध हो रहा है। अतः श्रीपुरूषोत्तमजी कह रहे हैं, कि मात्र स्नेह ही भक्ति है, ऐसा नहीं मानना चाहिए । एवं कहे पञ्चरात्रस्मृति आदि में कहे गये एवं उनके विशेषणों के व्यर्थ होने की आपत्ति आयेगी । अतः जितने विशेषणों से विशिष्ट स्नेह है वहीं भक्ति में रूढ़ है, न केवल स्नेह ही, यह निश्चय समझना चाहिए।

योगविचारे तु 'भज सेवाया'मिति धातोर्भावे क्तिन्प्रत्यये कृते भक्तिरिति भवति । भावश्च क्रिया[2]सामान्यम् । प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः, तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येतेति वैयाकरणनियमात् धात्वर्थव्यंग्या या प्रधानभूता क्रिया तत्र पर्यवस्यति । प्रधानभूता च क्रिया

१. तृतीयास्कन्धे च 'सा श्रद्धानस्य विवर्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः । हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते' इति । २ साम्यमिति पाठः

मानस्येव । 'अन्यत्रमना अभूवन्नाशृण्वम्, अन्यत्रमना अभूवन्नापश्यमि'तिवाजसनेयश्रुतौ मनसः प्राधान्यश्रावणेन तत्क्रियाया एव प्राधान्यस्यौचित्यात् । तथाच सेवाभिव्यंग्या प्रेमरूपा मानसी सेवा भक्तिरिति तत्र योगरूढः सिध्यति । तथाच श्रवणदिनवकेपि पारिभाषिकः । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणे'ति सप्तमस्कन्धे प्रह्लादवाक्यात् । अन्ये तूपासनायामपि भक्तिशब्दं प्रयुञ्जते । नैयायिकास्तु आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिरित्याहुः । तन्मते बुद्धिविशेष एव भक्तिः । वस्तुतस्तु तत्र सारूप्यप्रयुक्ता गौणी । पूर्ववद्रूढ्यादिज्ञापकप्र[1]माणाभावात् । तृतीयस्कन्धे पञ्चविंशाध्याये श्रीकपिलदेवैस्तु 'काचित्त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरे'ति देवहूतिप्रश्ने 'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या, अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी, जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथे'ति स्वरूपकार्यलक्षणाभ्यां बोधिता । तत्र एकमनसः पुंस इन्द्रियाणां स्वाभाविकी अनिमित्ता सत्त्वोपाधौ भगवति वृत्तिर्निर्हेति स्वरूपलक्षणम् । कोशजरणं च कार्यलक्षणमिति सिध्यति । तत्सुबोधिन्यां सत्त्वपदं सांख्यानुसारात् 'वस्तुतस्तु मूलरूप' इति व्याख्यातत्वात्स्पष्टम् । अष्टा[2]विंशाध्याये तु 'भक्तियोगो बहुविध' इति पुरूषस्वभावभेदकृतमार्गभेदेन भक्तियोगस्य बहुविधत्वं प्रतिज्ञाय, त्रिविधं सात्त्विकराजसतामसभेदेन तदेव नवधा त्रिभिः श्लोकैरभिधाय, ततो 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथागंगांभसोम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्याप्युदाहृत'मित्यनेन भगवद्गुणश्रवणामात्रात् भगवत्यविच्छिन्नां मनोगतिं यो जनयति सः भाव[3]ः निर्गुणभक्तियोगाख्य इत्येवं लक्षितः । ततः 'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरूषोत्तमे । सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीपमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना' इति सार्धाभ्यां कालकर्माव्यवहिता पुरूषोत्तमविषयिणी स्वतः पुरूषार्थरूपा या सेवा सा आत्यन्तिकभक्तिरित्येवंलक्षिता । अत्र च भक्तिशब्दः प्रेमसेवायां योगरूढो गृहीत इति 'सालोक्ये'तिवाक्यादवसीयते। अयमेव चैकादशस्कन्धे द्वादशाध्याये 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसे'त्यादिभिः श्लोकैर्भगवता परामृष्टो ज्ञेयः ।

योग विचार करने पर तो 'भज्' धातु सेवा में एवं भाव अर्थ में 'क्तिन' प्रत्यय करने पर भक्ति शब्द बनता है। एवं भाव, क्रिया की सामान्य दशा है। प्रकृति एवं प्रत्यय एक साथ कहने चाहिएँ, उनमें भी प्रत्यय की प्रधानता व्याकरण नियम से होने के कारण धातु 'भज्' अर्थ को व्यंगित करके जो प्रधानभूत क्रिया भाव है, वह वहाँ भक्ति में पर्यवसित होती है। 'भक्ति' शब्द 'भज्' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय लगाने से बना है। यहाँ भज्' धातु प्रकृति है एवं 'क्तिन्' प्रत्यय है। 'भज्' धातु का अर्थ होता है 'सेवा' एवं 'क्तिन' प्रत्यय का अर्थ होता है 'भाव'। अतः कुल मिला कर भक्ति शब्द का अर्थ 'भावपूर्वक की जाती सेवा' हुआ। व्याकरण के नियमानुसार प्रकृति एवं प्रत्यय में प्रत्यय प्रधान होता है। अतः यहाँ भक्ति शब्द में भाव की प्रधानता सिद्ध हुई, यह श्रीपुरूषोत्तम जी कहना चाह रहे हैं। एवं, प्रधानभूत क्रिया मानसी ही है। ''अन्यत्र मन होने से नहीं सुना'', अन्यत्र मन होने से नहीं देखा'' इस वाजसनेय श्रुति में मन की प्रधानता सुनी गई होने से मन की ही क्रिया की प्रधानता का औचित्य है। यहाँ टीकाकार एक श्रुति का उदाहरण दे रहे हैं। कोई ऋषि अपने शिष्यों को अध्यापन करवा रहे थे। शिष्य बोले, गुरुदेव आपने जो कहा वह मैंने सुना नहीं, अन्य ने कहा, आपने जो बताया वह देखा नहीं। ऋषि ने कहा, तुमने क्यों नहीं देखा और सुना ? शिष्य बोले हमारा मन अन्यत्र था। ऋषि ने कहा, यह बात उचित नहीं है क्योंकि देखने का जो कुछ भी विषय है, वह नेत्रों का है एवं सुनने का विषय कर्णों का। तब भी तुम लोगों ने क्यों नहीं देखा और सुना? शिष्यों के पास इसका उत्तर नहीं था अतः संक्षेप में बात यहाँ यह सिद्ध हुई कि हर इंद्रियाँ अपने[3] कार्य करती हैं परंतु जब तक तत्तत इंद्रियों के संग मन न जुड़ा हो तो उनके सभी कार्य निष्फल हो जाते हैं। अतः सर्वत्र मन की प्रधानता है, यह अर्थ है। इस प्रकार सेवा से लक्षित प्रेमरुपा मानसी सेवा, भक्ति है। यह योगरुढ अर्थ सिद्ध हुआ। एवं इस प्रकार '''श्रवण', 'कीर्तन', 'विष्णुस्मरण', 'पादसेवा', 'अर्चन', 'वंदन', 'दास्य', 'संख्य' 'आत्मनिवेदन'''। इस प्रकार पुरुषद्वारा विष्णु को अर्पित की गई भक्ति के नौ लक्षण हैं (श्री.भा. ७/५/२३,२४) यह सप्तस्कंध में प्रह्लाद वाक्यों द्वारा, श्रवणादि नवक में भी भक्ति पारिभाषिक अर्थ में ही है। अन्य तो उपासना में भी 'भक्ति' शब्द प्रयुक्त करते हैं। नैयायिक तो 'आराध्यत्व का ज्ञान, भक्ति कहते हैं। आराधना शब्द का अर्थ होता है 'प्रसन्न करना'। जो प्रसन्न करता हो वह हो जाता है 'आराधक'। यह प्रसन्न करने की प्रक्रिया कहलायेगी 'आराधना' एवं जो प्रसन्न होता हो वह है 'आराध्य'। यहाँ टीकाकार यह कहना चाह रहे है कि नैयायिकों के मत में 'हमारा आराध्य' कौन है? या हमें किसकी आराधना करनी चाहिए, यह ज्ञान होना ही भक्ति है। उनके मत में आराध्य को विशेषबुद्धि से जानना भक्ति है। उनके मत में विषेशबुद्धि ही भक्ति है। वास्तव में तो वहाँ, पूर्ववत् रुढ़ि आदि ज्ञापक प्रमाणों के अभाव से वह भक्ति सारुप्यप्रयुक्त गौणी है। टीकाकार भक्ति के रुढ़-अर्थ एवं अन्य ज्ञापक प्रमाण पूर्व में दे चुके हैं एवं नैयायिकों के मत में उन प्रमाणों का अभाव है अतः कह रहे हैं, कि वैसी

१. प्रामाण्याभावादिति पाठः २ एकोनविंशाध्याय इति पाठः, अष्टाधिको विंशो यवैकोनविंशे सोष्टाविंशः, ताद्दशे ध्याये । ३ तेन मनसो गतिर्वेन भावेनेति विग्रहः । एवं 'भक्तिरस्य भजनमित्यस्यां मनःकल्पनञ्चब्देऽपि ।

सारुप्यभक्ति अर्थात् जिस प्रकार भगवान में छह गुण विद्यमान हैं - उन्हीं छहों गुणों को अपने में भी पा लेने की इच्छा से की जाती सारुप्यभक्ति गौण है। तृतीयस्कंध पच्चीसवें अध्याय में श्री कपिल देव ने तो ''आपकी उचितभक्ति कैसी है? (श्री.भा. ३/२५/२८) इस देवहूति के प्रश्न पर ''जिसका चित्त एकमात्र भगवान में ही लग गया है, ऐसै मनुष्य की वेदविहित कर्मो में लगी हुई तथा विषयों का ज्ञान करानेवाली 'इद्रियों' की जो सत्व मूर्ति श्रीहरि के प्रति स्वाभाविकीवृत्ति है, वही भगवान की अहैतुकी भक्ति है, जिस प्रकार जठराग्नि खाए अन्न को पचाती है उसी प्रकार यह भी कर्मसंस्कारों के भंडाररुप लिंगशरीर को भस्म कर देती है (श्री.भा. ३/२५/३२,३३), इन वाक्यों से भक्ति, स्वरुप एवं कार्यलक्षणों द्वारा बोधित की है। वहाँ एकाग्रमन पुरुष की इंद्रियों की सत्व उपाधि-भगवान में स्वाभाविकी, अनिमित्त वृत्ति-निष्ठा, यह स्वरुप लक्षण है। एवं 'कोशजरण' कार्यलक्षण है चह सिद्ध होता है । 'कोश' शब्द का अर्थ होता है 'खजाना' एवं 'जरण' अर्थात् जलाना। यहाँ टीकाकार उपर्युक्त श्रीमद्-भागवत् के श्लोक द्वारा समझाना चाह रहे हैं, कि ऐसी भक्ति कर्म के कोश को जलाकर आत्मा को शुद्ध कर देती है। वे कहते हैं कि इस कर्मकोश को जलाना भक्ति का कार्यलक्षण समझना चाहिए। सुबोधिनी में वह सत्वपद सांख्यमतानुसार ''वास्तव में तो मूलरूप'' इस व्याख्यान द्वारा स्पष्ट है। अट्ठाइसवें अध्याय में तो '' भक्तियोग के बहुत प्रकार हैं'' (श्री.भा.३/२९/७) यहाँ पुरुष भक्त-स्वभावभेद एवं मार्गभेद द्वारा किए भक्तियोग की नैकविधता की प्रतिज्ञा कर, सात्विक राजस-तामस तीन एवं वहीं नवधा भक्ति तीन श्लोकों द्वारा कहकर तत्पश्चात् ''जिस प्रकार गंगाप्रवाह समुद्रकी ओर बहता है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवणमात्र से मन की गति का अविच्छिन्नरूप से मुझ सर्वान्तर्यामी में हो जाना यह निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है (श्री.भा.३/२९/११,१२)'' इन श्लोकों से भगवद्गुणश्रवण मात्र से भगवान में अविच्छिन्न मनोगति जो पैदा करता है वह भाव 'निर्गुणभक्तियोग' नाम से लक्षित है। इसके पश्चात् ''मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम एवं अनन्य प्रेम होने पर भक्त, दिए जाने पर भी, मेरी सेवा छोड़कर सालोक्य, सार्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य मोक्ष भी नहीं ग्रहण करते (श्री.भा.३/२९/१२,१३) इत्यादि डेढ़ श्लोक द्वारा कालकर्म से अव्यवहित पुरुषोत्तमविषयिणी स्वतः पुरुषार्थरुपी जो सेवा है वह ''आत्यन्तिकभक्ति है'', इस प्रकार लक्षित की गई है। एवं यहाँ 'भक्ति' शब्द प्रेमसेवा में योगरुढ़ रुप से गृहीत है यह 'सालोक्य' इस वाक्य से जाना जाता है। एवं यह ही एकादश स्कंध-द्वादश अध्याय में ''गोपियाँ, गायें, पशुपक्षी, नाग, एवं अन्य ने केवल भाव से ही मेरी प्राप्ती कर ली ((श्री.भा.११/१२/८) इत्यादि श्लोक द्वारा भगवान का परामर्श जानना चाहिए।

एवं भक्तिशब्दस्यानेकार्थत्वे सति प्रकृते का वा विवक्षितेति चेत्? उच्यते । आचार्याणां भगवदाज्ञया एकादशस्कन्धे भगवदभिसंहितो यः सुगोप्यः सत्सङ्गलभ्यो भाव उक्तः, स एवाभिसंहितः । सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति कथनात्, तद्विवरणे प्रभुचरणैरपि 'ता नाविदं'ञिति द्वादशाध्यायवाक्यस्य लिखनात्, प्रकृतग्रन्थेपि तत्रत्यचतुर्दशाध्यायवाक्योक्तसत्सङ्गश्रवण-कीर्तनात्मकसाधनानामभिधानाच्च । न च चतुर्दशाध्यायोक्तसाधनानां द्वादशाध्यायोक्तभावं प्रति साधनत्वं कथमिति शंक्यम् । चतुर्दशाध्याये तस्यैव भक्तिशब्देन परामर्शात् । द्वादशाध्याये 'न रोधयति मां योग' इत्याद्युक्तस्य योगादीनामसाधकत्वेनापि 'न साधयति मां योग' इत्यनेन प्रत्यभिज्ञानेन तथा निश्चयात् । अतस्तस्य या पूर्वावस्था 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्त्वि'ति पञ्चरात्रवाक्ये उक्ता, सात्र विवक्षिता, तस्याः पूर्वोक्तरूपोर्जितत्वार्थमेव प्रयतनात् । तथाच सा यया येन प्रकारेण प्रवृद्धा उर्जिता स्यात् तथा तेन प्रकारेण उपायो बुद्धिस्थो निरूप्यत इत्यर्थः ।

इस प्रकार भक्ति शब्द के अनेक अर्थ होने पर यहाँ क्या विवक्षित है? कह रहे हैं। आचार्य चरणों का भगवद्-आज्ञा से एकादश स्कंध में भगवान द्वारा स्वीकृत जो सुगोपनीय, सत्संग से प्राप्त भाव कहा है, वही हितकारी है। सिद्धांत मुक्तावली में ''चित्त की वहाँ भगवान में प्रवणता सेवा है'' इस कथन द्वारा, इसके विवरण में प्रभुचरण द्वारा भी ''वे नहीं जानतीं थीं (श्री.भा.११/१२/१२)'' यह द्वादशाध्याय वाक्य को लिखा होने से एवं प्रस्तुत भक्तिवर्द्धिनी ग्रंथ में भी वहाँ चतुर्दश अध्याय वाक्य में कहे सत्संग-श्रवण-कीर्तनात्मक साधनों का अभिधान होने से । एवं, 'चतुर्दश अध्याय के कहे साधन एवं द्वादशाध्याय में कहे भाव में, साधन क्या है? यह शंका नहीं करनी चाहिए। श्रीमद्भागवत के एकाद्वश स्कंध के चतुर्दशाध्याय बीसवें श्लोक में भगवान को प्राप्त करने के साधन बताए गये हैं। बारहवें अध्याय प्रथम श्लोक में भाव द्वारा भगवद्-प्राप्ति बताई गई है, अब इन दोनों में भगवद्-प्राप्ति का साधन किसे मानना? यह शंका होती है। टीकाकार कह रहे हैं, ऐसी शंका उचित नहीं है, क्योंकि चौदहवें अध्याय में कहे साधन भक्ति शब्द से ही परामर्शित हुए हैं। चतुर्दश-अध्याय में साधन के ही भक्ति शब्द से परामर्शित होने के कारण। बारहवें अध्याय में ''मुझे योग रोक नहीं सकता (श्री.भा. ११/१२/१)'' इत्यादि वाक्यों में योगादि को असाधक कहा, यहाँ चौदहवें अध्याय में भी ''मुझे योग साध नहीं सकता (श्री.भा. ११/१४/२०)'' इन वाक्यों द्वारा कथित होने से जो बारहवें में कहा वह निश्चय होने से। अतः भाव की जो पूर्वावस्था ''माहात्म्यज्ञानपूर्वक'' इस नारदपञ्चरात्रस्मृति वाक्य में कही, वह यहाँ विवक्षित है, उस भक्ति का पूर्व में कहे उर्जितरूप के लिए प्रयत्न

१ पुष्टित्वं साधनेष्वपि, अतो न केवलानुग्रहसाध्यत्वविरोधः

करने से। एवं वह भक्ति जिस तरह-जिस प्रकार से प्रवृद्ध अर्थात उर्जित होती है उस तरह -उस प्रकार से बुद्धिस्थ-उपाय निरुपित कर रहे हैं, यह अर्थ है।

एवं प्रतिज्ञाय अधिकारिभेदेन प्रकारद्वयं वदिष्यन्तो मुख्याधिकारिणो भक्तिप्रवृद्धेरधिकारबलादेव सिद्धत्वात्तदनुक्त्वा प्रथमं मध्यमाधिकारिण उपायमाहुः बीजभाव इत्यर्धेन ।

बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

बीजरूपो भावः भग[1]वदनुग्रहजन्यः प्रेमा । तस्मिन्वक्ष्यमाणरीतिकव्यसनरूपतया दृढे सति । तुः साधनान्तराशङ्कानिरासे । तदा त्यागा[2]च्छ्रवणकीर्तनात्स्यात् । विरहानुभवार्थं संन्यासनिर्णयोक्तप्रकारकः सवासनगृहपरित्यागस्तं कृत्वा तदुत्तरं यच्छ्रवणसहितं कीर्तनं तस्मात्स्या[3]दित्यर्थः अत्र श्रवणानन्तरं कीर्तनस्य कथनाच्छ्रुतानां स्वरूपगुणलीलानां भावनं कीर्तनात्पूर्वमर्थबलात्प्राप्यते । एतदभिप्रायेणैव संन्यासनिर्णये 'भावो भावनया सिद्धः साधन'मित्युक्तम् । निरोधलक्षणे चाशंसाः प्रथमतो निरूपताः । तथाचैतैश्चतुर्भिर्भक्तिरूर्जितलक्षणवती प्रवृद्धा भवतीत्यर्थः । एतदेव निरोधलक्षणग्रन्थे 'महतां कृपया याव'दित्यारभ्य 'तदध्यासोपि सिध्यती'त्यन्तेन फलानुभवपर्यन्तं प्रपञ्चितं ज्ञेयम् । तन्मया तत्रैव विवृतमिति नेहोच्यते ।

इस प्रकार प्रतिज्ञा कर अधिकारी भेद से दो प्रकार कहते हुए, मुख्याधिकारियों को भक्तिप्रवृद्धि अधिकार बल से ही सिद्ध होने के कारण उसे न कह कर, प्रथम मध्येम अधिकारियों को उपाय **बीजभाव** इस अर्धश्लोक द्वारा कह रहे हैं।

बीजरूप भाव, भगवदनुग्रहजन्य प्रेम है। उस प्रेम में कही जानेवाली रीति से व्यसनरूपतया होने पर बीजभाव दृढ़ होता है । 'तु' शब्द इतर साधनों की आशंका निरसन करने के लिए है। तब त्याग से, श्रवणकीर्तन से बीजभाव दृढ़ होता है विरहानुभव के लिए संन्यासनिर्णय में कहे प्रकार से सवासन गृहपरित्याग करके इसके पश्चात् जो श्रवणसहित कीर्तन है उससे बीजभाव दृढ़ होगा, यह अर्थ है। यहाँ श्रवण के पश्चात् कीर्तन के कथन से, सुने गये स्वरूपगुणलीला भावना एवं कीर्तन से पूर्वअर्थ भगवान बलपूर्वक प्राप्त हो जाते हैं। इस अभिप्राय से ही संन्यासनिर्णय में ''भाव, भावना से सिद्ध है, साधन आवश्यक नहीं/८'' यह कहा एवं निरोधलक्षण में प्रशंसा प्रथमतः निरूपित की गई है। एवं इस प्रकार इन चार उर्जित लक्षणवाली भक्ति दृढ़ बीजभाव, त्याग, श्रवण, कीर्तन प्रवृद्ध होती है, यह अर्थ है। यही निरोधलक्षण ग्रंथ में ''महापुरुषों की कृपा द्वारा जब तक (नि.ल./४) यहाँ से आरंभ कर वह भगवदासक्ति भी सिद्ध होती है (नि.ल./१४)'' यहाँ फलानुभवपर्यंत विस्तृत किया है, यह समझना चाहिए। वह मैनें वहाँ ही विवृत किया है, अतः यहाँ नहीं कह रहा हूँ।

प्राञ्चस्तु । पुष्टिमार्गाचार्यानुग्रहपूर्वकभगवन्निवेदनानन्तरभाविनमंगीकारं बीजभावत्वेन केचिदाहुः । अन्ये तु भक्त्यसाधारणकारणमहदनुग्रहसत्ताम् । इतरे चाल्पं स्नेहम् । तथा त्यागपदेन भगवदतिरिक्तत्यागं केचिदाहुः । अन्ये तु एतन्मार्गीयातिरिक्तसाधनत्यागम् । इतरे तु भक्तिमार्गविरोधिनोन्यभजनादेस्त्यागम् । तेन तन्मते गृहस्थित्यविरोधी त्याग आयाति । मन्मते तु गृहस्थितिविरोधीतिभेदो बोध्यः ॥ १ ॥

प्राचीन मत । कुछ, पुष्टिमार्गाचार्य के अनुग्रहपूर्वक भगवद्-निवेदन पश्चात् हुए अंगीकार को 'बीजभाव' कहते हैं। अन्य तो भक्ति का असाधारण कारण, महद्-अनुग्रह की सत्ता कह रहे हैं। एवं इतर 'अल्पस्नेह'। उसी प्रकार 'त्यागं' पद से भगवदतिरिक्त त्याग कुछ कह रहे हैं। अन्य तो पुष्टिमार्ग से अतिरिक्त अन्य साधनों का त्याग कह रहे हैं। इतर तो, 'भक्तिमार्गविरोधी अन्य भजनों का त्याग' कह रहे हैं इससे उनके मत में गृहस्थिति का अविरोधी त्याग आता है। मेरे मत में तो 'गृहस्थिति का विरोधी त्याग है; यह भेद समझना चाहिए ॥ १ ॥ अर्थात् गृहत्याग करना चाहिए यह श्रीपुरुषोत्तमजी का मत है।

अतःपरं जघन्याधिकार्यर्थं प्रकारं वदिष्यन्तः पूर्वं बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः बीजेत्यादि ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

बीजं पूर्वोक्तम् । तदार्ढ्यप्रकारस्तु निरूप्यत इति शेषः । गृहे गृहेस्थाश्रमे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतः पूर्वसिद्धादव्यावृत्तः अपरावृत्तः । 'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि

---

१ साधारणसत्तारूपप्रेम्णावर्तकं विशेषणम् । 'नासतो विद्यते भाव' इति गीतायां तदुक्तम् । प्रेमापि सत्तारूपं विषयस्नेहन्यावृतं । विशेषणादित्युक्तम् । २ एकादशस्कैकादशोध्यायेसिध्यति । ३ व्यसनरूपप्रेमपरिमाणान्तिमेन वृद्धादिमस्य संपर्के कारिकोक्ता भक्तिवृद्धिः स्यादिति नोपक्रमविरोधः ।

सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिसन् सर्वाणि भूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः, स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, न च पुनरावर्तत' इति छान्दोग्यस्थे गृहिणोपसंहारसूत्रविषयवाक्ये तथा सिद्धत्वात् । एकादशस्कन्धे उद्धवप्रश्ने भगवताप्याचारलक्षणस्य वर्णाश्रमधर्मस्य भजनाङ्गत्वेनोक्तत्वाच्च । तं कुर्वन् कृष्णं पुरूषोत्तमं भजेत् । तत्र साधनं पूजाश्रवणादिकं च । तदाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । अत्र पूजा यथालब्धोपचारैः स्नानालंकरणादिरूपं स्वरूपसेवनम्, अर्चनापरपर्यायम् । तत्रैव पूजनप्रयोगदर्शनात् । श्रवणादि तु नवविधं प्रसिद्धमेव । तैर्भजेत् सेवेत । प्राथमिकभगवदनुग्रहेण जातामनुद्भूतां भक्तिमनया साधनमर्यादयाभिव्यञ्जयन् वर्धयेदित्यर्थः । यद्यपि नवस्वर्चनमपि प्रविशति, तथापि तस्यावश्यकत्वाय[1] विशेषफलसाधकत्वाय[2] च प्रथमं पृथङ्निर्देशः । नचोक्तश्रुतिभगवद्वाक्यबोधित-प्रकारकस्य वर्णाश्रमधर्मस्येदानीमभावाद्भजनस्य व्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम् । सप्तमस्कन्धे 'स्वधर्माचरणं शक्त्ये'ति नारदवाक्येन, निबन्ध आचार्यैरपि 'स्वधर्माचरणं शक्त्ये'त्यंगीकारेण च यथाशक्ति तत्करणेपि भक्तेर्व्यङ्ग्यतापरिहारस्य निःप्रत्यूहत्वात् । एवमेकः प्रकार उक्तः ॥ २ ॥

इसके पश्चात् जघन्याधिकारियों के लिए दूसरा प्रकार कहते हुए पहले बीजदृढ़ता का प्रकार **बीज** इत्यादि वाक्यों से कह रहे हैं।

'बीज' पूर्व में कह दिया है। उसकी दृढ़ता का प्रकारनिरूपण शेष रह जाता है। गृह में अर्थात् गृहस्थाश्रम में रह कर स्वधर्म से अर्थात् वर्णाश्रमधर्म से पूर्वसिद्ध होने से अव्यावृत्त अर्थात् अपरावृत्त होने से बीजभाव दृढ़ होता है। ''आचार्यकुल से गुरू द्वारा वेद पढ़कर कर्म के अतिशेष रहने के कारण कुटुंब में वापस आकर, पवित्र देश में स्वाध्याय का अध्ययन करते हुए, धार्मिक कृत्य यज्ञादि का विधान करते हुए समस्त इंद्रियों को अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित करते हुए सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा भाव रखते हुए, तीर्थों से अन्यत्र निवास करते हुए आयुष्य रहने तक वर्तन करे तो वह निश्चित रूप से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है एवं उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती'' यह (छा.उ. ८/१५) में गृहिणी उपसंहार सूत्रविषय के वाक्य में सिद्ध होने के कारण। इसी प्रकार के श्लोक (भ.गी. ६/११...१५) में प्राप्त होते हैं, विशेष जानकारी के लिए देखें। एकादश स्कंध में उद्धवजी के प्रश्न पर भगवान ने भी आचारलक्षण को वर्णाश्रमधर्म का, भजन का ही अंग कहा होने के कारण। इसे करते हुए आचारलक्षण वर्णाश्रम करते हुए पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को भजना चाहिए। एवं वहाँ साधन, पूजाश्रवणादि हैं। वह **पूजया श्रवणादिभिः** इन शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ पूजा, जिस प्रकार साधन प्राप्त हों उनके द्वारा स्नान, अलंकरण आदि से स्वरूप सेवा है; अर्चना उसका दूसरा पर्याय है। वहीं अर्चना में पूजाप्रयोग दर्शित होने से। श्रवणादि तो नौ प्रकारक प्रसिद्ध हैं ही। उनसे भजना, सेवना चाहिए। प्राथमिक भगवद्-अनुग्रह के द्वारा पैदा हुई, अनुद्भूत, साधनमर्यादा द्वारा अभिव्यञ्जित होती हुई इस भक्ति का वर्धन करना चाहिए, यह अर्थ है। यद्यपि नवधाभक्ति में अर्चना भक्ति भी प्रविष्ट होती है तथापि उसकी आवश्यकता के लिए एवं विशेषफल साधन के लिए प्रथमतः पृथकरूप से निर्देश है। श्रीमद्भागवत के सातवें स्कंध में ''श्रवण .... निवेदनम्'' श्लोक द्वारा नवधा भक्ति गिनाई गई हैं। वहाँ अर्चन का स्थान पाँचवा है। तथापि यहाँ उसकी आवश्यकता एवं विशेषफल साधक होने से उसका प्रथमतः एवं पृथकरूप से निर्देश है। टीकाकार पूर्व में ही कह चुके हैं, कि पूजा, अर्चन का दूसरा नाम है। एवं कही गई श्रुति, भगवद्वाक्यबोधित प्रकारक एवं वर्णाश्रमधर्म में कहे कथन का वर्तमान में अभाव होने से भजन के उपहास की शंका नहीं करनी चाहिए। टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि श्रुति में कहे गये, भगवद्-वाक्यों से बोधित एवं वर्णाश्रमधर्म में कहे भजन का उत्तम भावात्मक प्रकार तो वर्तमान में है ही नहीं, तब क्या वह वर्तमान में किया जाने वाला केवल क्रियात्मक एवं नीरस भजन उपहास की दृष्टि से न देखा जायेगा? यदि कोई ऐसी शंका करे तो वे कह रहे हैं, कि नहीं करनी चाहिए, इसका स्पष्टीकरण वे आगे दे रहे हैं। तृतीय स्कंध में ''शक्ति-अनुसार स्वधर्माचरण से '' (श्री.भा.३/२८/२) इन प्रभुवाक्यों द्वारा एवं निबंध में आचार्यचरणों द्वारा भी ''स्वधर्माचरण शक्ति से'' यह स्वीकार किया होने से यथाशक्ति स्वधर्माचरण करने पर भी भक्ति की व्यंगता का परिहार होने से अर्थात् निष्कंटक होने से ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए यह एक प्रकार कहा है ॥ २ ॥

अतःपर वैधुर्यादिना तदशक्तौ प्रकारान्तरमाहुः व्यावृत्तोपीत्यादि ।

वैधुर्यादिना व्यावृत्तः स्वाशक्त्या वर्णाश्रमधर्मान्निवृत्तोपि हरौ भगवत्यघहर्तरि चित्तं स्थापयित्वा श्रवणादौ श्रवणाद्यर्थम् तादर्थ्ये सप्तमी, यतेत् यत्नं कुर्यात् । अनुदात्तेङ्गलक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात् परस्मैपदम् । न तु परार्थत्वात् । स्वतः पुरूषार्थत्वेनैव तत्करणस्य सिद्धान्तत्वात् । सदेति । निरन्तरमभीक्ष्णं वा । एवञ्च जघन्याधिकारिणोमर्ध्ये यस्य सेवकसाधनसंपत्तिः तस्य पूजा श्रवणादिकं च बीजव्यक्तिसाधनम् । यस्य तु न पूजासाधनसंपत्तिः, तस्य तु भगवच्चित्तापूर्वकं श्रवणादिकमेव साधनम् । एतदेवाभिसन्धाय निरोधलक्षणग्रन्थे 'संसारावेशदुष्टनामिन्द्रियाणां हिताय वै' इत्यारभ्य आन्तं प्रपञ्चितं ज्ञेयम् । तन्मया तद्विवरणे व्युत्पादितमिति नेह पुनरुच्यते ।

इसके पश्चात् विधुर आदि ऐसा करने में स्वधर्माचरण करने में अशक्त होने पर दूसरे प्रकार को व्यावृत्तोपि इत्यादि शब्दों से कह

१ भाष्योक्तत्वादिति भावः । २ 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धये'ति श्रुत्युक्तं विशेषफलम् । कस्माद्विशेष इति चेत् ? 'तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ती'ति श्रुत्युक्तात् फलात् ।

रहे हैं।

विधुरता आदि से अर्थात् अपनी असमर्थता से, वर्णाश्रमधर्म से निवृत्त होने पर भी हरि अर्थात् पापहर्ता भगवान में चित्त स्थापित कर श्रवणादि के लिए यत्न करना चाहिए; 'श्रवणादि' अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है। आत्मने पद के सीमित एवं अनित्य होने के कारण यहाँ परस्मैपद है। परार्थगामी होने से नहीं। संस्कृत व्याकरण में दो प्रकार के पद माने गये हैं, एक 'आत्मनेपद' एवं दूसरा 'परस्मैपद'। उदाहरण के तौर पर जैसे यों कहा जाय कि अहं पठामि अर्थात् 'मैं पढ़ता हूँ'। अब यहाँ पढ़ने का फल स्वयं कर्ता को मिलता होने से यह वाक्य आत्मनैपद माना जायेगा। उसी तरह 'त्वं पठ' अर्थात् 'तुम पढ़ो' इस वाक्य में पढ़ने का फल दूसरे व्यक्ति को मिलता होने से यह 'परस्मैपद' कहा जायेगा, यह समझना चाहिए। स्वतः पुरुषार्थत्व द्वारा ही वह करने का सिद्धांत होने से। **सदा** इस शब्द की व्याख्या करते हैं। निरंतर या अभीष्ण। इस प्रकार जघन्यधिकारियों के मध्य में जिसके सेवक, साधनसंपत्ति हैं, उसके पूजा एवं श्रवणादि बीज की अभिव्यक्ति के साधन हैं। जिसके पास पूजा, साधनसंपत्ति नहीं है उसके तो भगवान में चित्त लगाकर श्रवणादि ही साधन हैं। इसी को ध्यान में रखकर निरोधलक्षण ग्रंथ में ''संसारावेश से दुष्ट हुई इंद्रियों को निश्चय ही (१२)'' यहाँ से आरंभ कर अंत तक विस्तृत किया है, यह जानना चाहिए। वह मैंने उस विवरण में व्युत्पादित किया है अतः यहाँ पुनः नहीं कह रहा हूँ।

प्राञ्चस्तु अव्यावृत्तशब्दस्य व्यासङ्गरहित इत्यर्थमाहुः, व्यावृत्तशब्दस्य च व्यासक्त इति । सोत्र 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्ये'ति श्रुत्यैव सिध्यतीत्युपेक्षितः । व्यासक्त इति तु 'हरौ चित्त'मित्यादिनैव निवार्यत इत्युपेक्षितः । लक्षणप्रसंगाच्चेति[1] बोध्यम् ॥ २ १/२ ॥

प्राचीन आचार्य तो 'अव्यावृत्त' शब्द का अर्थ 'व्यासंग रहित' ऐसा करते हैं। एवं व्यावृत्त शब्द का अर्थ 'व्यासंग' करते हैं। वह यहाँ ''आत्मा में सभी इंद्रियों को भलीभाँति स्थापित कर (छा.उ. ८/१५) इस श्रुति से ही सिद्ध हो जाता है अतः उपेक्षित है। 'व्यासक्त' यह पद तो 'हरि में चित्त' इत्यादि से ही निवारित हो जाता है अतः उपेक्षित है एवं हरौ चित्तं का लक्षण अप्रासंगिक है, यह समझना चाहिए ॥ २ १/२ ॥

एवं बीजदार्ढ्यसाधनमुपदिश्य बीजाभिव्यक्तिप्रकारमाहुः ततः प्रेमेत्यादि ।

ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥३॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्नापि नश्यति ।

तत उक्तविध (मध्यम)जघन्याभ्यां कृतादुक्तविधसाधनात्प्रेम हरौ भवेत् । पूर्वोक्तो हरिशब्दोत्राप्यनुषज्यते । एवमग्रेपि बोध्यम् । प्रेम[2] च भावकन्दलरूपं बोध्यम् । तथासक्तिः तदुत्तरं तादृशेन तत्करणेन तदुत्कर्षावस्था रागादिरूपा भवेत् ।

कल्याणरायास्तु स्वविषये स्वतः प्रवर्तको भावः प्रेमशब्देनोच्यते, स्वविषये विविधमनोरथजनको भाव आसक्तिरिति तयोर्लक्षणमप्याहुः । तदपि युक्तम् । तथानुभवस्य सर्वजनीनत्वादिति ।

इस प्रकार बीजदृढ़ता के साधन उपदिष्ट कर, बीज की अभिव्यक्ति के प्रकार **ततः प्रेम** इन शब्दों से कह रहे हैं।

इसके पश्चात् कहे गये प्रकारक मध्यम-जघन्याधिकारी द्वारा किए गये उक्तविध साधन से हरि में प्रेम होता है। पूर्व में कहा 'हरि' शब्द यहाँ भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार आगे भी समझना चाहिए। एवं प्रेम, भाव का अंकुरित रूप समझना चाहिए। **तथासक्तिः** इस शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। प्रेम के पश्चात् मध्यम-जघन्याधिकारी द्वारा, प्रेम करने से उसकी रागादिरूप उत्कर्ष अवस्था होती है। कल्याणरायजी तो स्वविषय में भगवद्-विषय में स्वतः प्रवर्तक भाव 'प्रेम' शब्द से कह रहे हैं, स्वविषय में भगवद्-विषय में विविध मनोरथजनक भाव आसक्ति है एवं इन दोनों प्रेम-आसक्ति के लक्षण भी कहे हैं। वह भी उचित है। वैसा अनुभव सभी जनों को होने के कारण।

च पुनः यदा व्यसनं तद्विना स्थातुमशक्तिरित्याकारकं यदा भवेत्, तच्छास्त्रे भक्तिपरमकारणबोधके 'श्रद्धामृतकथायां म' इत्यादिरूपे भगवता साधनपर्यासिकथनात् दृढं बीजमित्यस्माभिरुच्यते । दृढत्वे गमकमाहुः यत्नापि नश्यतीति । नश अदर्शने । यद् दुःसंगादिना परिभूतं सद्दर्शनागोचरतां न प्राप्नोति, किन्तु सर्वदैव दृश्यते, स्वयं चानुभूयते । तथाचैतदेव दार्ढ्यलक्षणम् । अदृढस्यैव कादाचित्कत्वादिति । अत्र पूजाश्रवणादिकं दशमस्कन्धोक्तरीतिकमेव[3] ग्राह्यमित्यभिप्रेतम् । नामावलीसमाप्तौ[4] 'बाललीलानामपाठात्

---

१ विपरीतलक्षणाप्रसंगात् । २ 'बीजं तदुच्यत' इत्युत्तरग्रन्थात् । 'सेवायां वा कथायां वे'त्यत्र सेवाश्रवणादिसरणिरूपा भक्तिर्हंसोक्ता । ३ 'प्रातराशौ विचेरु'रित्यारभ्य 'नीवीं वसित्वे'त्यन्तम् । ४ ततः प्रेमेत्यत्रोक्तसाधनेषु ना मात्मकसाधनप्रवेशात् तत इत्यस्य नामात्मकसाधनमाहुः ।

श्रीकृष्णे प्रेम जायते । आसक्तिः प्रौढलीलाया नामपाठाद्भविष्यति । व्यसनं कृष्णेचरणे राजलीलाभिधानतः । तस्मान्नामत्रयं जाप्यं भक्तिप्राप्तीप्सुभिः सदे'ति कथनात् । एवं कीर्तनस्य निरोधलीलाविषयत्वे निश्चिते श्रवणस्यापि तद्विषयत्वमेव निश्चितं भवति । तथा श्रवणमपि यत्र यन्नामसिद्धं, यथा च नामावल्यां यत्रोक्तं, तदनुसंधानपूर्वकमेव संपादनीयमिति च । तथा पूजाया अपि । तेन नवानामप्येकरूपत्वं निश्चितं भवतीति मम प्रतिभाति । न च 'यस्याः संकीर्तनाद्विष्णुरात्मानं संप्रयच्छती'त्युपक्रमोक्तफलविरोधः शंकनीयः । तस्यावर्तनसिद्धात्कीर्तनात्सिद्धेः । उपसंहारे निरन्तरे जाप्योक्त्या तथावसायादिति ।

च इस शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । पुनः जब व्यसन ''उनके बिना रहना अशक्त हो'' ऐसे स्वरूपवाला जब होता है तब उस भक्ति के परमकारणबोधक शास्त्र में ''मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा (श्री.भा. ११/१९/२०)'' इत्यादि रूप में भगवान ने पर्याप्त साधन कहे होने से 'दृढ़ बीज' हम कह रहे हैं। दृढ़त्व का लक्षण **यन्नापि नश्यति** इन शब्दों से कह रहे हैं। 'णश्' धातु न दिखाई देने अर्थ में है। जो दुःसंगादि से परिभूत होते हुए दिखाई देने की अप्रत्यक्षता को प्राप्त नहीं होता किंतु सर्वदा ही दिखाई देता है, एवं स्वयं अनुभव किया जाता हैं। एवं यही दृढ़तालक्षण है। अदृढ़बीज के ही कदाचित् अप्रत्यक्षता को प्राप्त होने से। टीकाकार 'यन्नापि नश्यति' इस पद की व्याख्या कर रहे हैं। नश्यति मे णश् धातु है जिसका अर्थ होता है दिखाई न देना। वे कहना चाह रहे हैं कि दृढ़ बीजभाव दुःसंगादि से घिरा होने के बाद भी नष्ट नहीं होता एवं यही दृढ़त्व का लक्षण समझना चाहिए। किंतु अदृढ़बीजभाव दुःसंगादि से अप्रत्यक्ष अर्थात् नेत्रों से लुप्त भी हो सकता है। एवं यदि अप्रत्यक्ष या लुप्त हो जाय तब उसे अदृढ़ ही समझना चाहिए। यहाँ पूजा श्रवणादि दशमस्कंध में कहे रीति से ग्रहण करने चाहिए, येही अभिप्रेत है। नामावली त्रिविधनामावली की समाप्ति में ''बाललीला पाठ से कृष्ण में प्रेम जनित होता है। 'आसक्ति' प्रौढलीला के नामपाठों से होती है। 'व्यसन' कृष्णचरण में राजलीला के नाम द्वारा। अतः भक्तिप्राप्ती इच्छुकों को यह तीन नाम सदा जपने चाहिए'' इस कथन द्वारा। एवं, इस प्रकार कीर्तन के निरोधलीला विषयत्व में निश्चित होने पर श्रवण का भी उस निरोधलीला विषयत्व ही निश्चय होता है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि कीर्तन में संलग्न जीव को उपर्युक्त श्लोकोनुसार 'निरोध' प्राप्त होगा, उसी प्रकार श्रवण करने वाले को भी निरोध प्राप्त होगा। उस प्रकार श्रवण भी, जहाँ जो नामसिद्ध हैं एवं जिस प्रकार नामावली में जहाँ कहा है, उसके अनुसंधानपूर्वक ही संपादन करना चाहिए। अर्थात् त्रिविधनामावली में प्रभु के जो, जैसे नाम है वे एवं उसके अनुसंधानपूर्वक श्रवण करना चाहिए, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। समझना चाहिए कि नाम तीन प्रकार के हो सकते हैं, एक जन्म का, दूसरा कर्म के अनुरूप एवं तीसरा गुण के अनुरूप। उदा. के लिए प्रभु का जन्मनाम 'कृष्ण' था। प्रभु ने गोवर्धन धारण किया अतः उनका नाम 'गिरिधारी' हो गया। प्रभु में भक्तों के दुःख हर लेने का गुण है अतः वे 'हरि' कहलाए। संक्षेप में प्रभु के नामों का उनके तत्तत जन्मगुणकर्मानुसार श्रवण करना चाहिए। श्रीमद्-भागवत में ''संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्'' इस प्रकार कहा है। उस प्रकार पूजा भी। इससे नवधाभक्ति का भी एकरूपत्व निश्चित होता है, ऐसा मुझे लगता है। एवं ''जिस नामावली के संकीर्तन से विष्णु स्वयं की आत्मा को प्रदान कर देते हैं'' (त्रि.ना./१) इस उपक्रम में कहा फलविरोध शंकनीय नहीं है। उपसंहार में निरंतर जप कहा होने से ।

एवं दृढबीजलक्षणमुक्त्वा तत्सिद्धयर्थं तदुत्पादकानां प्रेमाद्यवस्थानां सिद्धिज्ञापकं लक्षणं क्रमेणाहुः स्नेहादित्यादि ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्दृहारुचिः ॥४॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थःस्यात्तदैव हि ॥५॥

अत्रैतद्बोध्यम् । भक्तिः स्नेहविशेष इति पूर्वं व्युत्पादितम् । तत्कारणं तु भगवद्धर्मविशेष एवानुग्रहाख्य इति भक्तिहेतुनिर्णये स्थितम् । सा चानुग्रहजन्या भक्तिः कचित्सहसैवाभिव्यज्यते, कचिच सत्सङ्गश्रवणादिसाधनद्वारा । तत्र ये शुद्धपुष्टावंगीकृतास्तेषु तु सहसैवाभिव्यज्यते, यथा गोकुलस्थेषु । ये पुनर्मिश्रपुष्टावंगीकृतास्तेषु तु साधनद्वाराभिव्यज्यते, किञ्चित्कार्यार्थं तेषु प्रतिबन्धतन्निवृत्त्योर्दर्शनात् । तथापि 'लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा । वैष्णवत्वं हि सहज'मिति लक्षणं तु न व्यभिचरति । एवं सति येषु साधनद्वारा भक्त्यभिव्यक्तिः, तेषु साऽनुद्भूता भाववरूपेण मनसि तिष्ठति, ततः पूजादिषु साधनेष्वनुष्ठीयमानेषु प्रेमादिरूपेण क्रमादुद्भूता भवति ।अभियुक्तास्तु भावस्यावस्थासप्तकमाचक्षते । 'भावः प्रेमः प्रणयः स्नेहो रागानुरागव्यसनानी'ति । अत्र च पूर्वं बीजाभिव्यक्तिप्रकारकथने'ततः प्रेमे'ति प्रेमशब्देन पूर्वावस्थां निर्दिश्यात्र तदभिज्ञापककथने यत्स्नेहशब्दः प्रयुक्तः, तेन प्रेमप्रणयस्नेहाख्यास्तिस्रोवस्था यदा भवन्ति, तदा भगवच्छ्रवणाद्यतिरिक्तेषु रागविनाशो भवतीति सूच्यते । तथा च इतररागविनाशस्तत्प्राचुर्याभिज्ञापकं लक्षणम् ।

इस प्रकार दृढ़बीजलक्षण कह कर उसकी सिद्धि के लिए उसके उत्पादक प्रेमादि अवस्था के सिद्धिज्ञापक लक्षण क्रम से **स्नेहात्**

इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यहाँ यह समझना चाहिए कि भक्ति; स्नेहविशेष है यह पूर्व में व्युत्पादित किया है। उसका कारण तो 'अनुग्रह' नामक विशेष भगवद्-धर्म ही है, यह भक्ति हेतु निर्णय में है। एवं वह अनुग्रहजन्य भक्ति कभी सहसा ही अभिव्यंजित होती है, कभी सत्संग, श्रवणादि साधन द्वारा। वहाँ जो शुद्ध-पुष्टि में अंगीकृत हैं उनमें सहसा ही अभिव्यंजित होती है, जिस प्रकार गोकुलवासियों में हुई। पुनः जो मिश्रपुष्टि में अंगीकृत हैं उनमें तो, कुछ कार्य के लिए प्रतिबंध एवं उसकी निवृत्ति दिखाई देने से, साधनद्वारा अभिव्यंजित होती है, तथापि ''उन भक्तों में लौकिकत्व एवं वैदिकत्व तो कपटरुप से है अन्यथा नहीं। वैष्णवत्व तो सहज ही है (पु.प्र.म./२०)'' यह लक्षण तो व्यभिचरित नहीं होता। शुद्धपुष्टि जीवों को भक्ति स्वयं ही प्राप्त हो जाती है, उसमें साधन की आवश्यकता नहीं होती। मिश्रपुष्टिजीवों को वह भक्ति साधन द्वारा प्राप्त होती है क्योंकि उस भक्ति में पहले प्रतिबंध आते है एवं तत्पश्चात् चूँकि वे प्रभु द्वारा अंगीकृत तो हैं ही अतः उन प्रतिबंधों की निवृत्ति भी हो जाती है। अतः (पु.प्र.म./२०) की यह पंक्ति उचित ही है, इसमें कोई अंतर नहीं आता। ऐसा होने पर जिनमें साधन द्वारा भक्ति की अभिव्यक्ति होती है. उनमें वह प्रकट न होकर भावरूप से मन में रहती है। इसके पश्चात्, पूजादि साधन के अनुष्ठान करने पर प्रेमादिरूप द्वारा क्रम से प्रकट होती है। भक्ति से जुड़े अभियुक्त तो भाव की सात अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। 'भाव', 'प्रेम', 'प्रणय' 'स्नेह', 'राग', 'अनुराग', 'व्यसन' इन सात अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। एवं यहाँ प्रथमतः बीज की अभिव्यक्ति का प्रकार कहने में ततः प्रेम इसमें 'प्रेम' शब्द से पूर्वावस्था प्रेम की पहली अवस्था निर्दिष्ट कर यहाँ उसे बताने में जो 'स्नेह' शब्द का प्रयोग हुआ इससे प्रेम, प्रणय, स्नेह नामवाली तीन अवस्थाएँ जब होती हैं तब भगवान के श्रवणादि के अतिरिक्त विषयों में रागविनाश होता है, यह सूचित किया गया। एवं इतर विषयों में रागविनाश, भक्ति की प्रचुरता बताने वाला लक्षण है।

रागानुरागात्मकावस्थाद्वयरूपासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापकं लक्षणत्रयमाहुः आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरित्यादि । रुचिराकांक्षा गृहारुचिर्गृहाकांक्षाऽभावः उपेक्ष्यत्वमिति यावत् । सा आसक्त्या स्यादिति । तदासक्तिप्राचुर्याभिज्ञापकं लक्षणम् । लक्षणान्तरमाहुः गृहस्थानामित्यादि । गृहस्थानां चेतनाचेतनानां भगवति समर्पणानन्तरं भगवदीयत्वानुसन्धानेपि तेष्वंशतः स्वीयत्वाभिमानस्यापि विद्यमानत्वात्तमादाय तेषां पूजाश्रवणादिसाधनबाधकत्वं स्वस्य भासते, सर्वेषां चित्रकर्मत्वात्स्वभावभेदेनान्यविनियोगसंभवात्तच्चिन्ताया अकरणेपि तेषु स्वाभिमानस्य सहसाऽनिवृत्तेरनायत्त्यापि तच्चिन्तादिसंभवेन 'गृहेष्वतिथिवत् वस' इति न्यायस्य तदानीमसंभवादपि तेषां श्रवणादिबाधकत्वं स्वस्य भासते । किञ्च, अन्यविनियोगादीनां स्थूललिङ्गशरीरधर्मत्वात्तेषां तत्प्राधान्ये जीवस्यानुस्मृतिः[1] सतीत्युक्तस्यात्मधर्मस्य गौणत्वान्मूर्खे पाषाणकल्पत्ववदनात्मत्वं च तेषु भासते । तथाचैतदुभयभानं गृहस्थितिं शिथिलीकुर्वदासक्तिदार्ढ्यं संपादयतीति पूर्वोक्तमुभयविधं भानमासक्तिप्राचुर्यलक्षणमित्यर्थः । अत्र लक्षणत्रयकथनेन त्रितयभवने आसक्तिपर्याप्तिर्बोध्या[2] ।

'राग', 'अनुरागात्मिका दो अवस्थारूपी आसक्ति की प्रचुरता को बताने वाले तीन लक्षण **आसक्त्यास्याद्गृहारुचि** इत्यादी वाक्यों से कह रहे हैं। 'रुचि' अर्थात् आकांक्षा; गृह में अरुचि अर्थात् गृह की आकांक्षा का अभाव अर्थात् उपेक्षत्व। वह उपेक्षा, आसक्ति से होती हैं। वह गृह में अरुचि आसक्ति की प्रचुरता को बतानेवाला लक्षण है। दूसरा लक्षण **गृहस्थानां** इन शब्दों से कह रहे हैं। चेतन या अचेतन गृहस्थों के भगवान में समर्पण के पश्चात् भगवदीयत्व का अनुसंधान होने पर भी उनमें अंशतः स्वीयत्व-अभिमान के भी विद्यमान होने से उस अभिमान को लेकर वे पूजाश्रवणादि साधनों में बाधकत्व ही स्वयं को भासित होते हैं। जीव के अविवेकी गृहस्थ यद्यपि भगवान को समर्पित हों भी अथवा जीव ने उनसे अहंताममता त्याग भी दी हो तथापि उसे उन गृहस्थों में आंशिकरूप से स्वीय का अभिमान रहता ही है एवं इसी कारण वे अविवेकी गृहस्थ स्वयं को पूजाश्रवणादि में बाधक भासित होते हैं। सभी विचित्र कर्मो के कारण स्वभाव भेद से (उनका) अन्य विनियोग संभव होने से उसकी चिंता न करने पर भी, उनमें स्वाभिमान की सहसा अनिवृत्ति से अनायास संभव होने से उसकी चिंता न करने पर भी, उनमें स्वाभिमान की सहसा अनिवृत्ति से अनायास ही वह चिंता आदि संभव होने से ''गृह में अतिथिवत् रहते हुए'' इस न्याय के उस समय असंभव होने से भी वे (गृहस्थ) स्वयं को श्रवणादि में बाधक भासित होते हैं। उन अविवेकी गृहस्थों का प्रभु के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर विनियोग होने से उसकी चिंता जीव न भी करे, किंतु उसे उनमें रहे स्वयं के अभिमान अर्थात् 'ये मेरे हैं' इसकी सहसा निवृत्ति नहीं होती एवं तब 'गृह में अतिथि की भाँति रहना चाहिए' उस न्याय से भी वह नहीं रह पाता अर्थात् वह उनकी ममता में आंशिकरूप से भी पड़ ही जाता है अतः वे भगवद्-भजन में बाधक सिद्ध हुए एवं जीव को बाधक भासित होते हैं। एवं अन्य विनियोगों के स्थूललिंग शरीर धर्म से उनके वह स्थूललिंगशरीर धर्म प्रधान होने पर जीव की अनुस्मृति (भूल जाने पर) होने पर कहे आत्मधर्म के गौणत्व से मूर्ख में पाषाण की कल्पनावत् उनमें भासित होता है। अविवेकी गृहस्थों के लिए स्थूललिंग शरीर के धर्म मुख्य हैं। आत्मा के अर्थात् भगवद्धर्म गौण हैं अतः स्वयं की अनुस्मृति हो जाती है। चूँकी अविवेकी गृहस्थों ने स्थूललिंगशरीर के धर्म मुख्य एवं भगवद्-धर्म गौण मान रखे हैं अतः टीकाकार उन मूर्खों की तुलना पत्थर से कर रहे हैं, यह अर्थ है। एवं

१ संचारिभावरूपेण वर्तमाना 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मन' इति सूत्रात् । 'मल्लानामशनि'रित्यत्र भक्तिसोक्तेः । २ निरोधस्कन्धे तथोक्तेः ।

इस प्रकार यह गृहस्थिति में बाधकत्व एवं अनात्मत्व दो भान, गृहस्थिति को शिथिल करते हुए आसक्तिदृढ़ता का संपादन करते हैं अतः पूर्व में कहे द्विप्रकारक भान आसक्ति-प्रचुरता के लक्षण हैं। यहाँ तीन लक्षण कहने से, तीनों होने पर पर्याप्त आसक्ति समझनी चाहिए। यहाँ द्विप्रकारक भान' कहने का अर्थ यह है कि यदि भक्त को अविवेकी गृहस्थों में 'बाधकत्व का भान' एवं 'अनात्मत्व का भान' हो तो इसे प्रचुर आसक्ति का लक्षण समझना चाहिए। इसके बाद 'तीन लक्षण' कहने का अर्थ है, 'राग' 'अनुराग' एवं 'व्यसन', यह अर्थ है।

प्राञ्चस्तु केचिदिमं भानं आसक्तिलक्षणत्वेनाहुः । अन्ये पुनर्व्यसनलक्षणत्वेन । अर्थं च स्वस्वरीत्या तं तमाहुः । मम तु भगवानेवं प्रेरितवानिति मयैवं व्याख्यातम् । गृहत्याग एवाचार्याणामाशयस्य स्फुटत्वादिति[1] ।

व्यसनस्य तदाहुः यदेत्यादि । यदि एवं प्रेमासक्तिप्रकर्षोत्तरं व्यसनं 'तद्विना स्थातुमशक्तिः' । सा भगवद्गुणलीलादिप्राधान्यं विहाय, कृष्णे स्यात्, कृष्णे इति तादर्थ्ये सप्तमी, भगवत्स्वरूपार्थं स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, कृतः अर्थः पुष्कलसाधनरूपो येन तादृशः स्यात्, तादृशत्वं विना साधनपौष्कल्यं नेति । 'एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धावात्मनिवेदिनाम् । मयि संजायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इत्यत्रेवात्रापि साधनपौष्कल्येर्थशब्दप्रयोगः । तथाच गुणलीलादिप्राधान्यं विहायैवं सर्वात्मभावपूर्वकक्षारूपं स्वरूपपरत्वं व्यसनोत्कर्षाभिज्ञापकं लक्षणमित्यर्थः । अयं च गुणलीलादिप्राधान्यत्यागो गुणोपसंहारे 'प्रदानवत्सूत्रे' प्रभुचरणैर्व्युत्पादितः 'प्रकृतेपि सर्वात्मभाव' इत्यादिना । तेनैवं दैन्य[2]पूर्वकशरण[3]भावनेन स्वरूपपर[4]त्वं व्यसनोत्कर्षलक्षणं पर्यवस्यति । एतावता दृढबीजस्वरूप[5]मुक्तम् ॥ ५ ॥

प्राचीन मत में, कोई इस भान को 'आसक्ति लक्षण' से कह रहे हैं। पुनः अन्य इसे 'व्यसनलक्षण' से कह रहे हैं। अर्थ भी अपनी[1] रीत से वे कह रहे हैं। मुझे तो भगवान ने ही प्रेरित किया अतः मैंने इस तरह व्याख्या की। श्रीमदाचार्यचरण का गृहत्याग-आशय ही स्फुट होने के कारण।

'यदा' इन शब्दों से व्यसन को कह रहे हैं। यदि इस प्रकार प्रेमासक्ति प्रकर्ष होने के पश्चात व्यसन अर्थात् 'उनके बिना रहना अशक्य हो' इस प्रकारक होता है। वह व्यसनदशा भगवान की गुणलीलादि की प्रधानता छोडकर कृष्ण में होती है, 'कृष्ण' में सप्तमी एकवचन है, भगवद स्वरूप के लिए होती है, तब ही जीव कृतार्थ होता है। 'कृतार्थ' शब्द दो पदों से बना है एक 'कृत' एवं दूसरा 'अर्थ'। कृत का अर्थ होता है 'कर लिया है' एवं अर्थ से तात्पर्य है, अनेक साधनरूप अर्थ', अब दोनों मिलाकर अर्थ बनता है, ''कर लिया है अनेक साधनरूप अर्थ जिसने'' वह 'कृतार्थ' है। यह समझना चाहिए। साधन पुष्कलता बिना तादृशत्व नहीं है। यहाँ टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि इस ग्रंथ में बताए साधन अर्थात् गृह में रहकर ही बीजभाव दृढ़ करना, त्याग करना, श्रवणकीर्तन करना, जैसे जो परिस्थिति हो वह करे तब ही उसमें तादृशत्व आयेगा, यह अर्थ है। साधनपुष्कलता का अर्थ होता है साधनों की बहुलता। ''उद्धवजी ! जो मनुष्य इन धर्मों का पालन करते हैं और मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं उनके हृदय में मेरी प्रेमभरी भक्ति का उदय होता है और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गई उसके लिए और किस दूसरी वस्तु का प्राप्त होना शेष रह जाता है (श्री.भा.११/१९/२४)'' इस श्लोक में भी साधन की पुष्कलता में 'अर्थ' शब्द का प्रयोग है। एवं गुणलीलादि की प्रधानता छोड़कर सर्वात्मभाव का पूर्वकक्षारूप स्वरूपपरता के उत्कर्ष व्यसन को बतानेवाला लक्षण है, यह अर्थ है। स्वरूपपरता का अर्थ होता है प्रभु के स्वरूप में आसक्त रहना एवं यह प्रभु में सर्वात्मभाव होने के पहले का लक्षण है। एवं इस गुणलीलादि की प्रधानता का त्याग गुणोपसंहार में प्रदानवत्सूत्र में ''प्रकृतेपि सर्वात्मभाव'' उस श्लोक से प्रभुचरण ने व्युत्पादित किया है। इससे, इस प्रकार, दीनतापूर्वक शरणभावना से स्वरूपपरत्व, व्यसन के उत्कर्ष दशा के लक्षण में पर्यवसित होता है। यहाँ तक दृढ़बीजस्वरूप कहा है।।५॥

एवं बीजभावे दृढे सति भक्तिवृद्धिः स्वत एवाग्रे भविष्यतीति न मन्तव्यम्, किन्तु गृहं त्यक्तव्यमेवेत्याहुः तादृशस्यापीत्यादि ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

तादृशस्य सर्वं विहाय स्वरूपपरस्यापि सततं निरन्तरं गृहस्थानं विनाशकं तादृशस्वरूपपरतानाशकम् । एकादशस्कन्धे भगवता 'बाध्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयत' इत्यादिभिर्भक्तिमाहात्म्यमुक्त्वा, अग्रे 'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरतआत्मवान् । क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः' 'न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत' इति द्वाभ्यां स्त्र्यादिसङ्गपरित्यागपूर्वकं निरूपद्रवे विविक्तस्थाने स्थित्वा स्वचिन्तनस्य कथनात् स्त्र्यादिसङ्गस्य क्लेशबन्धहेतुत्वकथनाच्च । तस्माच्चिरन्तरं गृहस्थितिस्त्याज्यैव । किन्तु मध्ये मध्ये गृहान्निर्गत्य, यत्र भगवत्सान्निध्यं, तत्र

---

१ द्वितीयदलानुभवस्य मुख्यत्वादित्यर्थः । २ आर्तिविशेषो दैन्यम् । ३ 'मुमुक्षुर्वै शरणममुव्रजे'दिति गोपालतापिनीये माहात्म्यं शरणत्वम् । ४ सोहमित्यैक्यपरत्वं संचारिभावरूपम् । उभयं भक्तिकारणं बीजभावे निरूपितम् । ५ भक्तिरसस्यालम्बनोद्दीपनानुभावसंचारिभावरूपम् ।

गत्वा, भगवद्दर्शनसेवादिविधानेन गृहस्थितिं शिथिलीकुर्यादित्यर्थः । एतेन बीजदार्ढ्यनिर्वाह्यप्रकार उक्तः ।

''इस प्रकार बीजभाव दृढ़ होने पर भक्तिवृद्धि स्वतः ही आगे हो जायेगी, ऐसा नहीं मानना चाहिए अपितु गृहत्याग करना ही चाहिए'' इसे **तादृशस्यापि** इत्यादि वाक्यों से कह रहे हैं।

तादृशी को अर्थात् स्वरूपपर को भी सभी कुछ छोडकर सतत अर्थात् निरंतर गृहस्थान विनाशक है अर्थात् ऐसी स्वरूपपरता का नाशक है। एकादश स्कंध में भगवान ने ''मेरे जितेन्द्रिय भक्त को विषय अपनी ओर खींचते हैं तथापि प्रायः प्रगल्भ भक्ति से वे विषयों से पराजित नहीं होते (श्री.भा.११/१४/१८)'' इत्यादि श्लोकों से भक्तिमाहात्म्य कहकर आगे ''संयमी पुरूष स्त्रियों एवं उनके प्रेमियों का संग दूर से ही छोड़कर, पवित्र एकांत स्थल में बैठकर बड़ी सावधानी से मेरा चिंतन करे। स्त्रियों के संग से और स्त्रीसंगियों के संग से पुरूष को जैसा क्लेश एवं बंधन होता है वैसा किसी अन्य के संग से नहीं होता (श्री.भा. ११/१४/२९,३०)'' इन दो श्लोकों के द्वारा स्त्री आदि के संग के परित्यागपूर्वक निरूपद्रव अर्थात् विविक्त एकांत स्थान में रहकर 'स्वचिंतन के कथन से' एवं 'स्त्री-आदि का संग क्लेशबंधन का हेतु है' इस कथन से भी कहा है। अतः गृहास्थिति निरंतर त्याज्य ही है। किंतु बीच[1] में गृह से निकल कर जहाँ भगवद्-सानिध्य है वहाँ जाकर भगवद्-दर्शन, सेवादि के विधान द्वारा गृहस्थिति शिथिल करनी चाहिए, यह अर्थ है। इससे, बीजदृढ़ता के निर्वाह का प्रकार कहा है।

अतः परं यत्पूर्वं 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादि' त्यनेन भक्तिवृद्धिप्रकार उक्त'स्तं व्युत्पादयन्ति त्यागं कृत्वेत्यादि ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥६॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इत्यादिना आरंभदशाया यत्प्रकारकस्त्याग उक्तस्तं कृत्वा, यथाधिकारं श्रवणकीर्तनाभ्यां यतेत्, भक्तिप्रवृद्ध्यर्थं यत्नं कुर्यात् । तत्रापि न भक्तिवृद्धावेव पर्यवसन्नः, किन्तु तदर्थार्थैकमानसः । पूर्वं कृष्णशब्दस्योक्तत्वादत्र तच्छब्देन स एव परामृश्यते, अर्थश्च प्रयोजनम् स अर्थो यस्याः सा तदर्था, स्वरुपमात्रफला गुणातीतभक्तिरिति यावत् । तस्या य अर्थो भगवान्, तस्मिन्नेकं केवलं मानसं यस्य सः तथा । तथा च तादृशीं भक्तिं यो भगवत्साधकत्वेन न करोति, किन्तु स्वरूपदिदृक्षयैव करोति, सं तथेत्यर्थः । तस्य सिद्धिमाहुः लभत इत्यादि । सः सुदृढां इतराप्रतिबध्यां सर्वाभ्योपि भक्तिभ्योधिकां निरोधलक्षणग्रन्थ उत्कृष्टत्वेन सूचितां परामूर्जितां भगवत्साधिकां भक्तिं लभते । तथाच दिदृक्षातिरिक्तयावदपेक्षारहितस्य परमभक्तिप्राप्तिर्भवति । तेनेदमेव भक्तिप्रवृद्धेः स्वरूपामित्यर्थः ॥ ६ १/२ ॥

इसके पश्चात् जो पूर्व में ''**त्यागात्श्रवणकीर्तनात्** इन शब्दों द्वारा जो भक्तिवृद्धि का प्रकार कहा है उसे **त्यागं कृत्वा** इन शब्दों से व्युत्पादित करते हैं ।

संन्यासनिर्णय में ''विरहानुभव के लिए परित्याग प्रशस्त है'' इन श्लोकों से आरंभदशा में जिस प्रकार का त्याग कहा, वैसा करके यथाधिकार श्रवणकीर्तन द्वारा भक्ति की प्रकर्षवृद्धि के लिए यत्न करना चाहिए। वहाँ भी, भक्तिवृद्धि में ही पर्यवसित संपूर्ण होकर नहीं किंतु भगवान के लिए एकमनस होना चाहिए। पूर्व में 'कृष्ण' शब्द के कह देने से यहाँ 'तत्' शब्द से वे (कृष्ण) हो परामर्शित किए जा रहे हैं। 'तत्' शब्द 'तदर्थार्थैकमानस' (तत्+अर्थ+अर्थ+एक+मानस) शब्द में आया है, टीकाकार कह रहे हैं कि पूर्व में अर्थात् पाँचवीं कारिका ''यदा स्यात् व्यसनं कृष्णे'' में 'कृष्ण' शब्द आया है अतः तदनुसार यहाँ 'तत्' शब्द से 'कृष्ण' अर्थ ही लेना चाहिए। एवं 'अर्थ' अर्थात् प्रयोजन भी भगवान ही हैं वह भगवान ही है अर्थ जिसका, वह भक्ति उनके भगवान के लिए है वह तदर्था, स्वरूपमात्रफल गुणातीतभक्ति है। भक्ति के जो अर्थ भगवान हैं, उनमें केवल एकमन जिसका है वह तदर्थार्थैकमानस है। एवं वैसी भक्ति जो भगवान को साधने के द्वारा नहीं करता किंतु स्वरूपदिदृक्षा द्वारा ही करता है वह तदर्थार्थैकमानस है, यह अर्थ है। यहाँ टीकाकार निष्काम-भक्ति की बात कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जो भक्ति न भगवान को साधने के लिए की जाती हो एवं न स्वरूपदिदृक्षा के लिए की जाती हो अपितु केवल स्वकर्तव्य समझ कर की जाती हो, वही निष्कामभक्ति है एवं ऐसा भक्त ही 'तदर्थार्थैकमानस' कहलाता है, यह अर्थ है। उसकी सिद्धि **लभत** इत्यादि शब्दों से कह रहे है। वह सुदृढ़, अन्य से अप्रतिबंधित सभी भक्ति से श्रेष्ठ, निरोधलक्षण ग्रंथ में उत्कृष्टता से सूचित परां अर्थात् उर्जित, भगवत्साधिका भक्ति प्राप्त करता है। एवं भगवान की दिदृक्षा से अतिरिक्त किसी भी अपेक्षा से रहित परमभक्ति की प्राप्ति होती है। इससे, यही भक्तिप्रवृद्धि का स्वरूप है, यह अर्थ है ॥ ६ १/२ ॥

---

१ गृहे स्थित्वा स्वधर्मतो गृहस्थाश्रमे भजनं संयोगरूपं, विप्रयोगरूपं त्याग इति द्विदलात्मकभक्तेर्द्वितीयदलप्रकारम् । २ रसात्मत्तापर्यन्तम् ।

एवं भक्तिप्रवृद्धिस्वरूपपर्यन्तं तद्वृद्ध्युपायमुक्त्वा, तत्र प्रतिबन्धेऽनधिकारे च तदनुकल्परूपमुपायान्तरमाहुः त्यागेत्यादि ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥७॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चितं न दुष्यति ॥८॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥९॥
बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥१०॥

त्यागे करिष्यमाणे कालादृष्टादिकृतदुःसंसर्गात्, तथाऽन्नतः प्राणपोषकादन्नायतो बाधकभूयस्त्वं भक्तिवृद्धिबाधकबाहुल्यम्, अतस्तद्बाहुल्याद्धेतोः हरिस्थाने स्थेयम्, 'मन्निकेतं तु निर्गुण'मिति भगवद्वाक्येन तत्र देशदोषाभावात् । अत्र कथं स्थेयमित्याकांक्षायां प्रकारमाहुः तदीयैरित्यादि । तत्रापि तत्परैस्तदीयैः सहेति कथनेनानन्यतया सेवाकृतिः स्वस्यापि सूचिता । तेन 'सावधानैः परस्परं सस्नेहैरबहिर्दृष्टिभिर्भगवत्सेवैकपरैः स्थेयम् ।' तथा च तादृशस्थित्यां दुःसंसर्गस्याभावात्प्रसादादिना वा अंघ्रिपतुल्यवैष्णवादिभ्यो भिक्षया वा देहनिर्वाहेऽन्नदोषस्याप्यभावाद्भक्तिवृद्धिरित्यर्थः । एतेन नलकूबरप्रसंगे वैराग्याद् यस्त्यागो निर्णीतस्तस्यायं प्रकार इत्यपि बोधितम् ।

इस प्रकार भक्तिप्रवृद्धिस्वरूप पर्यंत उसकी वृद्धि के उपाय कहकर, वहाँ प्रतिबंध होने एवं अनधिकार होने पर उसके अनुकल्परूप दूसरे उपाय **त्यागं** इन वाक्यों से कह रहे हैं।

त्याग करने पर, काल एवं भाग्य द्वारा किए गये दुःसंसर्ग से तथा अन्न से, प्राणपोषक अन्न से, भक्तिवृद्धि में बाधकों की बहुलता होती है अतः उन बाधकों की बहुलता के हेतु से'' मेरा निकेतन भवन तो निर्गुण है (श्री. भा. ११/२५/२५)

इन भगवद्-वाक्यों के द्वारा, वहाँ देशदोष का अभाव होने से हरिस्थान में रहना चाहिए। यहाँ कैसे रहना चाहिए? यह आकांक्षा होने पर **तदीयैः** इन वाक्यों से प्रकार कहते हैं। ''वहाँ भी तत्पर अर्थात् तदीय के संग'' इस कथन के द्वारा स्वयं को भी अनन्यतया सेवाकृति सूचित की गई है। अतः सावधानी से, परस्पर सस्नेह, भगवान से बहिर्दृष्टि न रखते हुए भगवान के सेवापरायणों के साथ रहना चाहिए। एवं वैसी स्थिती में दुःसंसर्ग के अभाव से प्रसादादि से अथवा वृक्षसमान वैष्णवों से अथवा भिक्षा से देहनिर्वाह में, अन्नदोष के भी अभाव से, भक्तिवृद्धि होती है, यह अर्थ है। यहाँ तादृशी वैष्णवों को टीकाकार ने वृक्ष के समान कहा है। सामान्यतया यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वृक्ष स्वयं तो धूप-वर्षा आदि झेलते हैं परंतु अन्य को छाया प्रदान करते हैं। वृक्ष पर जब फल लद जाते हैं तो वह झुक जाता है। तादृशी भी भगवद्ज्ञान प्राप्त होने के बाद झुक जाते हैं अर्थात् उनमें दीनता आ जाती है। कदाचित् इसी कारण तादृशी वैष्णवों को टीकाकार ने वृक्ष की उपमा दी हो सकती है। इससे नलकूबर प्रसंग में वैराग्य से जो त्याग निर्णीत है उसका यह प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। नलकूबर प्रसंग में वैराग्य एवं त्याग को विशेष जानने के लिए श्री.भा. दशम स्कंध के दसवें अध्याय में देखें।

तस्याप्यसंभवे तदनुकल्पान्तरमाहुः, तत्र स्थितौ वा प्रकारमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । भगवन्मन्दिराद् भगवदीयेभ्यश्चादूरे, दूरे वा । यादृशया सेवया स्वस्य सेवाभिमानो न भवति, भगवदीयेषु च निकर्षबुद्धिविरूद्धबुद्धिदोषदृष्टिक्षोभादिभिर्यथा चित्तं न दुष्यति, तथा स्थेयमित्यर्थः । यदि च कालादृष्टादिदोषेण तादृशां सङ्गो न भवति, तदा तत्र स्थितौ प्रकारान्तरं तदनुकल्प वा आहुः सेवायामित्यादि । तादृशभगवदीयसङ्गाभावेपि यद्यदूरायां विप्रकृष्टायां वा सेवायां आसक्तिर्दृढा भवेत् । अन्यकृतोपहासन्यक्कारादिभिरनपनोद्या भवेत् । एवं कथायां श्रूयमाणायां कीर्त्यमानायां वा तस्यामासक्तिर्दृढा भवेत्, सापि यावज्जीवम्, यावत्सामर्थ्यम् जीवपदेन सामर्थ्यादिकमप्यर्था-दाक्षिप्यते । अतस्तावत्पर्यन्तम्, न तु किञ्चित्कालम् । क्रियाविशेषणमेतत् । तस्य यावज्जीवं तत्कर्तुः पुंसः कापि नाशो न । इह लोके यथाधिकारं स्वरूपपरतायाः साधनपरतायाश्च नाशो न । परलोके च यथाधिकारं फलप्रतिबन्धश्च नेत्यर्थः । दृढकथासक्तिप्रकारश्च प्रक्षिप्ताध्यायेषु तृतीये 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्येति' श्लोके आचार्यैर्विवृतः । 'अयमेको मार्गः सर्वेषां पुरूषार्थसिद्धयर्थं प्रसिद्धः सुगमः । आदौ स्थानस्थितानां जीविकोपद्रवाभावादिः स्वतःसिद्धः । सन्तश्च सर्वत्र भगवदाज्ञया परिभ्रमन्ति, तेषां चैतदेव कृत्यम् . भगवद्गुणगाने ते मुखरा एव भवन्ति । तत्रापि कथायां ज्ञात्वा वक्तव्यमिति न नियमः । केवलं भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनी वार्ता भवतु, न तूपपन्नाऽनुपपन्ना वेति । तत्राप्यनायासेन स्वकर्णे समागता भवति । परं कायवाङ्मनोभिर्नमस्या सा, तदनुगुणतया कायवाङ्मनांसि

स्थापनीयानि, न तु तत्र विरोध आचरणीयः । एतावदेव कृत्यम् । अत्र साधनं जीवनमेव, न तु कर्मकरणादिकमपि । प्रायश इति ते चेद्भावान्तरं न कुर्युः । कालादयश्च प्रतिबन्धकत्वाद्वा । अतोनेनैव प्रकारेणग्रेतनानां निस्तारः ।

वह भी असंभव होने पर उसका अनुकल्प अथवा वहाँ रहने का प्रकार **अदूरे विप्रकर्षे वा** इन शब्दों से कह रहे हैं। भगवान के मंदिर से एवं भगवदीयों से निकट या दूर। जैसी सेवा से स्वयं को अभिमान नहीं होता एवं भगवदीयों में निकर्ष बुद्धि, विरुद्ध बुद्धि, दोषदृष्टि, क्षोभादि से जिस प्रकार चित्त दूषित नहीं होता वैसे रहना चाहिए, यह अर्थ है। एवं यदि काल एवं भाग्यदोष से वैसे तादृशी का संग नहीं होता तब वहाँ रह कर अन्यप्रकार से अथवा उसके अनुकल्प को सेवायां इन शब्दों से कह रहे हैं। यदि वैसे भगवदीयों के संग का अभाव होने पर भी अदूर अथवा थोड़ी दूर रहकर सेवा में आसक्ति दृढ़ होती है तो अन्य के द्वारा किए गये उपहास, धिक्कार आदि के द्वारा वह आसक्ति दूर नहीं होती। इस प्रकार सुनी गई कथा में अथवा कीर्तन में उसकी आसक्ति दृढ़ होती है, वह भी जीवनपर्यंत, जब तक सामर्थ्य हो। 'जीव' पद से सामर्थ्यादि अर्थ भी बताए जा रहे हैं। अर्थात् जीव सामर्थ्यानुसार जब तक श्रवणकीर्तन करता है तब तक उसका नाश नहीं होता। अतः तब तक न कि कुछ समय पर्यंत। यह क्रिया विशेषण है। वैसा करने वाले पुरूष का जीवनपर्यंत नाश नहीं होता है। इस लोक में यथाधिकार स्वरूपपरता एवं साधनपरता का जीवनपर्यंत नाश नहीं होता है। एवं परलोक में भी यथाधिकार फलप्रतिबंध नहीं होता, यह अर्थ है। एवं दृढ़कथासक्ति प्रकार प्रक्षिप्त अध्याय में, तीसरे अध्याय में ''जो ज्ञान के लिए प्रयत्न न करके (श्री.भा. १०/१४/३)'' इस श्लोक में आचार्यचरण ने विवृत किया है। यह एक मार्ग सभी पुरूषार्थो की सिद्धि के लिए प्रसिद्ध सुगम है। प्रथमतः हरिस्थान में स्थित जीवों की जीविका एवं उपद्रव का अभाव स्वतः सिद्ध है। एवं संत, भगवद-आज्ञा से सर्वत्र परिभ्रमण करते हैं, उनका यही कार्य है। भगवद्-गुणगान में वे विशेष बोलने वाले होते हैं। वहाँ भी कथा में ज्ञानपूर्वक कहना, यह नियम नहीं है। केवल भगवदीयों की, भगवत्-संबंधियों की वार्ता होती हो, प्रासंगिक अथवा अप्रासंगिक नहीं। वहाँ हरिस्थान में भी अनायास ही कर्ण में आ जाती हैं परंतु वह काया-वाणी-मन से नमस्कृत है एवं उसके अनुगुण काया-वाणी-मन में स्थापित करने चाहिए, उसका विरोधी आचरण नहीं करना चाहिए। इतना ही करना चाहिए। यहाँ साधन अर्थात् कथा-श्रवण जीवनपर्यंत है, कर्मकांड आदि नहीं। प्रायः वे भगवदीय भावान्तर नहीं करते हैं। एवं/अथवा यदि करें तो कालादि के प्रतिबंध से करते हैं। संत अथवा भगवदीय प्रायः भगवद्-वार्ता में विषयांतर अर्थात् लौकिक चर्चा नहीं करते एवं यदि अपवाद के तौर पर करें भी तो अमुक विपरीत परिस्थिति या काल के प्रतिबंध से करते हैं। जीव को तब, उस विषयान्तर या लौकिक चर्चा को गौण कर देना चाहिए, टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं। अतः इसी प्रकार से आगे बढ़नेवाले (जीव) का कल्याण है।

किञ्च, सेवादृढासक्तिप्रकारोपि तत्रैव 'पुरेह भूम'न्निति श्लोके विवृतः । 'हे भूमन् व्यापक पूर्वमपि विद्यमान इहास्मिन्मार्गे बहवोपि सदृशो योगिनो योगेनावधृतभक्तिसामर्थ्याः, अत एव त्वय्यर्पिता, ईहा चेष्टा यैः । तेनैव समर्पणलक्षणेन कर्मणा त्वत्सेवालक्षणकर्मणा वा लब्धया प्राप्तया भक्त्यैव विबुध्य स्वरूपं ज्ञात्वा, हे अच्युत केनापि प्रकारेण च्युतिरहित, ते गतिं मार्गं, येन प्रकारेण त्वं गच्छसि, तां प्रपेदिरे । पश्चात्वदनुगानां न कापि चिन्ता अञ्ज अनायासेनैव परांलोकातीतां प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः । अत आत्मज्ञानापेक्षायामप्ययमेव मार्ग उचितः ।' अत्र नान्येषां सम्मतिः, किन्त्वहमेव वदामीत्याहुः मतिर्ममेति । 'श्रद्धा'मुपक्रम्य 'मत्सेवायां तु निर्गुणे'ति । संवादसमाप्तौ च 'नह्यङ्गोपक्रमे ध्वंस' इति 'यो यो मयि परे धर्म' इति च भगवद्वाक्यात् सदादृतभक्तिप्रश्ने, तामुपक्रम्य 'मत्कथाश्रवणे श्रद्धा' 'श्रद्धामृतकथायां म' इति च भगवद्वाक्यात् मम बुद्धिस्तादृशस्य नाशाभावं भासयति, तेन तथेत्यर्थः ।

एवं सेवा, दृढ़ासक्ति का प्रकार भी वहीं ''पुरेह भूमन्'' इस (श्री.भा.१०/१४/५) श्लोक में विवृत/निरूपित है। ''हे भूमन (अर्थात्) व्यापक, पूर्व में भी विद्यमान इस मार्ग में, बहुत से एकत्रिक योगी; योग के द्वारा धारण की है भक्तिसामर्थ्य जिन्होने ऐसे योगी, तुम्हें अर्पित की है चेष्टा जिन्होनें अतः उसी समर्पणरूप कर्म अथवा तुम्हारी सेवालक्षणरूपी कर्म से प्राप्त भक्ति से, आपके स्वरूप को जानकर हे अच्युत ! अर्थात् किसी भी प्रकार से च्युतरहित तेरे मार्ग को जिस प्रकार से तुम गमन करते हो उसे प्राप्त कर लेते हैं। तेरे अनुगामी को फिर कोई चिंता नहीं रह जाती है। अञ्ज अर्थात् अनायास ही 'परा' अर्थात् लोकातीत भक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।'' अतः आत्मज्ञान की अपेक्षा भी यही मार्ग उचित है।'' यहाँ किसी अन्य की सम्मति नही है किंतु मैं ही कह रहा हूँ'' यह **मतिर्मम** इन वाक्यों से कहा। श्रद्धा से उपक्रमित कर ''मेरी सेवा में निर्गुणा है (श्री.भा. ११/२६/२७)'' एवं संवाद समाप्ति में ''निश्चय ही उपक्रम होने पर ध्वंस नहीं होता (श्री.भा.११/२९/२०) एवं ''मुझे समर्पित करने से धर्म (श्री.भा. ११/२९/२१)'' इन भगवद्-वाक्यों द्वारा सदादरणीय भक्ति प्रश्न में उसे उपक्रमित कर ''मेरी कथाश्रवण में श्रद्धा (श्री.भा.११/११/३५) एवं ''मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा (श्री.भा. ११/१९/२०) इन भगवद्-वाक्यों द्वारा मेरी बुद्धि तादृश के नाश का अभाव भासित करा रही है, इससे वैसा यावज्जीवन उसका नाश नहीं होता, यह अर्थ है। टीकाकार मूलपंक्ति में आए **मतिर्मम** पद की व्याख्या कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि श्रीमहाप्रभु कह रहे हैं, कि उपर्युक्त श्रीमद्-भागवत के श्लोकों के अनुसार उनकी बुद्धि उन्हें बता रही है कि वैसे तादृशी का जीवनपर्यंत नाश नहीं होता।

यदि च जाते बीजभावदार्ढ्ये अजाते वा पूर्वोक्तानां तदर्थानां साधनानां कालादृष्टादिना प्रतिबन्धात्करणाशक्तिः, तदोपायन्तरमाहुः बाधेत्यादि । मुख्यः कल्पस्तु भगवत्कृपयैव सिध्यतीति न तत्र बाधसम्भावना । 'तदा भवेद्दयालुत्व'मिति निरोधलक्षणे निष्कर्षात् । दयायां च सत्यां प्रतिबन्धासम्भवात् । यत्र पुनस्त्यागे बाधकभूयस्त्वमित्यादिनोक्तेनुकल्पे करिष्यमाणे क्रियमाणे वा बाधस्य विघटनस्य सम्भावना उत्कटकोटिकः संशयः, तदा तु एकान्ते भगवत्स्थानादौ वासो नेष्यते । तदा गृहे वा अन्यत्र वा यत्र क्वचित्स्थित्वा हरिरेव शरणं भावनीयः । 'हराम्यघं यत्समर्तृणामिति' भारते भगवद्वाक्यात् । 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'ति गीतायां भगवद्वाक्याच्च । हरिरेव सर्वतो रक्षां करिष्यति । तुः संशयाविश्वासादिनिरासे । न संशयः, रक्षाकरणे संशयो नास्ति । तथा च पूर्वोक्तरीत्या भक्तिमार्गे प्रवृत्तिः संपाद्या । तत्र बाधे सत्यनुकल्पः करणीयः । तत्रापि बाधे तदनुकल्पः । तत्रापि बाधे शरणगमनं सर्वानुकल्परूपं करणीयम्, न तु पूर्वमेव सेवादिकं त्यक्त्वानुकल्पे प्रवर्तनीयम्, भगवदिच्छाया ज्ञातुमशक्यत्वादिति ॥७-१०॥

एवं यदि बीजभावदृढ़ता होने या न होने पर पूर्व में कहे तदर्थों के साधनों को काल एवं भाग्य के प्रतिबंध से करना अशक्य हो तब दूसरे उपाय को **बाध** इत्यादि वाक्यों से कह रहे हैं। मुख्य कल्प अर्थात् सेवा तो "तब दयालुता होती है (नि.ल./१४)" यह नि.ल. में निष्कर्ष होने से एवं प्रभु की दया होने पर प्रतिबंध असंभव होने पर भगवद्-कृपा से ही सिद्ध होती है, वहाँ बाध-संभावना नहीं है। जहाँ पुनः "त्याग में बाधकों की बहुलता है" इत्यादि में कहे अनुकल्प करने पर या कर रहे होने पर बाधा-विघटन की उत्कटकोटिक संभावना का संशय हो; तब तो एकांत-भगवत्स्थानादि में वास इष्ट नहीं है। तब "स्मरण करने वाले के पापों को मैं हरता हूँ (महाभारत) एवं "सभी धर्मों का त्याग कर" (भ.गी. ८/६६) इन भगवद्-वाक्यों द्वारा गृह में या अन्यत्र जहाँ-कहीं रहकर हरि की ही शरणभावना करनी चाहिए। हरि ही चहुँ ओर से रक्षा करेंगे। 'तु' शब्द संशय, अविश्वासादि के निराकरण के लिए है। **न संशयः** अर्थात् रक्षा करने में संशय नहीं है। एवं, इस प्रकार पूर्व में कही रीति-अनुसार भक्तिमार्ग में प्रवृत्ति संपादित करनी चाहिए। वहाँ भी बाधा होने पर उसका अनुकल्प करना चाहिए। यहाँ 'अनुकल्प' शब्द का अर्थ समझना चाहिए। ग्रंथ की पहली एवं दूसरी कारिका में गृह में रह कर बीजदृढ़ता के लिए प्रयत्न करने की बात कही है। अतः यहाँ कह रहे हैं कि यदि वहाँ बाधा हो अर्थात् गृह में रहने पर बाधा हो तो उसका अनुकल्प यह है कि गृहत्याग करके श्रवणकीर्तन में प्रवृत्त होना चाहिए न कि सीधे-सीधे एकांतवास करने लग जाना चाहिए, यह अर्थ है। अतः आगे की पंक्तियों में कह रहे हैं कि यदि श्रवणकीर्तन में भी बाधा आए तब तो भगवान की शरणभावना ही करनी चाहिए। भगवदिच्छा जाननी अशक्य होने से, वहाँ भी बाधा होने पर सभी की अनुकल्परूपी शरणागति करनी चाहिए न कि पहले ही सेवादि त्याग कर अनुकल्प में प्रवृत्त होना चाहिए।। ७-१०॥

एवं सर्वं भक्तिवृद्ध्युपायं निरूप्य तदुपसंहरन्त एतद्विचारफलमाहुः इतीत्यादि ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं मया गुप्तं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इतिः समाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं गीतायामेकादशस्कन्धेऽन्यत्र च भगवदुपदिष्टं शास्त्रं मया गुप्तं निरूपितं प्रकटीकृतम् । यः सदा एतद्गुप्तं शास्त्रं समधीयीत सम्यक्प्रकारेण चिन्तयेत्, इक् स्मरणे, इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः । तस्यैतद्विचारयितुरपि र'तिः प्रेमात्मिका दृढा स्यात् । तथा च तया दृढ्या संसारागविनाशे जाते क्रमादन्यदपि भगवान् सम्पादयिष्यपि । 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंस' इति भगवद्वाक्यात् । तथा चात इदमभीक्ष्णं विचारणीयमित्यर्थः ।

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जप्रसादतः ।
परप्रेरणयाभातं व्यवृणोत्पुरूषोतमः ॥१॥
इति श्रीवल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीपीताम्बरात्मजपुरूषोत्तमविरचिता
भक्तिवर्धिनीविवृतिः सम्पूर्णा ॥

इस प्रकार भक्तिवृद्धि के सभी उपाय निरूपित कर उपसंहार करते हुए उसका विचारफल **इति** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इति अर्थात् समाप्ति। इस प्रकार पूर्व में कहे प्रकार द्वारा गीता में, एकादश स्कंध एवं अन्यत्र भगवद्-शास्त्रों में भगवान द्वारा उपदिष्ट गुप्त शास्त्र मैनें निरूपित अर्थात् प्रकटित किया है। जो इस गुप्त शास्त्र का सदा भली-भाँति चिंतन करता है; "इक स्मरण में, 'इङ्' एवं 'इक्' प्रत्यय उपसर्ग होने से दुष्ट नहीं होते हैं। यहाँ टीकाकार मूलपंक्ति में आए 'समधीयीत' पद की व्याख्या कर रहे हैं।

---

१ श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यतीति त्रिके आध्यात्मिकत्वोपादानं भक्तिदुर्लभत्वाय । 'कश्चिदेव हि भक्तो ही'ति वाक्यात् ।

'समधीयीत' पद में 'इक्' उपसर्ग लगा हुआ है जिसका उपयोग स्मरण के अर्थ में किया जाता है। संस्कृतव्याकरण में शब्द चार प्रकार के होते हैं 'नाम', 'आख्यात', 'उपसर्ग' एवं 'निपात'। उपसर्ग किसी भी शब्द में जुड़कर उसके अर्थ को बदल देता है परंतु स्वयं उपसर्ग का अर्थ कभी नहीं बदलता। उदा. के तौर पर जैसे 'निर्जल' अर्थात् जल से रहित। इसमें 'निः' उपसर्ग लगा है यही उपसर्ग 'जन' शब्द में जोड़ दिया जाये तो 'निर्जन' शब्द बन जायेगा अर्थात् जन से रहित। दोनों ही शब्दों में उपसर्ग मे वही रहा, वह व्यभिचारी अर्थात् बदला नहीं। इसी प्रकार समधीयीत में लगा 'इक' उपसर्ग भी 'स्मरण' वाले अर्थ से व्यभिचारी नहीं हो रहा है अर्थात् बदल नहीं रहा है अर्थात् इस भक्तिवर्द्धिनी ग्रंथ का स्मरण करने वाले की भी रति दृढ़ होगी, यह अर्थ है। इसका विचार करने वाले की भी रति, प्रेमात्मिका दृढ़ होती है। एवं रतिदृढ़ता द्वारा संसारराग विनाश होने पर क्रम से अन्य भी प्रेमासक्तिव्यसन भगवान संपादन करेंगे। ''निश्चय ही उपक्रम होने पर ध्वंस नहीं है (श्री.भा. ११/२९/२०) इन भगवद्-वाक्यों द्वारा। अतः यह निरंतर विचारणीय है, यह अर्थ है।

इसप्रकार श्रीवल्लभाचार्यचरणकमल प्रसाद से,
परप्रेरणा के आभास से 'पुरूषोत्तम' ने विवरण किया॥१॥

यह श्रीवल्लभाचार्यचरणों में एकनिष्ठ, श्रीपीताम्बरात्मज पुरूषोत्तमविरचित भक्तिवर्द्धिनीविवृत्ति संपूर्ण हुई ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभकृतटीकासमेता ।

शश्वत्प्रियासितापाङ्गध्यानावस्थितचेतसा ।
प्राप्ततन्निजरुपाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१॥

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरुप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥१॥

भक्तिवर्धिन्याम् । यथेति । यथा येन प्रकारेण । भक्तिः शास्त्रीया । प्रवृद्धा माननससेवारुपा सती फलोन्मुख्या भवेत्तथोपायस्तत्प्रकारभूत उपायस्तनुवित्तजसेवया बीजभावदार्ढ्यसम्पादनरुपस्त्यागेन श्रवणकीर्तनरुपश्च निरुप्यत इत्यर्थः । तस्य साधनासाध्यत्वसिद्धान्तादुपायपदम् । अत्र बीजं रत्यास्य आद्यः कोमलो भावः भगवानेव शरणमित्याकारकः । येन भगवद्धर्मेषु रुचिर्भवति । भक्तिर्द्रुमः । फलं स्वाधिकारानुसारेणालौकिकसामर्थ्याद्यन्यतरप्राप्त्या भगवद्भजनम् । स उपायो द्विविध इत्याहुः बीजेति । बीजरुपे रत्यास्ये भावे तनुवित्तजसेवया दृढे नाशसंभावनारहिते जाते तस्य भक्तिद्रुमस्य प्रवृद्धिः । फलोन्मुखत्वं स्यादित्यर्थः । अतस्तद्दार्ढ्यं सम्पादनीयमित्येक उपायः । द्वितीयनिर्धारमाहुः त्यागादिति । त्यागाद्धेतोः सिद्धाच्छक्तितात्पर्यरुपाच्छ्रवणसहितकीर्तनादित्यर्थः । हरिस्थानवासे तदीयैः सह स्थितौ शक्तितात्पर्यनिर्धारो भवतीति भावः । द्वितीयपक्षेपिदार्ढ्यमपेक्षितमेवेति तुशब्दः । परन्त्वाद्यपक्षे गृहस्थित्या भावनाशशङ्कया तनुवित्तजसेवया तदार्ढ्यं सम्पादनीयं भवति । द्वितीयपक्षे तु तदभावात्स्वत एव दार्ढ्यं सिध्यतीति विभेदः ॥१॥

निरंतर प्रिया के कृष्णकटाक्ष के ध्यान में अवस्थित चित्त द्वारा
उस रुप को प्राप्त करने वाले गोविंद को नमस्कार / नमन ॥१॥

'भक्तिवर्धिनी' में यथा इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । यथा अर्थात् जिस प्रकारसे शास्त्रीय-भक्ति मानसीसेवारुपी प्रवृद्ध होती हुई फलोन्मुख होती है **तथा** अर्थात् वैसा उपाय, वह तनुवित्तजा सेवा द्वारा बीजभावदृढ़तासंपादनरुप प्रकारभूत उपाय, त्याग से एवं श्रवणकीर्तन-रुप से निरुपण कर रहे हैं, यह अर्थ है । बीजभावदृढ़ता के साधन से असाध्य होने के सिद्धांत से 'उपाय' पद दिया गया है । यहाँ 'रति' नामरुपी बीज, आद्य कोमल-भाव - 'भगवान ही शरण हैं' ऐसे आकार का है । जिसके द्वारा भगवद्-धर्मों में रुचि होती है । भक्ति वृक्ष है । उसका फल स्वाधिकारानुसार अलौकिक-सामर्थ्य आदि अन्यतर प्राप्तिद्वारा भगवद्-भजन है । वह उपाय दो प्रकार का है, यह **बीज** इन शब्दों से कह रहे हैं । रतिनामरुपी बीजभाव तनुवित्तजा सेवा द्वारा दृढ़ होने पर, नाशसंभावना रहित होने पर, उस भक्तिवृक्ष की प्रवृद्धि होती है । फलोन्मुख होती है, यह अर्थ है । अतः 'दृढतासंपादन' यह एक उपाय है । द्वितीय-निर्धारण **त्याग** इन शब्दोंसे कह रहे हैं । त्यागहेतु सिद्ध होने से, शक्तितात्पर्यरुप श्रवणसहित कीर्तन से बीजभाव दृढ़ होता है। अर्थात् त्याग सिद्ध करने की शक्ति श्रवणकीर्तन में है । यदि श्रवणकीर्तन सहित त्याग करें, तब त्याग शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है । यह अर्थ है । हरिस्थानवास में तदीयों के साथ रहने पर शक्तितात्पर्य निर्धारित होता है, यह भाव है । यहाँ 'शक्तितात्पर्य' शब्द का अर्थ श्रवणकीर्तन से है । कुल मिलाकर अर्थ हुआ कि हरिस्थान में तदीयों के साथ रहने पर 'शक्तितात्पर्य' अर्थात् श्रवणकीर्तन निर्धारित होता है, यह भाव है । द्वितीय-पक्ष में भी दृढ़ता अपेक्षित ही है यह बताने के लिए 'तु' शब्द है । परंतु प्रथम-पक्ष में गृहस्थिति द्वारा भावनाश होने की शंका से, तनुवित्तजा सेवा द्वारा उसकी दृढ़ता संपादित होती है । द्वितीय-पक्ष, त्याग-पक्ष में तो उसके गृहस्थिति के अभाव से स्वतः ही दृढ़ता सिद्ध होती है, यह विशेष भेद है ॥१॥

बीजदार्ढ्यप्रकास्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥२॥

आद्यमुपायमाहुः बीजदार्ढ्येति । द्वितीयपक्षादयं पक्षः पृथगिति तुशब्दः । पाषण्डित्वाभावाय स्वधर्मतो वर्णाश्रमधर्मेण गृहे स्थित्वाऽव्यावृत्तो भोगार्थव्यावृत्तिरहितः । आश्रमधर्मत्वेन प्राप्तमृतुगमनादिकमेव कुर्वन्निति यावत् । श्रवणादिभिः सहितया पूजया द्रव्येषु भावात्मकत्वभावनरूपया कृष्णं फलात्मकं भजेत्सेवेत । तनुवित्तजसेवां कुर्यादित्यर्थः । ज्ञानमयद्रव्यसम्पादितायाः पूजात्वं 'धन्यास्त्वि'ति श्लोके निरुपितम् ॥२॥

प्रथम-उपाय **बीजदार्ढ्य** इन शब्दों से कह रहे हैं । द्वितीय-पक्ष से यह पक्ष पृथक है अतः 'तु' शब्द दिया है । पाषण्डित्व के अभाव के लिए स्वधर्म से, वर्णाश्रमधर्म द्वारा गृह में रहकर अव्यावृत्त अर्थात् भोगार्थ व्यावृत्तिरहित, वर्णआश्रमधर्म द्वारा ऋतुगमनादि ही करते

हुए श्रवणादि सहित पूजा द्वारा, पूजा में उपयोगी द्रव्यों में भावात्मक भावनरुप द्वारा फलात्मक कृष्ण को भजना/सेवना चाहिए। यहाँ टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं, कि गृहस्थ रहते हुए भी फलात्मक कृष्ण को भजना चाहिए। किंतु उस गृहस्थ का जीवन, शास्त्र में कहे हुए वर्णाश्रमधर्म के अनुरुप होना चाहिए। वह अव्यावृत्त (अर्थात्) भोगार्थवृत्तिरहित एवं ऋतुगमनादि भी करते हुए कृष्ण को भज सकता है। इसे इस प्रकार समझें। पार्वतीजीने भगवान शंकर के पास आने से पहले सात वचन माँगे, जिसे आज विवाह संस्कार पद्धति में 'सप्तपदी' नाम से जाना जाता है। वे इस प्रकार हैं। (१) इष एकपदी भव (२) ऊर्जे द्विपदी भव (३) रायस्पोषाय त्रिपदीभव (४) मायोभव्याय चतुष्पदीभव (५) प्रजाभ्यः पंचपदीभव (६) ऋतुभ्यः षट्पदी भव (७) सख्याभ्यः सप्तपदी भव। भगवान शंकर ने भी बदले में पाँच वर माँगे। वे इस प्रकार है। 'उद्याने', 'मद्यपाने', 'पितागृहगमने', 'कुचैलवस्त्रं', 'वृथाहास्यं'। यहाँ पंक्ति में आया 'ऋतुगमन' शब्द पार्वतीजीद्वारा माँगा गया छठा वचन है। जिसका अर्थ होता है, स्त्री के ऋतुकाल में उसके पास ही रहना। चूँकि ये सभी वचन शास्त्र में कहे वर्णाश्रमधर्म के अंतर्गत हैं, अतः यदि जीव इन्हें करते हुए फलात्मक कृष्ण को भजता है, तो कोई आपत्ति नहीं है, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। तनुवित्तजा सेवा करनी चाहिए यह अर्थ है। ज्ञानमय-द्रव्यसंपादन द्वारा पूजात्व "धन्य हैं (श्री.भा. १०/२१/११)" इस श्लोक में निरुपित है ॥२॥

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥३॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्रापि नश्यति।

व्यावृत्तोपीति। कामादिप्राबल्ये तत्कृतप्रतिबन्धाभावाय भोगार्थव्यावृत्तिसहितोपि सेवाऽनवसरेऽनिषिद्धप्रकारेण नित्यमपि भोगं कुर्वन्नित्यर्थः। हरौ चित्तं स्थापयित्वेतिशेषः। श्रवणादौ यतेत्, प्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रार्थमेव भोगं कुर्वन् सदा सेवानवसरेपि यत्नं श्रवणादिविषयकमेव सम्पादयेदित्यर्थः। एवं कृते बीजभावस्य दार्ढ्यं भवति। तत्राभिज्ञापकमाहुः ततः प्रेमेति। एवं कृते सा भक्तिः प्रेमशब्दवाच्या भवति। पूर्वं लोकेपि स्नेहः स्थितो, भगवति परमधिकः। 'सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति'रितिलक्षणात्। एवं कृते तु सर्वतो निवृत्तो भगवन्मात्रविषयको भवतीत्यर्थः। तदनन्तरं सासक्तिशब्दवाच्या भवति। अनायासेनापि भगवानेव स्मृतो भवति येन तादृशस्नेहो भवतीत्यर्थः। 'चित्तस्वभाव आसक्तिर्यस्त्युक्तुं नैव शक्यते। स्नेहो रतिरिति प्रोक्त' इति तृतीयस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तम्। आसक्तित्वसाधकोपि पूर्वोक्त एव प्रकार इति तथेत्युक्तम्। व्यसनं चेति। अत्रापि स एव प्रकार इति चकारः। विशेषेणासनं क्षेपणं येन। येन भावेनान्यास्फुरणं भवति। प्रपञ्चविस्मृतिरिति यावत्। आसक्तिः प्रपञ्चविस्मृतियुता सती व्यसनम्। तथाच निरोधो व्यसनशब्दवाच्यस्तत्त्वं भक्तेर्यदा भवेत्। तत्तदा बीजं दृढं भगवच्छास्त्रे उच्यते। भक्तेर्व्यसनत्वं बीजदार्ढ्यस्याभिज्ञापकमित्यर्थः। दार्ढ्यस्वरुपमाहुः नापीति। नाशाप्रतियोगीत्यर्थः। सततगृहस्थितौ नाशसम्भावनामपि वक्ष्यन्तीत्यपिशब्दः ॥३¹/₂॥

व्यावृत्तोपि इस शब्द की व्याख्या करते हैं। कामादि प्रबल होने पर, उसके द्वारा किए प्रतिबंध के अभाव के लिए भोगार्थव्यावृत्ति सहित होने पर भी, सेवा-अनवसर में अनिषिद्ध प्रकार से नित्य भी भोग करते हुए, हरि में चित्त स्थापित करना चाहिए, यह अर्थ है। श्रवणादि का प्रयत्न करना चाहिए, प्रतिबंध निवृत्ति-मात्र के लिए भोग करते हुए सदा, सेवा-अनवसर में भी श्रवणादि विषयक ही यत्न संपादित करना चाहिए, यह अर्थ है। ऐसा करने पर बीजभाव की दृढ़ता होती है। वहाँ अभिज्ञापक लक्षण **ततः प्रेम** इन शब्दों से कह रहे हैं। ऐसा करने पर वह भक्ति 'प्रेम' शब्दवाचक होती है। "सर्वतोधिक स्नेह भक्ति है" (ना.पं. स्मृति) इस लक्षण द्वारा पूर्व में लोक में भी स्नेह होता है पश्चात् भगवान में परमाधिक हो जाता है। इस प्रकार करने पर स्नेह सभी ओर से निवृत्त होकर मात्र भगवद्-विषयक होता है, यह अर्थ है। तत्पश्चात् वह भक्ति, 'आसक्ति' शब्दवाचक होती है। जिसके द्वारा अनायास भी भगवान ही स्मरण होते हैं, वैसा स्नेह होता है, यह अर्थ है। "चित्त का स्वभाव एवं आसक्ति" है जो त्यागी नहीं जा सकती। स्नेह, 'रति' है, यह कहा गया है। यह तृतीयस्कंध-सुबोधिनी में कहा है। आसक्ति का साधक भी पूर्व में कहा प्रकार ही है, अतः **तथा** शब्द कहा गया। **व्यसनं च** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं। यहाँ भी वही प्रकार है, अतः 'चकार' प्रयुक्त हुआ है। जिससे विशेषरुप से फेंका जाए, दूर किया जाए वह व्यसन है। जिस भाव से अन्य की अस्फूर्ति होती है। प्रपंचविस्मृति होती है। प्रपंचविस्मृतियुक्त होती हुई आसक्ति, 'व्यसन' है। एवं व्यसनशब्दवाचक निरोधतत्व भक्ति में जब होता है, तब वह 'बीज' भगवद्-शास्त्र में दृढ़ कहा जाता है। भक्ति में व्यसन बीजदृढ़ता का अभिज्ञापक है, यह अर्थ है। **दृढ़ता का स्वरुप नापि** इन शब्दों से कह रहे हैं। दृढ़ता का स्वरुप <u>नाश</u>' का <u>अप्रतियोगी</u> है, यह अर्थ है। अर्थात् जो नष्ट न होता हो, ऐसा दृढ़ता का स्वरुप होता है। प्रतियोगी उसे कहते हैं जो समान हो, यहाँ 'नाश' का अप्रतियोगी कहने से तात्पर्य यह है, कि नाश के समान नहीं होता, यह अर्थ है। सतत गृह में रहने में नाशसंभावना को भी 'अपि' शब्द से कह रहे हैं ॥३¹/₂॥

प्रेमादित्रयस्याभिज्ञापनाय तत्कार्याण्याहुः स्नेहादिति।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्यास्याद्गृहारुचिः ॥४॥

सर्वतो निवृत्ताद्भगवन्मात्रविषयकस्नेहादित्यर्थः। रागविनाशगृहारुचिकृतार्थतानां क्रमात्प्रेमाद्यभिज्ञापकत्वमिति भावः। रागविनाशो

विषयवैराग्यम् । स्नेहस्य विषयेभ्यो निवृत्तौ तेषु वैराग्यमुदासीनता भवतीत्यर्थः । आसक्त्या गृहारुचिर्भवति ।।४।।

प्रेमादित्रय को प्रेम-आसक्ति-व्यसन को बताने के लिए, उनके कार्यों को **स्नेहात्** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

सभी राग निवृत्त होने से, मात्रभगवद्-विषयक स्नेह से विषयों में राग का विनाश होता है यह अर्थ है । विषयों में रागविनाश होने से, गृह में अरुचि से कृतार्थ हुए जीवों को क्रम से प्रेमादि प्रेम-आसक्ति-व्यसन लक्षण बतानेवाला भाव है । 'रागविनाश' अर्थात् विषयों से वैराग्य । विषयों से स्नेह के निवृत्त होने पर उनमें वैराग्य अर्थात् उदासीनता होती है, यह अर्थ है । आसक्ति से गृह में अरुचि होती है ।।४।।

अत्र नञर्थो विरुद्धत्वमित्याशयेनारुचिपदार्थं विवृण्वन्ति ।

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ।।५।।
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकृत् ।

गृहस्थानामिति । अभगवदीयानामिति शेषः । एतेषां भावबाधकत्वेनानात्मत्वेन च भानमरुचिपदार्थ इतिभावः । भार्यापुत्रयोरात्मत्वे शास्त्रसिद्धे अपि भक्तानां भगवानेवात्मरूपो, न तु तावितिभावः । अत एव सेवाप्रातिकूल्ये भार्यादीनामपि त्यागोऽत्रोक्तः । यदा भक्तिर्व्यसनरुपा स्यात् । बाधकत्वेनाप्यन्यास्फुरणं स्यात् । तदैव कृष्णे कृतः समर्पित ऐहिकपारलौकिकः सर्वोप्यर्थो येन तादृशः सिद्धात्मनिवेदो भवतीत्यर्थः । पूर्व सामान्यतो निवेदने कृतेपि तत्सिद्धिर्व्यसने एव जाते भवति । तथाचात्मनिवेदनरूपा भक्तिर्व्यसनकार्यमितिभावः । यथा गोपाः सर्वस्य भगवदर्थत्वज्ञानेन प्रपञ्चविस्मृतेर्जातत्वात्सर्वार्थे भगवानेव वक्तव्य इति ज्ञानयुक्ताः क्षुन्निवृत्यर्थमपि भगवन्तमेव प्रार्थितवन्तः । अत एव 'व्यसनान्नान्यगामिन' इति तत्र निबन्धे निरुपितम् । पूर्वयोः किञ्चित्कालं व्यवधानमपि । इदंतु व्यसनसिद्धौ शीघ्रमेव भवतीति यदा तदैवेत्युक्तम् ।

यहाँ 'नञ्' अर्थ में विरुद्धता है, इस आशय से अरुचि पदार्थ का विवरण कर रहे हैं । व्याकरण में 'नञ्' प्रत्यय विरोध अर्थ में उपयोग किया जाता है जहाँ अनुकूलता न हो । यहाँ अरुचि में 'नञ्' का प्रयोग है अर्थात् गृह में अरुचि अर्थात् गृह से विरुद्धता यह कहना चाह रहे हैं ।

गृहस्थानां इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । अभगवदीयों को यह शेष रह जाता है अतः जोड़ लेना चाहिए । इन गृहस्थों के भगवद् भाव में बाधक होने से एवं जीव को उनमें अनात्मत्वभान होने से अरुचि पदार्थ कहा है, यह भाव है । पत्नी-पुत्र का आत्मत्व शास्त्रसिद्ध होने पर भी भक्तों के भगवान ही आत्मरुप हैं न कि वे, यह कहा है । अतएव सेवा में प्रतिकूल होने पर पत्नी आदि का भी त्याग यहाँ कहा है । जब भक्ति व्यसनरुप होती है, बाधकों से भी अन्य विषयोंकी अस्फूर्ति होती है, तब ही ''कृष्ण में कर दिए हैं समर्पित ऐहिकपारलौकिक सभी अर्थ जिसने'' वैसा सिद्ध आत्मनिवेदी होता है, यह अर्थ है । पहले सामान्यतथा निवेदन करने पर भी उसकी सिद्धि व्यसन होने पर ही होती है । एवं आत्मनिवेदनरुपा भक्ति, व्यसन का कार्य है । जिस प्रकार गोपबालकों ने सभी का भगवदर्थज्ञान द्वारा प्रपंचविस्मृति होने पर, सभी अर्थ में भगवान से ही कहना चाहिए, ऐसे ज्ञानयुक्त गोपबालकों ने क्षुधानिवृत्ति के लिए भी भगवान से ही प्रार्थना की । विशेष देखने के लिए श्रीमद् भागवत के (१०/२२/-) देखें जहाँ गोपबालकों ने क्षुधानिवृत्ति के लिए भगवान से प्रार्थना की । अतएव ''व्यसन से जीव प्रभु से अन्यगामी नहीं होता'' भागवतार्थ प्र. यह वहाँ निबंध में निरुपित है । पूर्व में प्रेम-आसक्ति में कुछ काल का व्यवधान भी होता है । यह कृतार्थता तो व्यसनसिद्ध होने पर शीघ्र ही होती है, अतः **यदा** अथवा **तदा** यह कहा गया ।

तत्र किञ्चिदन्यदप्याहुः । तादृशस्यापीति सिद्धात्मनिवेदनस्यापीत्यर्थः । गृहस्य भगवति समर्पितत्वेन सर्वथा बाधकत्वाभावान्न सर्वात्मना त्यागः, किन्तु सततस्थितौ भोगदृष्टिसम्भवात् भोगस्य च सेवाफलग्रन्थे बाधकत्वनिरुपणान्मध्ये मध्ये लीलास्थलेषु गोवर्धनादिषु गच्छेदिति सततमित्युक्तम् । विनाशकृत् । भोगसम्भावनया बीजभावनाशकृदित्यर्थः । एवं तनुवित्तजसेवया बीजदार्ढ्यसम्पादने भक्तिर्व्यसनान्तावस्थां प्राप्ता चेतस्तत्प्रवणलक्षणमानससेवारुपा दृढा सती अलौकिकसामर्थ्याद्यन्यतरफलोन्मुखा भवतीत्येक उपाय उक्तः । अत्र भार्यादिप्रातिकूल्ये यः प्रतिकूलस्तस्य त्यागो, न तु गृहस्य । अत एव 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दित्यत्र गृहं भार्यादिकमिति व्याख्यातम् ।।५$^{1}/_{2}$।।

वहाँ कुछ और भी कह रहे हैं । **तादृशस्यापि** अर्थात् सिद्धात्मनिवेदन को भी व्यवधान होते हैं यह अर्थ है । गृह के भगवान में समर्पित होने से, सर्वथा बाधक का अभाव होने से सब प्रकार से त्याग नहीं है, किंतु सतत रहने की स्थिति में भोगदृष्टि संभव होने से एवं भोग का सेवाफलग्रंथ देखें श्लोक सं.२ में बाधकत्व के निरुपण से बीच-बीच में गोवर्धनादि लीलास्थल में जाना चाहिए यह, 'सतत' पद से कहा है । (यहाँ समझना चाहिए, कि त्याग का अर्थ होता है, सभी कुछ छोड़ देना । सभी कुछ छोड़ने में तो वह गृह भी आ गया कि जिसमें हम रह रहे हैं । किंतु यदि वह गृह भगवान को समर्पित है अथवा भगवदुपयुक्त है, तब तो वह सर्वथा बाधक नहीं रह जायेगा परंतु यदि भक्ति की विसकित होती हुई अवस्था में सतत गृह में ही रहें, तब तो लौकिक भोग-राग भी संभव हो सकते हैं । अतः निरंतर गृह में रहना अनुचित कह रहे हैं, यह अर्थ है) । **विनाशकृत** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । भोगसंभावना से गृह में रहना बीजभावनाशक

होता है, यह अर्थ है । इस प्रकार, तनुवित्तजासेवा से बीजदृढ़ता का संपादन होने पर भक्ति व्यसन की अंतिम अवस्था प्राप्त कर चित्त की उन भगवान में प्रवणता का लक्षण मानसीसेवारुप दृढ़ होने पर अलौकिक सामर्थ्यादि अन्यतर फलोन्मुख्य होती है, यह एक उपाय कहा । यहाँ पत्नी-आदि के प्रतिकूल होने में, जो प्रतिकूल है उसका त्याग है, न कि केवल एक गृह का ही । अतएव ''प्रतिकूल होने पर गृह त्यागना चाहिए'' इस श्लोक में गृह, पत्नी- आदि हैं, यह व्याख्या की है ।।५।।२।।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ।।६।।
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

द्वितीयमाहुः त्यागं कृत्वेति । गृहत्यागं कृत्वा । स चासावर्थश्च तदर्थः । आद्यश्लोके उदेशत उक्तः श्रवणकीर्तनरुपो योर्थस्तदर्थं तद्विषयकमेवैकं मानसं यस्य तादृशः सन् । श्रवणकीर्तनार्थमेव हरिस्थाने भगवद्भक्तसंनिधौ तिष्ठन्निति यावत् । एतादृशः सन् यो यतेत् । श्रवणादाविति शेषः । स भक्तिं सुदृढां व्यसनत्वं प्राप्तां लभते । ततः सर्वतोऽधिकां परां फलोन्मुख्यामपि लभत इत्यर्थः । भक्तेः पूर्वमपि सिद्धत्वात्सविशेषणे हीतिन्यायेन विशेषणलाभो विधीयत इति ज्ञेयम् । 'गृहं सर्वात्मना त्याज'मिति वाक्यादेतस्य पक्षस्य मुख्यत्वम् । अत एव प्रथम-पक्षे नाशसम्भावनाप्यस्तीत्युक्तम्, अत्र तद्व्यावर्तनाय तुशब्दः । मुख्यांशं विशदयन्ति सुदृढामिति । आद्यपक्षे सततगृहस्थितौ नाशसम्भावनाप्यस्तीति तदकृत्वा बीजदार्ढ्यसम्पादनेन भक्तेर्दार्ढ्यं व्यसनत्वं सम्पादनीयं भवति । अत्र पक्षे तु गृहाभावेन नाशसम्भावनाऽभावात्पूर्वोक्तबीजदार्ढ्ये यत्नं विनैव सुदृढा व्यसनत्वं प्राप्ता भवतीत्येतावदंशमादाय 'पाक्षिकोपि दोषः परिहरणीय' इति न्यायेन मुख्यत्वम् । फलसाधने तु साम्यमेवेति वक्ष्येते ।।६$^{1}/_{2}$।।

द्वितीय (पक्ष) त्यागं कृत्वा इन शब्दों से कह रहे हैं । गृहत्याग करके । एवं वह भगवान ही है अर्थ जिसका, वह 'तदर्थ' है । आद्य-श्लोक में उद्देश्यतया श्रवणकीर्तनरुप जो अर्थ कहा, उनके विषयक ही एक मन जिसका है, वैसा होकर रहना चाहिए । श्रवणकीर्तन के लिए ही जहाँ तक हो, हरिस्थान में अर्थात् भगवद्भक्त-सन्निधि में रहना चाहिए । वैसा होकर जो प्रयत्न करता है; श्रवणादि के लिए जो प्रयत्न करता है यह शेष रह जाता है अतः यह भी जोड़ लेना चाहिए; वह सुदृढ़ अर्थात् व्यसनप्राप्त-भक्ति प्राप्त करता है । पश्चात् सर्वतोऽधिका परा, फलोत्मुख्य भक्ति भी प्राप्त करता है, यह अर्थ है । भक्ति के पूर्व भी सिद्ध होने से विशेषणसहित 'हि' इस न्याय से सुद्धढ़ा, सर्वतोप्यधिक, परां इत्यादि विशेषण लाभ का विधान कर रहे हैं यह समझना चाहिए । टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि जीव को 'तदर्थार्थैकमानस' होने के पहले भी भक्ति सिद्ध है, परंतु तदर्थार्थैकमानस होने के पश्चात् जो 'सुदृढ़', 'सभी से अधिक', 'परा', 'फलोन्मुख्य' आदि जो विशेषण हैं, उनसे युक्त भक्ति उसे प्राप्त होगी । अनुवाद में आए 'विशेषणलाभ' शब्द से यह समझना चाहिए । ''गृह सभी प्रकारसे त्याग करना चाहिए'' (पंचश्लोकी/१) इस वाक्य द्वारा इस पक्ष की मुख्यता है । अतएव प्रथम पक्ष में ''नाश संभावना भी है'' यहा कहा । यहाँ उसका निरसन करने के लिए 'तु' शब्द है । प्रथम-पक्ष अर्थात् गृहस्थिति मे नाश की संभावना है परंतु द्वितीय-पक्ष अर्थात् त्याग-पक्ष में 'तदर्थार्थैकमानस' होने के लिए प्रयत्नरत होने से नाश की संभावना नहीं है, यह 'तु' शब्द से कहा जा रहा है ।

मुख्यांश को 'सुदृढ़ाम्' इन शब्दों से विस्तारित कर रहे हैं । आद्यपक्ष (अर्थात् प्रथमपक्ष में अर्थात् गृहस्थिति) में, सतत गृह में रहने से नाश-संभावना भी है । अतः उसे न करके बीजदृढ़तासंपादन द्वारा भक्ति में 'दृढ़ता' (अर्थात्) 'व्यसनत्व' संपादित होता है । इस पक्ष में तो गृह-अभाव से (अर्थात्) नाशसंभावना के अभाव से, पूर्व में कही बीजदृढ़ता में यत्न बिना ही (वह भक्ति) सुदृढ़-व्यसन प्राप्त करने वाली होती है । इतना अंश लेकर ''अल्पदोष भी परिहरणीय (दूर करने योग्य) है'' इस न्याय से इस (तदर्थार्थैकमानस) पक्ष की मुख्यता है । प्रथम-पक्ष अर्थात् गृहस्थिति में नाशसंभावना होने से गृहत्याग करने पर भक्ति में दृढ़ता एवं व्यसन संपादित होता है । अतः वह भक्ति बिना कुछ यत्न किए ही व्यसनवती अर्थात् फलित हो गई । अब तदर्थार्थैकमानस होने की क्या आवश्यकता है ? यह शंका होती है । अतः टीकाकार उसका निराकरण कर रहे हैं, कि पाक्षिक अर्थात् किंचित्मात्र भी दोष यदि हों, तो उसे दूर करने चाहिए । अतः केवल गृहत्याग ही नहीं अपितु तदर्थार्थैकमानस होने का भी यत्न करना चाहिए जिससे रहे सहे दोष भी दूर हो जाएँ । फलसाधन में तो दोनों पक्ष समान ही हैं, यह कह रहे हैं ।।६$^{1}/_{2}$।।

ननु त्यागमात्रमेव वक्तव्यं भवति, हरिस्थानवासो भक्तसङ्गश्च पुनः किमर्थं बोध्यत इत्यत आहुः त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ।।७।।
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

धर्मद्वयरहितकेवलत्यागे बाधकभूयस्त्वमस्त्यतो हेतोः । तथान्नतो दुःसंसर्गाद्धेतोः हरिस्थाने तदीयैः सह स्थेयमित्यन्वयः हरिस्थानवासराहित्ये बाधकभूयस्त्वं 'सहायसङ्गसाध्यत्वा'दित्यारभ्य 'नैव त्यागः सुस्वावह' इत्यन्तं संन्यासनिर्णयोक्तमस्तीति शेषः । अतो हरिस्थाने स्थेयम् । तत्र ते दोषा न भविष्यन्तीति भावः । तथा भक्तसङ्गराहित्ये अन्नतो हेतोः अन्नार्थं दुःसंसर्गात् दुष्टानां संसर्गसम्बन्धाद्धेतोस्तदीयैर्भगवदीयैस्तत्रापि तत्परैर्भगवत्परैर्नतु हिरण्यकशिपुप्रभृतिवदतत्परैः सह स्थेयम् । तदान्नार्थमपि तेषामेव संसर्गो भविष्यति, न तु दुष्टानामिति भावः ।।७$^{1}/_{2}$।।

यहाँ शंका करते हैं, कि मात्र त्याग ही कथनीय है तब पुनः हरिस्थान एवं भक्तसंग क्यों बता रहे हैं ? इसे **त्याग** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

द्विधर्मरहित हरिस्थानवास एवं भक्तसंग रहित हेतु से त्याग में बाधकों की बहुलता है । उसी प्रकार दुष्ट अन्न से, दुःसंसर्ग के हेतु से हरिस्थान में तदीयों के साथ रहना चाहिए, यह अन्वय है । हरिस्थानवासरहित होने पर बाधकों की बहुलता 'सहायता एवं संग से सिद्ध होने से (सं.नि./३)' यहाँ से आरंभ कर "त्याग सुखकर नहीं ही है (६)" यहाँ तक संन्यासनिर्णय में कहा है, यह शेष रह जाता है अतः जोड़ लेना चाहिए । अतः हरिस्थान में रहना चाहिए । वहाँ वे दोष नहीं होते हैं, यह भाव हैं । एवं भक्तसंगरहित होने पर अन्नहेतु से अन्न के लिए दुःसंसर्ग से अर्थात् दुष्टों के संसर्गसंबंध के हेतु से तदीय-भवदीय के साथ, वहाँ भी भगवत्-तत्परों के साथ रहना चाहिए न कि हिरण्यकशिपु के स्वभाव जैसे अतत्परों के साथ रहना चाहिए । तब अन्न के लिए भी उनका ही संसर्ग होता है न कि दुष्टों का, यह भाव है ।।६ $^{1}/_{2}$।।

हरिस्थानस्य द्वैविध्याशयेनाहुः अदूरे इति ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ।।८।।

पूजाप्रवाहवति गोवर्धननाथजगन्नाथादिस्थाने भगवतः अदूरे पूजाप्रवाहरहितयमुनातटादिषु लोकदृष्ट्या भगवतो विप्रकर्षे वा स्वस्य चित्तं यथा न दुष्यति, दोषयुक्तं न भवति, तथा स्वयमेव विचार्य स्थेयमिति पूर्वेणान्वयः ।।८।।

हरिस्थान के द्विप्रकारक आशय से **अदूरे** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

पूजा-प्रवाह वाले गोवर्धननाथ - जगन्नाथादि स्थान में भगवान के निकट पूजाप्रवाहरहित यमुनातटादि में या लोकदृष्टि से भगवान के अतिनिकट, जिस प्रकार स्वयं का चित्त दूषित अर्थात् दोषयुक्त नहीं होता, उसप्रकार स्वयं ही विचारकर रहना चाहिए, यह पूर्व से अन्वय है ।।९।।

ग्रन्थोक्तपक्षद्वयमुपसंहरन्ति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ।।९।।

सेवायामिति । आद्ये बीजदार्ढ्यसम्पादनपक्षे सेवायां क्रियमाणायां, द्वितीये त्यागपक्षे कथायां वा क्रियमाणायां सत्यां यस्य आसक्तिरासक्तित्वं प्राप्ता भक्तिर्दृढा व्यसनत्वं प्राप्ता भवेत्, तस्य पुरुषस्य भक्तिबीजस्य नाशो न । तथा च व्यसनरूपा नाशसम्भावनारहितबीजा भक्तिश्चेतस्तत्प्रवणलक्षणमानससेवारूपा सती अलौकिकसामर्थ्याद्यन्यतरफलं यथाधिकारं सम्पादयतीति भावः । नात्र वर्णादिनियम इत्याहुः यावज्जीवमिति । सर्वानेव जीवान् मर्यादीकृत्येत्यर्थः । व्यसनसिद्ध्यनन्तरं हरिस्थानवासनियमोपि तथा नास्तीति क्वापीत्युक्तम् । किन्तु सततगृहस्थितिर्निषिद्धेति पूर्वमुक्तम् । वर्णादिसाधारण्यं प्रमाणेन विरुध्यत इत्याशंक्यात्र प्रमाणबलाभावायाहुः मतिर्ममेति । अस्मन्मतिसिद्धोयं पक्षः, अतः प्रमेयबलसिद्धः । वाचा कथनेपि मतिसिद्धत्वमेव मुख्यमिति भावः ।।९।।

ग्रंथ में कहे दो पक्षों का उपसंहार कर रहे हैं ।

सेवायाम् इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । प्रथम, बीजदृढ़तासंपादन-पक्ष में सेवा करने वाले को अथवा द्वितीयपक्ष अर्थात् त्याग-पक्ष में कथा करनेवाले होने पर जिसकी आसक्ति अर्थात् आसक्तिप्राप्तभक्ति दृढ़-व्यसन को प्राप्त होती है । उस पुरुष के भक्तिबीजभाव का नाश नहीं होता है । एवं इस प्रकार व्यसनरुपा अर्थात् नाशसंभावनरहितबीजरुपाभक्ति, चित्त की उनमें प्रवणता की लक्षणरुप मानसी-सेवा होती हुई, अलौकिक सामर्थ्यादि दूसरे फल यथाधिकार संपादित करती है, यह भाव है । यहाँ वर्णादि नियम नहीं हैं इसे **यावज्जीवं** इन शब्दों से कह रहे हैं । सभी जीवों को मर्यादित कर कह रहे हैं, यह अर्थ है । व्यसनसिद्धि पश्चात् हरिस्थानवास - नियम भी नहीं है, यह **क्वापि** इस शब्द से कहा । किंतु सतत गृहस्थिति निषिद्ध है, यह पूर्व में कहा । "वर्णादि साधारण प्रमाण से (उपर्युक्त कथन) विरुद्ध है" इस आशंका से यहाँ प्रमाणबल के अभाव से **मतिर्मम** इन शब्दों से कह रहे हैं । समझना चाहिए, कि उपर कहे उपदेश कहीं कहीं वर्णाश्रम नियमों के अनुरुप नहीं भी हो सकते हैं । अतः यदि कोई पूर्वपक्षी यह शंका करे, कि ये प्रमाणविरुद्ध है, तो श्रीआचार्यचरण उसे स्वमति से ही प्रमाणित कर रहे हैं, यह अर्थ है । हमारी मति से यह सिद्धपक्ष है, अतः प्रमेयबलसिद्ध है । वाणी से कहने पर भी मतिसिद्धता मुख्य है, यह भाव है ।।९।।

पक्षद्वयस्य व्यवस्थामाहुः बाधेति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।।१०।।

कामादिभिर्बाधसम्भावनायाम् । इन्द्रियजयसामर्थ्याभाव इति यावत् । तदा एकान्ते वासस्त्यागपक्षो नेष्यते । तथाचेन्द्रियजयसामर्थ्याभावे पूर्वोक्तपक्षेण स्थेयम् । तत्सामर्थ्ये त्यागपक्षेण हरिस्थाने तदीयैः सह स्थेयमिति व्यवस्थेति भावः । एवं व्यवस्थायां 'गृहं सर्वात्मने'ति श्लोकसंमतिसूचनाय तुशब्दः । नन्वत्यागपक्षे गृहे स्थितौ तत्रासक्तिरनिवार्या । त्यागपक्षे च गृहत्यागस्याश्रमान्तराग्रहणे प्रमाणविरुद्धत्वात्पापसम्भावनेत्याशंक्याहुः हरिस्त्विति । सर्वतो गृहासक्तेः सर्वपापेभ्यश्चेत्यर्थः । 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इत्यस्यार्थानुसंधेयः । एतद्वाक्यानुसंधानेन न संशय इत्युक्तम् । हरित्वाद्रक्षणं युक्तमेवेति तुशब्दः ।।१०।।

दोनों-पक्षों की व्यवस्था **बाध** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

कामादि द्वारा बाधा की संभावना में इंद्रियजयसामर्थ्य का अभाव होने पर, तब एकांत में वास अर्थात् त्यागपक्ष इष्टप्रद नहीं है । एवं इंद्रियों को जीतने की सामर्थ्य के अभाव में पूर्व में कहे पक्ष गृहस्थिति से रहना चाहिए । उस इंद्रियजय सामर्थ्य में त्यागपक्ष से हरिस्थान में तदीयों के साथ रहना चाहिए, यह व्यवस्था है, यह भाव है । ऐसी व्यवस्था में ''गृह सभी प्रकार से (पं.श्लो./१)'' इस श्लोक की संमतिसूचन के लिए 'तु' शब्द है । अत्यागपक्ष अर्थात् गृहस्थिति में रहने पर आसक्ति अनिवार्य है । एवं त्यागपक्ष में गृहत्याग वर्ण आश्रम के अंतर्गत अग्रहीत होने से, प्रमाणविरुद्ध होने से पापसंभावना है, ऐसी शंका के लिए **हरिस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं । सभी ओर से, गृहासक्ति से एवं सभी पापों से रक्षा करेंगे यह अर्थ है । ''मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर (भ.गी.१८/६६)'' श्लोक के अर्थ का अनुसंधान करना चाहिए । इन वाक्यों के अनुसंधान द्वारा 'संशय नही' यह कहा । 'हरि' पद से रक्षण, युक्त ही है, यह 'तु' शब्द से कहा है ।।१०।।

उपसंहरन्ति इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरुपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ।।११।।

य एतदिति एतदध्ययनेनापि रतिर्बीजभावरूपा दृढा स्यादिति । बीजदार्ढ्यसम्पादनस्याद्यपक्षस्यायमप्येकः प्रकार इति तस्यापीत्यपिशब्दः ।।११।।

स्वीयेषु कृपायोक्तस्य ग्रन्थस्यास्य महात्मभिः ।
वदनानलदासोक्ता व्याकृतिः पूर्णतामगात् ।।१।।

इति श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृता भक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ।।

इत्येवं इन शब्दों से उपसंहार कर रहे हैं ।

य एतद् इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । इसका अध्ययन करने से भी बीजभावरुपा-रति दृढ़ होती है । बीजदृढ़तासंपादन प्रथम-पक्ष का यह भी एक प्रकार है । अतः **तस्यापि** इस पद में 'अपि' शब्द है ।।११।।

स्वीयों के लिए महात्माओं द्वारा कृपाद्वारा कहे इस ग्रंथ की ।
वदनानल (महाप्रभु)दास द्वारा कही व्याख्या पूर्णता को प्राप्त हुई ।।१।।

यह श्रीविठ्ठलेशात्मज श्रीवल्लभकृत भक्तिवर्द्धिनी टीका समाप्त हुई ।।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

मठपतिश्रीजयगोपालभट्टकृतटीकासमेता ।

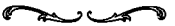

बर्हिबर्हलसन्मौलि वेणुवादविशारदम् ।
दुःखं दलयतादुच्चैस्त्रिभङ्गललितं महः ॥ १ ॥
श्रीवल्लभतत्सुतवरगुरुपितृकृष्णान् मुहुः प्रणमन् ।
टीकामतींव रम्यां कुर्वे श्रीभक्तिवर्धिन्याः ॥ २ ॥
सगुणा भक्तिर्नवघोक्तैकविधा निर्गुणा ततो दशभिः ।
पद्यैरुक्तो वृद्धिप्रकार एकेन चोपसंहारः ॥ ३ ॥

अथ दशविधैर्भक्तभावैर्दशविधा भक्तिरिति दशश्लोकैर्भक्तिवर्धिनीशास्त्रे भक्तिवृद्धिप्रकारं एकेन श्लोकेन तदुपसंहारं तत्पाठफलं चाहुः श्रीवल्लभाचार्याः यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यादिना ।

श्री मस्तक पर मयूरपंख से शोभित वेणुवादन में विशारद त्रिभंगललित प्रभु का तेज हमारे दुःख को उच्च प्रकार से दूर करे ॥ १ ॥

श्रीवल्लभ, उनके श्रेष्ठपुत्र श्री विट्ठल एवं पितृवत् गुरु 'कृष्ण' को बारंबार प्रणाम करते हुए 'श्रीभक्तिवर्धिनी' की अतीव रमणीय टीका कर रहा हूँ ॥ २ ॥

सगुण भक्ति नौ श्लोक, एक निर्गुण; अतः दस पद्यों द्वारा वृद्धिप्रकार, एवं एक श्लोक द्वारा उपसंहार समाप्ति कह रहे हैं॥३॥

अथ, दस प्रकार के भक्तभावों द्वारा दस प्रकार की भक्ति है अतः दस श्लोकों द्वारा भक्तिवर्धिनी शास्त्र में भक्तिवृद्धि प्रकार, एक श्लोक द्वारा उसका उपसंहार एवं उसका पाठफल, श्रीमद्वल्लभाचार्य **यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिर्भावरूपा प्रवृद्धा अवस्थाविशेषविशेषाविर्भावेन रसरूपतापर्यन्तं प्राप्ता भवति, तथा मया उपायः साधनं निरूप्यते कथ्यत इत्यर्थः । ननु भक्त्युत्पत्तिसाधनं पूर्वमनुक्त्वा भक्तिवृद्धिसाधनोपदेशः कथं क्रियत इति चेत् । अत्रोच्यते । पुष्टिमार्गे प्रभो 'रसो वै स' इति श्रुत्या एकवचनाविरुद्धसामान्यरसशब्दप्रयोगेणानेकविधरसरूपावशिष्टैकरसरूपत्वं सिध्यति । अत्र प्रभुरनेकरसविशिष्टोपि प्राधान्यतः कीदृशरसरूप इति जिज्ञासायां शृङ्गाररसरूप एवेत्यायाति । यतः श्रुतिभिः परमकाष्ठापन्नानन्दस्वरूपफलरूपदर्शने प्रार्थिते भगवतोदीपनविभावरूपश्रीगोवर्धनश्रीयमुनादिविशिष्टे प्रकृत्यतीताक्षरब्रह्मान्तर्गतब्रह्मानन्द-मध्यव्यापिवैकुण्ठान्तर्गतश्रीमद्वृन्दावने 'नानारासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बक'मित्यादीदृशोऽनुभावरूपो यो रासस्तद्रसोन्मत्तः शृङ्गाररसालम्बनीभूतनायिकारूपगोपीकदम्बकयुक्तमेव परमकाष्ठापन्नफलरूपं स्वस्वरूपं ताभ्यः प्रदर्शितमिति बृहद्वामनपुराणे श्रूयते । अन्यरसस्वरूपत्वेनैव प्राधान्ये तद्विभावादिविशिष्टमेव स्वरूपं प्रदर्शितं स्यात् । न च तस्य स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । 'कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ । पृथिव्यां भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले । वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान्वो रासमण्डल' इति बृहद्वामनपुराणे सारस्वतकल्पे स्वावतार उक्तो भगवता श्रुतीनामनुग्रहार्थम् । तत्कल्पानुसार्येव श्रीभागवतं तत्स्वरूपदर्शनेनैव च निखिलवेदपुराणधर्मजिज्ञासाब्रह्मजिज्ञासादिभिरप्यजातचित्तप्रसादानां श्रीमतां व्यासचरणानां चित्तप्रसादो जातो, न त्वन्यस्वरूपदर्शनेनेत्यर्थापत्तिरूपप्रमाणेन तस्य स्वरूपस्यैव परमकाष्ठापन्नत्वे सिद्धे तत्स्वरूपस्य परमकाष्ठापन्नत्वे प्रमाणाभावाभावात् ।

यथा अर्थात् जिस प्रकार से भक्ति, भावरूप प्रवृद्ध अर्थात् अवस्थाविशेष से, विशेष आविर्भाव के द्वारा रसरुपतापर्यंत प्राप्त होती है **तथा** अर्थात् उस प्रकार से मेरे द्वारा **उपायः** अर्थात् साधन **निरुप्यते** अर्थात् कहा जा रहा है, यह अर्थ है। यहाँ शंका करते हैं कि भक्ति की उत्पत्ति के साधन पूर्व में न कह कर भक्तिवृद्धिसाधन का उपदेश क्यों कर रहे हैं? यहाँ कह रहे हैं। पुष्टिमार्ग में प्रभु की रसो वै सः (तै. उ. २/७) इस श्रुति द्वारा, एकवचन से अविरुद्ध, सामान्यतया 'रस' शब्द के प्रयोग से, अनेकविध रसरुप से अवशिष्ट होने से 'एक-रसरुपा' सिद्ध होती है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि 'रसो वै सः' इति श्रुति में रस शब्द का एकवचन में यद्यपि कहा है किंतु

पुष्टिप्रभु अनेकरसाविशिष्ट हैं उन्हें किसी एक रस में सीमित नही खा जा सकता अतः सारे ही रस उनमें समाविष्ट हो जाते हैं । अतः इस अर्थ में वे एकरसरुप हैं। यहाँ प्रभु अनेकरस विशिष्ट होने पर भी प्रधानतया कौन से रसरुप हैं ? यह जिज्ञासा होने पर 'श्रृंगाररसरुप' ही आता है। क्योंकि श्रुतिरुपा गोपिकाओं द्वारा, परमकाष्ठापन्न - आनंदस्वरुप- फलरुपदर्शन की प्रार्थना करने पर भगवान ने उद्दीपनविभावरुप, श्री गोवर्धनश्रीयमुनादिविशिष्ट, प्रकृति से अतीत, अक्षरब्रम्ह के अंतर्गत, ब्रम्हानंद के मध्यव्यापिवैकुंठ के अंतर्गत श्रीमद्वृंदावन में ''नाना प्रकार के रासरस से उन्मत्त जहाँ गोपिकाओंका समूह है'' इत्यादी इस प्रकारक वाक्यानुरुप, अनुभावरुपी जो रास है, उस रस से उन्मत्त श्रृंगारस आलंबनीभूत नायिकारुप गोपीवृंद से युक्तही, परमकाष्ठापन्न फलरुप स्वयं का स्वरुप उनके लिए प्रदर्शित किया, यह बृहद्वामनपुराण में सुना जाता है। यदि अन्य रस स्वरुपत्व से ही प्रधानता होती, या होने पर उस विभाव आदि से विशिष्ट प्रभुस्वरुप ही प्रदर्शित होता । एवं उस स्वरुप का परमकाष्ठापन्नत्व होने में प्रमाण का अभाव नहीं समझना चाहिए। ''सारस्वत-कल्प प्राप्त कर व्रज में गोपियाँ होंगी, पृथ्वी में, भारतक्षेत्र में, मेरे माथुरमंडल में, एवम् मैं वृंदावन में रासमंडल में तुम्हारा प्रियतम होऊँगा।'' यह बृहद्-वामनपुराण में अपने अवतार को सारस्वतकल्प में भगवान ने श्रुतियों के अनुग्रह के लिए कहा है। उस कल्पानुसार ही श्रीभागवत के वैसे उस स्वरुपदर्शन द्वारा ही निखिलवेदपुराण-धर्मजिज्ञासा-ब्रम्हजिज्ञासा के द्वारा भी जिनके चित्त में प्रसन्नता न हुई ऐसे श्रीमद्व्यासचरणों को चित्त में प्रसन्नता हुई न कि अन्य स्वरुपदर्शन से; इस अर्थापत्तिरुपप्रमाण से उस स्वरुप का ही परमकाष्ठापन्नत्व सिद्ध होने से, उस स्वरुप का परमकाष्ठापन्नत्व में प्रमाण के अभाव का अभाव है अर्थात् प्रमाणित है

एवं च सिद्धे शृङ्गाररसरूपत्वस्यैव प्राधान्येन धर्मत्वेऽन्यरसस्वरूपाणां च तदङ्गत्वेन धर्मत्वे, शृङ्गाररसस्य तु रतिरूपस्थायिभावात्मकत्वात् रतिरूपस्थायिभावस्य च भगवद्रूपत्वेन ब्रह्मत्वात् ब्रह्मणश्च व्यापकत्वात् भगवद्विषयकरतेरपि व्यापकत्वे सिद्धे सर्वजीवेषु त त्स्थितत्व सिद्धम् । तत्र रतेर्ब्रह्मत्वेनानन्तरूपत्वाद्भगवद्विषयिणी श्रीमद्व्रजभक्तादिनिष्ठारतिः शृङ्गाररसरूपा भवति । अस्मदादिनिष्ठा भगवद्विषयिणी रतिर्भक्तिरसरूपा भवति । सैवास्मदादिनिष्ठा सपरिकरभगवदतिकृपायां स्वस्य पूर्वरूपं तिरोधाप्य शृङ्गाररसरूपतामपि प्रकटीकरोति । एवं च 'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते' । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते ।' 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्न चान्यथे'ति वाक्येभ्यः प्रेमप्रथमावस्थारूपत्वात् प्रभुविषयकत्वाच्च भावशब्दवाच्या स्नेहरूपत्वेन भक्तिशब्दवाच्यापि भवति।

एवं इस प्रकार सिद्ध होने पर श्रृंगाररसरुप के ही प्रधानधर्म होने से एवं अन्य रसस्वरुपों के उस श्रृंगारसरुप का अंगभूतधर्म होने से श्रृंगारस के तो रतिरुपस्थायिभावात्मक होने से एवं रतिरुपस्थायिभाव के भगवद्रुप होने से, ब्रह्म होने से एवं ब्रह्म व्यापक होने से भगवद्विषयकरति में भी व्यापकत्व सिद्ध होने पर सभी जीवों में वह भगवद्रति की स्थिति सिद्ध हुई। भट्टजी कहना चाह रहे हैं, कि यह सिद्ध हो गया कि श्रृंगाररस अन्य सभी रसों में प्रधान है एवं अन्य सभी रस श्रृंगारस के ही अंगभूत हैं। उस 'श्रृंगाररस' का स्थायीभाव रतिरूप है एवं वह रतिरूप भगवान में है। अब भगवान तो ब्रह्म हैं अतः रतिरूप भी ब्रह्म है, यह सिद्ध हुआ। अब ब्रह्म तो व्यापक है, वह सभी में विद्यमान हैं, वह जीव में भी है। अतः रति भी व्यापक हुई एवं सभी जीवों में उसकी स्थिति भी सिद्ध हो गई, यह अर्थ है। वहाँ रति के ब्रह्मत्व होने से, अनंत रुप होने से भगवद्विषयिणी - श्रीमद्व्रजभक्तिदिनिष्ठा-रतिः 'श्रृंगाररसरुपा' होती है। हमारी आदि की निष्ठा भगवद्विषयिणी-रति, 'भक्तिरसरुपा' होती है। यहाँ टीकाकार उपर्युक्त रति के दो भेद कर रहे हैं। वे कह रहे हैं, कि व्रजभक्तों की भगवद्विषयिणी-रति 'श्रृंगाररसरुपी' है एवं हम आधुनिक जीवों की भगवान में निष्ठा या रति 'भक्तिरसरुपा' है। हमारी वही निष्ठा परिकरसहित-भगवान की अति कृपा होने पर स्वयं के पूर्वरुप को तिरोहित कर श्रृंगाररसरुपता को भी प्रकट करती है। एवं इस प्रकार ''प्रेम की प्रथमावस्था को 'भाव' कहा जाता है'', देवादि-विषय में रति 'भाव' कही जाती है'', ''माहात्मज्ञानपूर्वक सुदृढ़, सर्वतोधिक-स्नेह, 'भक्ति' है यह कहा एवं उसके द्वारा ही मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं (ना.पं.स्मृ.) इत्यादि वाक्यों से प्रेम की प्रथमावस्था एवं प्रभुविषयकत्व होने से भावशब्दवाची रति स्नेहरुपद्वारा 'भक्ति' शब्दवाची भी होती है।

तत्र सा भक्तिर्द्विविधा । मर्यादापुष्टिमार्गीया शुद्धपुष्टिमार्गीया च । तत्र 'यमेवे'ति श्रुतिसिद्धं मर्यादापुष्टिमार्गीयं वरणं शुद्धपुष्टिमार्गीयं च वरणमिति वरणेपि द्वैविध्यमिति सिद्धान्तात् मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादानुग्रहाभ्यां मिलिताभ्यामेव कार्यसिद्धिः । शुद्धपुष्टिमार्गे तु विशुद्धानुग्रहमात्रेणैव कार्यसिद्धिः । एवञ्च मर्यादापुष्टिमार्गे मर्यादापुष्टिमार्गीयभगवद्वरणप्रेरिततादृशजीवकृतताद्दगाचार्यसंश्रयसज्ञाततादृङ्नामनिवेदनमात्रेणैवातिमात्राच्छादकमायारूपावरणभङ्गे पूर्वोक्तरसापरपर्यायभावस्याविर्भावः । 'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यत' इत्यादिवाक्यात् । शुद्धपुष्टिमार्गे तु शुद्धपुष्टिमार्गीयश्रीमद्व्रजभक्तकृपाविष्टभगवत्कृपाप्रेरिततादृशजीवकृते शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यसंश्रयसज्ञाततन्मार्गीयनामनिवेदनमात्रेणैव । न चैतन्मार्गीयनामनिवेदनेपि न सूक्ष्मबीजरूपभावो दृश्यत इति वाच्यम् । तादृङ्नामनिवेदनादिभिः प्रतिबन्धकाविद्यापगमेपि सूक्ष्मतस्तदैव तद्दर्शनाभावात् । समयविशेषसमुद्भूतकिञ्चिदश्रुपुलकादिभिस्तदुभयनाच्च रतिमात्राच्छादकमायारूपावरणभङ्गे पूर्वोक्तभावस्याविर्भावः । 'न रोधयती'त्यारभ्य

'यथाऽवरुन्धे सत्सङ्ग' इत्यादिवाक्यात् । एवं च भावस्याविर्भावमात्रमेव, न तूत्पत्तिरिति नोत्पत्तिप्रकार उक्तः । किन्तु वृद्धितत्प्रकार एवोक्त इति ।

वहाँ वह भक्ति द्विप्रकारक है। 'मर्यादापुष्टिमार्गीया' एवं 'शुद्ध-पुष्टिमार्गीया'। वहाँ 'जिसे ही मुण्ड. २/३' इस वाक्य द्वारा मर्यादापुष्टिमार्गीयवरण एवं शुद्धपुष्टिमार्गीयवरण श्रुतिसिद्ध है। इस प्रकार वरण में भी द्विप्रकारक सिद्धांत होने से मर्यादापुष्टिमार्ग में मर्यादा एवं कृपा मिलने से ही कार्यसिद्धि होती है। शुद्धपुष्टिमार्ग में तो विशुद्ध अनुग्रहमात्रसे ही कार्यसिद्धि होती है। एवं, मर्यादापुष्टिमार्ग में मर्यादापुष्टिमार्गीय भगवद्वरण से प्रेरित वैसे जीव अर्थात् मर्यादापुष्टिजीव द्वारा किए वैसे अर्थात् मर्यादापुष्टि आचार्य के आश्रय से उत्पन्न वैसे नामनिवेदन मात्र से ही, अति मात्रा में आच्छादक ढंकी मायारुप का आवरण भंग होने पर पूर्वोक्त श्रृंगार रस का अपर पर्याय भक्तिभाव का आविर्भाव होता है। ''दान-व्रत-तप-होम-जप-स्वाध्याय-संयम-श्रेय एवं अन्य विविध साधनों द्वारा निश्चित ही कृष्ण में भक्ति सिद्ध की जाती है (श्री.भा.१०/४७/२४)'' इत्यादि वाक्य से । शुद्धपुष्टिमार्ग में तो शुद्धपुष्टिमार्गीय-श्रीमद्व्रजभक्त की कृपा से आविष्ट भगवद्-कृपा से प्रेरित वैसे तादृशी जीव द्वारा, शुद्धपुष्टिमार्गीय आचार्य की कृपा से उत्पन्न उस पुष्टिमार्गीय नामनिवेदन मात्र से ही कार्य सिद्धि होती है । एवं, ''पुष्टिमार्गीय नामनिवेदन होने पर भी सूक्ष्मबीजभावरुप दिखाई नहीं देता,'' ऐसा नहीं समझना चाहिए। वैसे पुष्टिमार्गीय नामनिवेदनादि द्वारा प्रतिबंधरुपी अविद्या दूर होने पर भी सूक्ष्मत: तब ही उस बीजभाव को देखने का अभाव होने से। विशेष समय में उत्पन्न कुछ भावअश्रु-पुलकादि द्वारा एवं उसके बढने से रतिमात्र की आच्छादक मायारुप का आवरण भंग होने पर पूर्वोक्त बीजभाव का आविर्भाव होता है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि पुष्टिमार्गीय नामनिवेदन होने के पश्चात् सूक्ष्मबीजभाव दिखाई देने लगता है। किंतु चाहे प्रतिबंधरुपी-अविद्या नामनिवेदन से दूर हो गई हों परंतु सूक्ष्मरुप से वह विद्यमान रहती ही है। अतः बीजभाव दिखाई नहीं देता। वह कैसे दिखाई देता है, यह आगे बता रहे है।'' नहीं रोकता (श्री.भा.११/१२/१) इस श्लोक से आरंभ कर ''जिस प्रकार सत्संग (श्री.भा. ११/१२/२) इत्यादि वाक्यों से।

एवं इस प्रकार भाव का आविर्भाव मात्र ही है न कि उत्पत्ति, अतः उत्पत्तिप्रकार नहीं कहा। किंतु वृद्धि एवं उसका प्रकार ही कहा।

न चाविर्भाव एव उत्पत्तिरिति वाच्यम् । 'अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः । नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधे'ति त्रिविधोत्पत्तौ घटादिवदनित्यत्वाभावान्न जननरूपोत्पत्तिः । जीवात्मवन्नित्यपरिच्छिन्नत्वान्न समागमरूपोत्पत्तिः । नित्यापरिच्छिन्नत्वेपि धर्मरूपस्य भावस्य तनुत्वाभावान्न प्राकट्यरूपोत्पत्तिः । किन्तु वेदस्य यथा प्रलये सूक्ष्मरूपेणावस्थानमेवमेव भावस्यापि पूर्वसूक्ष्मरूपेणावस्थानं पश्चात्सृष्टौ वेदस्य विस्तर इव स्वकारणैः प्रवृद्धिमात्रमित्याविर्भावस्य उत्पत्तिरूपत्वाभावात् । तस्माद्भक्तेः सूक्ष्मबीजरूपभावरूपेण सर्वजीवेष्वपि नित्यस्थितत्वात्तस्य च आचार्यकृपामात्रेणैव आविर्भावस्यैव जातत्वात् साधनान्तरानपेक्षत्वच्च तद्वृद्धिप्रकार एवोच्यते, न तु तदुत्पादन प्रकारः, त्रिविधोत्पत्तेरप्यसम्भवात् । न च 'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रलम्भनया विदाहाया यू' इत्यादिना कथासुधानस्य भक्तिवृद्धिहेतुत्वमुक्तम्. इति व्यर्थो भवत्प्रयास. इति वाच्यम । अत्रैव श्लोके

'वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोध'मित्यग्र उक्तवादस्य वृद्धिप्रकारस्य मर्यादामार्गीयभक्तिविषयत्वात् । शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तेस्
वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिहे'ति वाक्याद्वैराग्यज्ञानानपेक्षत्वादिति जानीहि । वृद्धौ प्रकर्षस्तु फलानुभवपर्यन्तसम्पादकत्वरू

एवं, आविर्भाव ही उत्पत्ति है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। 'अनित्य में जनन', 'नित्य-परिछिन्न में समागम', '
प्राकट्य', इस तरह उत्पत्ति त्रिप्रकारक है (सु. २/६/१) ''इस श्लोक द्वारा त्रिप्रकारक उत्पत्ति में घटादि की भांति
होने से, जननरूप उत्पत्ति नहीं है। जीवात्मा की भाँति नित्य परिछिन्नत्व होने से समागमरुप उत्पत्ति नहीं है। नित्य अ
भी धर्मरुप भाव का देह का अभाव होने से प्राकट्यरुप है, उत्पत्ति नहीं है। किंतु वेद की जिस प्रकार प्रलय हो
अवस्थिति होती है, इसी प्रकार भाव की भी पूर्व में सूक्ष्मरुप से अवस्थिति होती है, सृष्टि के पश्चात् वेद के विस्तार क
द्वारा प्रवृद्धिमात्र है। अतः आविर्भाव का उत्पत्तिरुप से अभाव है अर्थात् आविर्भाव, 'उत्पत्ति' नहीं है। अतः भक्ति के
रुप द्वारा सभी जीवों में भी नित्य रहने से एवं आचार्यकृपामात्र से ही आविर्भाव के ही उत्पन्न होने से एवं अन्य सा
होने से उस भक्ति का वृद्धिप्रकार कह रहे हैं, न कि उसकी त्रिप्रकारक उत्पत्ति के भी असंभव होने से, उत्पादन प्रका
आपकी कथासुधा का पान करने के द्वारा उमड़ी भक्ति से (श्री.भा.३/५/४५)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा कथासुधापान को
हेतु कह रहे हैं अतः ''आपका प्रयास व्यर्थ है'', ऐसा नहीं समझना चाहिए। यहीं श्लोक में ''वैराग्यसार प्राप्त क
४५)'' यह आगे कहा होने से, इस वृद्धिप्रकार के मर्यादामार्गीय-भक्तिविषयक होने से। शुद्धपुष्टिमार्गीयभक्ति के तो
वैराग्य किंतु प्रायः भक्ति से ही (श्री.भा.११/१२/३१)'' इस वाक्य से, भक्तिवैराग्यज्ञान से अनपेक्षित होने से, यह ज
में प्रकर्षता तो फलानुभवपर्यंत संपादकरुप है। अर्थात् भक्तिवृद्धि की प्रकर्षता तब जाननी चाहिए, जब वो भग

अनुभव दे।

ननु सा भक्तिप्रवृद्धिः कदा भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । तत्र त्यागात् भगवद्भजनप्रतिबन्धकगृहादित्यागात् । अथ च श्रवणकीर्तनाच्च प्रेमासक्तिव्यसनरूपावस्थाविशेषविशेषाविर्भावेन पूर्वोक्त प्रकारकरत्यपर-पर्यायबीजरूपो यो भावस्तस्मिन् दृढे केनापि तिरोधापयितुमशक्ये सति शुद्धपुष्टिमार्गीया भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् । रासरूपतारूपवृद्धिप्राप्ता स्यादित्यर्थः । न चात्र त्यागपदेन सर्वत्याग एव कुतो नोच्यत इति वाच्यम् । अग्रे 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यनेन वैदिकलौकिकधर्मसाहित्येन गृहस्थितस्यैव भजनस्य बोधितत्वेन तथाव्याख्यानस्य कर्तुमशक्यत्वात् ।

यहाँ शंका करते हैं कि वह भक्तिप्रवृद्धि कब होती है? यह आकांक्षा होने पर **बीजभावे दृढे त स्यात त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्** इन शब्दों से कह रहे हैं। वहाँ त्यागात् अर्थात् भगवद्भजन में प्रतिबंधक गृहादि के त्याग से। एवं, **श्रवणकीर्तनात्** अर्थात् प्रेमासक्तिव्यसनरूपा-अवस्थाविशेष के द्वारा विशेष आविर्भाव से पूर्व में कही रति का दूसरा पर्याय बीजरूपी जो भाव है, उसके दृढ़ होने पर अर्थात् किसी से भी तिरोहित करने मे अशक्य होने पर, शुद्धपुष्टिमार्गीया-भक्ति प्रवृद्ध होती है। रासरूपतारुपवृद्धि को प्राप्त होती है, यह अर्थ है। एवं यहाँ त्याग पद से सर्वत्याग ही क्यों नहीं कह रहे हैं? ऐसा नहीं कहना चाहिए। टीकाकार कह रहे हैं, कि मूलपक्ति में जो 'त्यागात्' पद आया है उससे कोई पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि बीजदृढ़ता के लिए सर्वस्य त्याग कर देना चाहिए किंतु श्रीमहाप्रभु का आशय सर्वस्य त्याग से नहीं है, यह आगे बता रहे हैं। आगे 'गृह में स्थित होकर स्वधर्म से' इस पंक्ति से वैदिकलौकिक-धर्मसहित गृह में रहकर ही भजन को बोधित करने से वैसे सर्वत्याग के व्याख्यान को करना अशक्य हो जाने से। टीकाकार का कहना है, कि आगे मूल पंक्ति में 'स्वधर्मतः' पद भी आया है, जिसका अर्थ होता है 'स्वधर्म से' अर्थात् लौकिकवैदिक धर्म करते हुए गृह में रहना चाहिए, जबतक कि व्यसनदशा प्राप्त न हो जाए अतः त्याग से 'सर्वत्याग' अर्थ नही लिया जा सकता।

अत्रेदं तत्त्वम् । त्यागस्तावन्त्रिविधः । भगवद्भजनाननुकूलानामेव गृहादीनां त्यागः, न तु तदनुकूलानामपि । द्वितीयस्तु भगवद्भजनाननुकूलगृहमात्रस्यैव त्यागः, न तु भगवद्भजनानुकूलानां स्वगृहस्थितान्यभगवदीयानामपि । तृतीयस्तु भगवद्भजनानुकूल-गृहस्थितभगवदीयानामिव तद्भजनानुकूलतदन्यभगवदीयानामपि त्यागः । तत्र प्रथमस्त्यागो बीजदार्ढ्यप्रकारे तनुजवित्तजसेवारूप प्रारम्भदशासमयिकः । द्वितीयस्त्वासक्तिदशाविर्भावरूपमध्यदशासामयिकः । तृतीयस्तु व्यसनदशाविर्भावरूपपूर्णदशासामयिकः । तत्रैव तच्छ्लोकोक्तस्त्यागो बीजदार्ढ्यप्रकारप्रारम्भदशात्यागः । अग्रे 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् । त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानस' इत्यनेन वक्ष्यमाणः स मध्यमदशात्यागः । 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यासनिर्णयोक्तत्यागस्तु फलदशात्याग इति बोध्यम् । अत्रायं श्लोकः सूत्ररूपः, अग्रिमग्रन्थो व्याख्यानरूप इति ज्ञेयम् ।

यहाँ तत्व यह है कि त्याग, तीन प्रकार का है। एक भगवद्भजन में अननुकूल गृहादि का ही त्याग न कि भगवद्भजन के अनुकूलों का भी।

द्वितीय, भगवद्भजन में अननुकूल गृहमात्र का ही त्याग, न कि भगवद्भजन में अनुकूल स्वगृह में रहने वाले अन्य भगवदीयों का भी। तृतीय तो भगवद्भजन में अनुकूल गृह में रहने वाले भगवदीयों की भाँति उस भगवद्भजन में अनुकूल से इतर भगवदीयों का भी त्याग। वह प्रथम त्याग, बीजदृढ़ता प्रकार में तनुजवित्तजसेवारूप प्रारंभदशा के समय का त्याग है। द्वितीय तो, आसक्तिदशा-आविर्भावरुपा मध्यदशा के समय का त्याग है। तृतीय तो, व्यसनदशा-आविर्भावरुप पूर्णदशा समय का त्याग है। वहीं उस त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् श्लोक में कहा त्याग, बीजदृढ़ताप्रकार का प्रारंभदशा त्याग है। आगे, **तादृशस्यापि सततं गेहस्थान विनाशकम्। त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानस** इस श्लोक द्वारा कहा, वह मध्यदशा त्याग है। ''विरहानुभव के लिए तो परित्याग प्रशस्त है (स.नि./७) इस संन्यासनिर्णय में कहा त्याग तो फलदशा त्याग है, यह समझना चाहिए। यहाँ यह **बीजभावे दृढ़े तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्** श्लोक सूत्ररुप है, आगे ग्रंथ में कहे व्याख्यान-रूप हैं, यह समझना चाहिए।

केचित्तु बीजं नाम 'यमेवे'ति श्रुतेर्निरुपाधिकरूपणया पुष्टिमार्गीयं भगवद्वरणम्, अन्यथा तत्र प्रवृत्तिरेव न स्यादित्याद्रिप्रकारेण व्याचक्षते । तच्चिन्त्यम् । वटादिवृक्षस्य वटादिबीजमेव बीजम्, न तु पिप्पलादिबीजं बीजम् । एवं च जीवस्य वृक्षसजातीयत्वमुत्सर्गतः सर्ववादिसिद्धम्, अन्यथा पिप्पलादिबीजेभ्योपि वटाद्युत्पत्तिः स्यात् । तथात्रापि स्नेहरूपभक्तेरपि स्नेहरूपभक्तिरूपमेव बीजं भवितुं योग्यम्, सजातीयत्वात् । अत एवोपसंहारे 'तस्यापि स्यादृढा रति'रित्यनेनोपक्रमोक्तभावपर्यायरतिशब्देन भावस्यैव दार्ढ्यमुक्तम्, न तु पुरुषोत्तमवरणादीनाम् । एवं च यथा वर्षासमयो नववारिसेकेन क्षेत्रान्तःस्थितं बीजं क्षेत्रनिष्ठं प्रतिबन्धकरूपं काठिन्यं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं करोति, तथा च निरुपाधिपुरुषोत्तमवरणादिकं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यानुग्रहद्वारा जीवान्तःस्थितं तत्परपर्यायं सूक्ष्मरूपत्वात् बीजरूपभावं मायातिरस्करिणीरूपं प्रतिबन्धकं दूरीकृत्य स्वकार्योन्मुखं करोतीत्यसाधारणनिमित्तकारणरूपमेव, न तु भाववत् ।

तत्समवायि तु इदमेवेति ज्ञापयितुं बीजपदमुक्तम् । अत्र अन्यथा मूलकारणदार्ढ्ये स्यादित्याद्येव श्लोकनिबन्धः कृतः स्याच्छ्रीमदाचार्यचरणैः । न च वटादिबीजानामपि वटादिवृक्षं प्रति निमित्तत्वमेव दृष्टम्, न तु समवायिकत्वम्, कार्यस्य वटादेस्तत्समवेतत्वाभावात्, तथैव भावरूपबीजस्यापि निमित्तत्वमेवेति सिद्धे समवायित्वोक्तिर्विरुद्धेति वाच्यम् । यथा वटादिबीजानां निमित्तत्वेपि कन्दरूपबीजानां समवायित्वदर्शनेन समवायित्वम्, एवमेव भावरूपबीजस्यापि ब्रह्मत्वेन 'स हैतावानास' इति श्रुतेः, अथ च समवायित्वेनानुभवाच्च समवायित्वोक्तेर्विरुद्धत्वाभावात् । तस्मादुपक्रमोपसंहारपर्यालोचनया युक्तिपर्यालोचनयापि बीजरूपो यो भाव इत्येव व्याख्यातमस्माभिरित्यास्तां तावत् ॥ १ ॥

कुछ 'बीज' को ''जिसे ही (कठो.२/२३)'' इस निरुपाधिकरुपिणि-श्रुति द्वारा पुष्टिमार्गीयवरण है, अन्यथा वहाँ प्रभु में प्रवृत्ति ही न होती'' इत्यादि प्रकार से व्याख्या कर रहे हैं। वह विचारणीय है। वटादिवृक्ष का वटादिबीज ही बीज है न कि पीपल आदि का बीज, बीज है। एवं, इस प्रकार जीव का वृक्षसजातीयत्व आरंभ से सभी वादों से सिद्ध है, अन्यथा पीपल आदि के बीज द्वारा भी वटादि की उत्पत्ति होती। उस प्रकार यहाँ भी, स्नेहरुपभक्ति के भी स्नेहरूपभक्तिरुपबीज ही सजातीय होने से, होना योग्य है। अतएव उपसंहार में ''उसकी भी रति दृढ़ होती है'' इस वाक्य से उपक्रम में कहे 'भाव' का पर्यायवाची 'रति' शब्द द्वारा भाव की ही दृढ़ता कही है न कि पुरुषोत्तमवरणादि की। एवं जिस प्रकार कृषक वर्षासमय में नवीन जलसिंचन द्वारा क्षेत्रान्तः स्थित बीज को क्षेत्र में रहे प्रतिबंधकरूप कठिनता दूर करके स्वकार्योन्मुख करता है, उस प्रकार निरुपाधिक पुरूषोत्तमवरणादि शुद्धपुष्टिमार्गीय आचार्यनुग्रह द्वारा जीव के अन्तः स्थित उस श्रृंगारस का दूसरा पर्याय अर्थात् बीजरुपभाव सूक्ष्मरूप से मायातिरस्करिणीरुप प्रतिबंधक दूर कर स्वकार्योन्मुख करता है, यह असाधारण निमित्तकारणरूप ही है न कि भाववत्। उसका समवायि अर्थात् मूलकारण तो यही आचार्यनुग्रह है यह बताने के लिए 'बीजपद' कहा है। किसी भी कार्य को करने में मूलरूप से दो कारण माने गयें हैं एक निमित्तकारण एवं दूसरा समवायिकारण। उदा. के तौर पर मिट्टि के घड़े को बनाने में कुछ कारण हैं। वह घड़ा, मिट्टी चाक-दंड-पानी-कुम्हार आदि के संयोग से बनेगा। अब इस घड़े को बनाने में मूल कारण तो मिट्टी ही है क्योंकि मिट्टी के बिना चाक, दंडादि भी घड़ा नहीं बना सकते। अतः वह मिट्टी, घड़े की मूलकारण अर्थात् संमवायिकारण हुई। निमित्तकारण उसे कहते हैं, जो कार्यसिद्ध करने में मूलकारण के सहयोगी हों। यहाँ घड़े के उदाहरण में मिट्टी के सहयोगी, चाक-दंड-कुम्हार आदि हैं। अतः वे निमित्त कारण हैं। यहाँ इसी उदाहरण से बीजभाव को समझें। टीकाकार कह रहे हैं, कि बीजभाव में निमित्तकारण क्या हैं एवं समवायिकारण क्या होना चाहिए? यहीं पूर्व में टीकाकार कृषक का उदाहरण दे आए हैं, उसमें वे कह रहे हैं कि जिस प्रकार कृषक खेत में बोए बीज के सभी प्रतिबंधक दूर कर, उचित सिंचन कर उसे बड़ा करता है, उसी प्रकार भगवान भी पुष्टिजीव का वरण करके-आचार्यचरणों के अनुग्रह से माया आदि प्रतिबंध दूर करके उसके बीजभाव को दृढ़ करते हैं। टीकाकार कहते हैं कि इस दृढ़ीकरण में निमित्तकारण चाहे जो कुछ हो किंतु समवायिकारक अर्थात् मूलकारण तो भगवान/आचार्यचरणों का अनुग्रह ही है। अन्यथा यहाँ मूलकारण 'दृढ़ता' में होता बीजभाव में नहीं एवं इसे प्रथमश्लोक में ही आचार्यचरणों ने निबंधित कर दिया होता। एवं वटादिबीजों का भी वटादिवृक्ष के प्रति निमित्त ही देखा जाता है न कि समवायिकत्व, वटादि के कार्य का उसके समवेतत्व में अभाव से। उसी प्रकार भावरूपबीज का भी निमित्तत्व ही सिद्ध होने पर समवायि कहना विरुद्ध है, यह कहना चाहिए। जिस प्रकार वटादिबीज के निमित्तत्व होने पर भी कंदरुप बीज का समवायित्व दिखाई देने से, समवायित्व है, इसी प्रकार भावरूप बीज के भी ब्रम्हत्व होने से ''वह इतना ही था (बृ.उ. १/४/३)'' इस श्रुति से एवं समवायिरूप अनुभव से समवायि कथन की विरुद्धता का अभाव होने से। अतः उपक्रम/उपसंहार की पर्यालोचन दृष्टिसे एवं तर्कपर्यालोचनदृष्टि से भी बीजरूप जो भाव है, उसकी इसी प्रकार व्याख्या की गई है एवं हमने भी इसी प्रकार व्याख्या/विस्तार किया है ॥ १ ॥

ननु बीजदार्ढ्योपाय उच्यतामित्याकाङ्क्षायामाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तोभजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

अत्र पूर्वोक्तो भावो बीजम्, तस्य दार्ढ्यप्रकारस्त्वयं यत् 'भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद्धगवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति श्रीभागवततत्त्वदीपनिबन्धे सिद्धान्तितत्वात् । भगवद्भजनानकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः वर्णाश्रमधर्मतो भगवद्भजनानुकूललौकिकवैदिकधर्मतश्च अव्यावृत्तः अनिवृत्तः सन् कृष्णं श्रीमद्गोपीजनविशिष्टं कृष्णपदार्थं फलरूपं भजेत्, कृष्णविषयिकीं सेवां कुर्यादित्यर्थः । अत्र यद्यपि स्वधर्मत इत्यत्र स्वपदस्यात्मात्मीयवाचकत्वात् स्वधर्मपदेनात्मधर्मरूपो दासधर्मोप्यायाति, तथापि न व्याख्याने संगृह्यन्ते, किन्त्वात्मीयधर्मरूपवैदिकलौकिकधर्मा एव संगृह्यन्ते । यतो भजेत्पदार्थस्य सेवाकारणस्य सेवकधर्मत्वात् भजेत्पदेनैवात्मधर्मरूपदासधर्मसंग्रहस्य जायमानत्वादिति बोध्यम् । कृष्णशब्दस्य श्रीमद्गोपीजनविशिष्टकृष्णपरत्वं तु मत्कृतप्रथमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्यां 'कर्ता इः सकलस्ये'ति पद्यव्याख्याने मया सप्रपञ्चमुक्तमिति तत्रैवावलोकनीयम् । अत्र वर्णाश्रमधर्मत्यागेन भजने

यद्यपि पापं न भवति, तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदना'मित्यादिवाक्येन विहितत्वात्, तथापि स्वधर्मत्यागेन भजने गृहस्थितानां पुत्रकलत्रादीनां तादृग्विश्वासाभावात् स्वस्मिन्नसद्बुद्ध्या सेवौदासीन्येन बहिर्मुखजनितमार्गनिन्दया स्वचित्तक्षोभेन च सेवाया अनिर्वाहः स्यात् ।

'बीजदृढ़ता के उपाय कहिए'? इस आकांक्षा में **बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं।

यहाँ पूर्व में कहा भाव 'बीज' है। उसका दृढ़ताप्रकार तो यह कि ''पत्नी-आदि यदि अनुकूल हैं, तो उनसे भगवद्-क्रिया करानी चाहिए। उदासीन होने पर स्वयं करनी चाहिए; प्रतिकूल होने पर गृहत्याग करना चाहिए (स.नि./२३३) यह श्रीभागवततत्वदीपनिबंध में सिद्धांतित होने से। भगवद्भजनानुकूल गृह में रहकर स्वधर्म से अर्थात् वर्णाश्रमधर्म से एवं भगवद्भजन में अनुकूल लौकिकवैदिक धर्म से अव्यावृत्त अर्थात् अनिवृत्त होते हुए श्रीमद्गोपीजनविशिष्ट-कृष्णपदार्थ - फलरूप कृष्ण को भजना चाहिए, कृष्णविषयिकी सेवा करनी चाहिए, यह अर्थ है। यहाँ यद्यपि 'स्वधर्मतः' इस पद के आत्मा-आत्मीय वाचक होने से 'स्वधर्म' पद से आत्मधर्मरुप-दासधर्म भी आता है तथापि इस व्याख्या में संग्रहीत नहीं कर रहे हैं किंतु आत्मीयधर्मरुप वैदिकलौकिकधर्म ही संग्रहीत कर रहे हैं। क्योंकि 'भजेत्' पद का अर्थ, सेवकधर्म से सेवा करना होने से, 'भजेत्' पद से ही आत्मधर्मरुप दासधर्म संग्रहीत हो जाने से, यह जानना चाहिए। शंका यह उठी थी कि स्वधर्म पद से दासधर्म लेना चाहिए क्यों कि 'दासोऽहं' की उक्ति के अनुसार हम प्रभु के दास हैं एवं वही हमारा स्वधर्म भी है तथापि इस भक्तिवर्धिनी में वह नहीं कहा है। टीकाकार कह रहे है कि फिर भी 'भजेत्' पद से वह अर्थ भी आ ही जाता है क्योंकि 'भजेत्' का अर्थ होता है, 'सेवा करना'। एवं सेवा करने वाला सेवक होता है। अर्थात् दास होता है। अतः वह दासधर्म की बात स्वतः ही संग्रहीत हो जाती है, यह अर्थ है। 'कृष्ण' शब्द का श्रीमद्गोपीजनविशिष्ट कृष्णपरत्व तो मेरे द्वारा की गई प्रथमस्कंध सुबोधिनी की टिप्पणी में 'कर्ता ज्ञः सकलस्य' इस पद्य के व्याख्यान् में मैंने विस्तारसहित कहा है, अतः वहीं देखना चाहिए। यहाँ भजन में, वर्णाश्रमधर्म त्यागने से यद्यपि पाप नहीं होता ''इसलिए उद्धव परित्याग कर (श्री.भा. ११/१२/१४)'' इत्यादि वाक्यों से विहित होने से, तथापि स्वधर्मत्याग से भजन में, गृहस्थित पुत्र-पत्नी आदि को वैसे विश्वास के अभाव से स्वयं में असद्-बुद्धि से प्रभुसेवा में उदासीनता से, बहिर्मुखजनित मार्गनिंदा से एवं स्वचित्तक्षोभ द्वारा सेवा का अनिर्वाह होता है।

न च तर्हि पुत्रकलत्रादीनां निन्दया स्वचित्तक्षोभजनकानां बहिर्मुखानां सङ्गत्यागस्य कर्तुं शक्यत्वे 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दित्युक्तत्वात् सेवाप्रतिकूलतायामेव पुत्रकलत्रादीनां त्यागस्य सिद्धान्तत्वेनौदासीन्ये गृहे स्थित्वा स्वयं कर्तव्यस्य बोधितत्वात् । न च स्वयमेव सर्वं क्रियतामिति वाच्यम् । स्वयमेव सेवासामग्रीसम्पादनस्य कर्तुमशक्यत्वात् । स्वधर्मत्यागेन तेषामौदासीन्याच्च सेवाबाधः प्रसज्येतेति । अथ च स एवोत्तमः सेवको यः स्वामिन आयासं न सहते । एवंस्थिते गृहस्थे सेवकेन वैदिकलौकिकधर्मत्यागेन भजने क्रियमाणे तं दृष्ट्वान्यैरपि तदनुयायिभिस्तथैव भजने कृते स्मरणार्थकवैदिकलौकिकधर्मनाशे जायमाने 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यह'मिति वाक्यात् धर्मरक्षार्थं भगवतः प्रयत्नकरणे महायास उत्पद्येत । स चायासः स्वदत्त एवेति गृहस्थसेवकस्यानुत्तमसेवकत्वं च प्रसज्येतेत्यतोपि हेतोः स्वधर्मत अव्यावृत्तो भजेदित्युक्तमित्यवधेहि ।

एवं, तो भी पुत्रपत्नी आदि की निंदा द्वारा स्वचित्त में क्षोभ पैदा करने वाले बहिर्मुखों के संग का त्याग करना शक्य होने पर भी ''प्रतिकूल होने पर गृह त्यागना चाहिए (स.नि./२३३) इस वाक्य में कहा होने से सेवा-प्रतिकूलता में ही पुत्रपत्नी के त्याग का सिद्धांत होने पर उदासीनता में गृह में रह कर स्वयं प्रभुसेवा करने का बोध होने से। टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि संसारासक्त पत्नीपुत्र तादृशीजीव की निंदा करते हैं। अतः इन बहिर्मुखों से स्वयं के चित्त में क्षोभ होता है। उस तादृशी के लिए भगवद्भजन में बाधक इन गृहस्थों का त्याग यद्यपि शक्य हो भी तथापि श्रीमहाप्रभु ने सर्वनिर्णय की इस पंक्ति में गृहस्थों के प्रतिकूल हो जाने पर ही गृहत्याग का विधान किया है, केवल उदासीन होने पर तो स्वयं सेवा करने को कहा है, यह अर्थ है। एवं 'स्वयं ही सभी करना चाहिए' यह नहीं करना चाहिए। स्वयं ही सेवासामग्रीसंपादन करना अशक्य होने से। स्वधर्मत्याग द्वारा एवं उनकी उदासीनता द्वारा सेवाबाध स्पष्ट है । एवं वही उत्तम सेवक है जो स्वामी का कष्ट नहीं सहता। इस प्रकार गृह में रहते सेवक द्वारा वैदिकलौकिकधर्म त्याग द्वारा भजन करने पर उसे देखकर उसके अन्य अनुयायियों द्वारा उसी प्रकार भजन करने पर स्मरणार्थक वैदिकलौकिक धर्म नाश उत्पन्न होने में ''हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब मैं निश्चित ही अवतरित होता हूं। (भ.गी. ४/७)'' इस वाक्य से धर्मरक्षा के लिए भगवान को प्रयत्न करने मे महाकष्ट उत्पन्न होगा। एवं वह कष्ट स्वयं ही दिया गया है अतः गृहस्थसेवक का अनुत्तम सेवकत्व ही होगा, इस हेतु से भी स्वधर्म से अव्यावृत्त होकर भजना चाहिए, यह कहा, यह जान लीजिए।

ननु केवलमेव सेवनं कर्तव्यम्, अथवा किञ्चिदन्यदन्यदपि कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः पूजया श्रवणादिभिः । अत्र विनापि सहयोगं तृतीयेत्युक्तत्वात्सहशब्दाप्रयोगेपि तृतीया । तथा पूजया श्रवणादिभिः सहेत्यर्थः सम्पन्नः । अथाप्रधानतृतीयानिर्देशात्सेवाया एव प्राधा-न्याम् । पूजायाः श्रवणादेश्च गौणत्वमेव । अत्र पूजापि गृहस्थितानामनौदासीन्यसम्पादनार्थं बहिर्मुखजनितमार्गनिन्दया

स्वचित्तक्षो-भाभावार्थमेवोक्ता । अन्यथा शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवामात्रकरणे विध्युक्तत्वाभावज्ञाने तेषामौदीसीन्यं स्यात् । तस्मात् पूजासाधनैः शङ्खघण्टा-द्युपचारैरपि सह सेवा कर्तव्येत्युक्तम्, परन्तु शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवाविरोधिपूजासाधनैर्न कर्तव्येति । न च पुष्टिमार्गविरोधिपूजासाधनत्यागेपि तेषामौदासीन्ये का गतिरिति वाच्यम् । पञ्चोपचारषोडशोपचाराष्टादशोपचारचतुःषष्ट्युपचारैः पूजा विहितेति उपचाराणामनियतत्वेन कमपि पक्षं करोतीति तेषामौदासीन्याभावात् । अत एव अप्रधानतृतीयया श्रवणादित्रयमपि सेवाविधेर्न कर्तव्यम् । मुख्यतया सेवां कृत्वा सेवासमयातिरिक्तसमये श्रवणादिकं कर्तव्यमिति तस्यापि गौणत्वमिति ।

यहाँ शंका होती है कि केवल सेवा ही कर्तव्य है या कुछ अन्य भी कर्तव्य है? इस आकांक्षा में **पूजयाश्रवणादिभिः** इन शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ, 'सह्योग' अर्थ के बिना भी तृतीया विभक्ति कही होने से, 'सह' शब्द न प्रयोग करने पर भी तृतीया विभक्ति समझनी चाहिए। इस प्रकार 'पूजाश्रवणादि के सह' यह अर्थ संपन्न हुआ। यहाँ अप्रधानतृतीया विभक्ति निर्देश से सेवा में ही प्रधानता है। पूजा एवं श्रवणादि का गौणत्व ही है। यहाँ पूजा भी, गृह में रहने वालों की अनौदासीनता का संपादन करने के लिए अर्थात् बहिर्मुखजनित मार्गनिंदा द्वारा उत्पन्न स्वचित्तक्षोभ के अभाव के लिए ही कही है। अन्यथा शुद्धपुष्टिमार्गीय सेवा करने मात्र में विधि द्वारा कहे ज्ञान का अभाव होने पर उनको उदासीनता होती है। अतः पूजासाधनों द्वारा, शंखघंटादि द्वारा, शंखघंटादि उपचार के संग भी सेवा करनी चाहिए, यह कहा परंतु शुद्धपुष्टिमार्गीयसेवा विरोधी पूजासाधनों द्वारा नहीं करनी चाहिए। एवं पुष्टिमार्गविरोधी पूजासाधन त्यागने पर भी उनकी उदासीनता होने पर उनकी क्या गति होगी? ऐसा नहीं कहना चाहिए। पञ्चोपचार(५) षोडषोपचार(१६) अष्टादशोपचार(१८) चतुःषष्ट्युपचार(६४) द्वारा पूजा विहित है, इससे, उपचारों की अनिश्चितता होने से, किसी भी पक्ष को करने से उनकी उदासीनता का अभाव होने से। पञ्चोपचारादि पूजा के साधन हैं। इनमें से किसी एक विधि द्वारा पूजा तो की ही जा सकती है अतः पूजा-उपचार निश्चित नहीं है, यह अर्थ है। अतएव अप्रधानतृतीया द्वारा श्रवणादित्रय को भी सेवाविधि में नहीं करना चाहिए। मुख्यतया सेवा करके सेवातिरिक्त समय में श्रवणादिक करना चाहिए, अतः इस श्रवणादि का भी गौणत्व है।

यत्तु स्वधर्मतो दासधर्मतो भजेत्, अव्यावृत्तः लौकिकव्यावृत्तिरहितः सन् इति व्याख्यानं, तत्र गृहे स्थित्वा भजने लौकिकव्यावृत्तिराहित्यं सर्वथा न भवतीति विचार्यम् । यद्वा । कृष्णं फलात्मकं पूजया पूजासाधनैर्भजेत् । सेवां कुर्यात्, न तु पूजयेत् । तथा च सेव्यसेवकभावेनैव कृतिं कुर्यात् । न तु 'देवो भूत्वा देवं यजेदि'ति वाक्यात् स्वस्मिन् देवत्वं भावयेत् । किन्तु दासत्वमेव । न च भजेदित्येतावतैवायमर्थ आयात्येव, तथा च पूजयेदिति वचनं व्यर्थमिति वाच्यम् । भजेदित्येतावत्युक्ते कया सामग्रया भजेदित्याकाङ्क्षायां पूजया पूजासाधनैरेव भजेदिति बोधनेन तस्य सार्थक्यात् । एवमेव श्रवणादिभिरपि भजेत् श्रवणादिकमपि सेव्यसेवकभावेनैव कुर्यात् न तु सेवकत्वमात्रबुद्धया । तत्र प्रथमव्याख्याने तु सेवानुकूलसाङ्गपूजासाधनैः सह भजनम् न तु गृहस्थितानामौदासीन्याभावाय बहिर्मुखजनितचित्तक्षोभाभावाय मार्गनिन्दाभावाय चेति ज्ञेयम् । द्वितीयव्याख्याने तु प्रायशो यैरेव स्तुतिभिः पूजा भवति, तैरेव स्तुतिभिः सेवा भवति । परन्तु पूजाविहितत्वेन समर्पणम्, न तु दास्योपयोग्युचितानुचितत्वविचारेण । सेवायां तु दासोपयोगिशुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यस्नेहसदृशभावनया समर्पणं स्वस्य स्नेहाभावेपीति विशेषः । न च स्नेहाभावे कथं फलं भविष्यतीति वाच्यम् । स्नेहवच्छुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यमार्गीयत्वपक्षपातात् । इदं यथा तथा 'स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तर'मिति दशमस्कन्धीयब्रह्म-स्तुतिपद्यव्याख्याने भक्तिहंसे प्रपञ्चितमस्मत्प्रभुभिरिति तत्रैवावलोकनीयम् । अत एवोक्तं भजेदित्येव, न तु पूजयेदिति । अत्र यथा पूजासाधनानां शुद्धपुष्टिमार्गीयेण समर्पणम्, स प्रकारस्तु मत्कृतशुद्धपुष्टिसेवासरणौ द्रष्टव्यः, रहस्यत्वादत्र नोक्त इति ज्ञेयम् ।

जो ''स्वधर्म से अर्थात् दासधर्म से भजता है अर्थात् अव्यावृत्त अर्थात् लौकिकव्यावृत्तिरहित होकर'' यह व्याख्यान है, वहाँ गृह में रहकर भजन में लौकिकव्यावृत्तिरहित होना सर्वथा नहीं होता, यह विचारना चाहिए। अथवा। फलात्मक कृष्ण को पूजा द्वारा, अर्थात् पूजासाधनों द्वारा भजना चाहिए। सेवा करनी चाहिए न कि पूजा। एवं सेव्यसेवकभाव से ही कृति करनी चाहिए न कि ''देव होकर देवयाजन करना चाहिए'' इस वाक्य से स्वयं में देवत्व की भावना करनी चाहिए। किंतु दासत्व की ही भावना करनी चाहिए एवं, ''भजेत्' इतने से ही यह अर्थ आता ही है एवं 'पूजयेत्' यह वचन व्यर्थ है'', ऐसा नहीं कहना चाहिए। 'भजेत्?' इतना कहने पर, किस सामग्री द्वारा भजना चाहिए? इस आकांक्षा में पूजा द्वारा, पूजासाधनों द्वारा ही भजना चाहिए, इस बोध द्वारा उस पूजा की सार्थकता होने के कारण। इसी प्रकार श्रवणादि द्वारा भी भजना चाहिए। श्रवणादि भी सेव्यसेवकभाव से ही करने चाहिए, न कि मात्र सेवकत्व बुद्धि द्वारा। वहाँ प्रथम व्याख्यान में तो सेवानुकूल अंगसहित पूजासाधनों के संग भजन करना चाहिए, न कि गृह में रहने वालों की उदासीनता के अभाव के लिए बहिर्मुखों द्वारा जनित चित्तक्षोभ के अभाव के लिए एवं मार्ग निंदा के अभाव के लिए, यह समझना चाहिए। द्वितीय व्याख्यान में तो, प्रायः जिन स्तुतियों से ही पूजा होती है, उन ही स्तुति द्वारा सेवा होती है। परंतु विहितपूजा द्वारा समर्पण है न कि दास्यापयोगी उचितानुचित-विचार द्वारा। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि ऐसे चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले, मार्गनिंदा करने वाले बहिर्मुख गृहस्थों का उस विहित पूजा में समर्पण करना चाहिए। स्वयं उचित या अनुचित का विचार करके स्वयं चिंतित नहीं

होना चाहिए। सेवा में तो स्वयं को स्नेहाभाव होने पर भी दासोपयोगि शुद्धपुष्टिमार्गीयचार्य के स्नेहसदृश भावना द्वारा समर्पण है, स्वयं के स्नेह का अभाव होने पर भी, यह विशेष है। अर्थात् जीव को स्वयं श्रीप्रभु में स्नेह न भी हो किंतु श्रीआचार्यचरण से प्रभु को स्नेह है एवं हम उन आचार्यचरणों द्वारा समर्पित हुए है इस भावना से समर्पण करना चाहिए। समुदाय एवं, स्नेह के अभाव में फल कैसे होगा? ऐसा नहीं कहना चाहिए। स्नेहवत् शुद्धपुष्टिमार्गीय-आचार्यमार्गीय पक्षपात द्वारा। यह जैसा है; वैसा ''स्वयं सुदुस्तर-संसारसागर को पार (श्री.भा.१०/२/३१)'' इस वाक्य से दशमस्कंधीय ब्रम्हस्तुतिपद्यव्याख्यान में, भक्तिहंस में हमारे प्रभुचरणों द्वारा विस्तार किया गया है अतः वहीं देखना चाहिए। अतएव 'भजना चाहिए' यही कहा न कि 'पूजना चाहिए' (यह कहा)। यहाँ, जिस प्रकार पूजासाधनों का शुद्धपुष्टिमार्गीय द्वारा समर्पण है, वह प्रकार तो मेरे द्वारा की गई 'शुद्धपुष्टिसेवासरणि' में द्रष्टव्य है, रहस्य होने से यहाँ नहीं कह रहा हूँ, यह समझना चाहिए।

ननु सेवा हि सेव्यसन्तोषजनकक्रियया सिध्यति । सा च क्रिया पादसंवाहनादिरूपा । श्रवणादौ तु क्रियात्वाभावात्कथं तेन सेवा सिध्यतीति चेत् । अत्र ब्रूमः । सेव्यसन्तोषजनकधर्ममात्रेणैव सेवा सिध्यति लोके, न तु क्रियामात्रेण, तथैवानुभवात् । तथा च श्रवणादेरपि तादृशधर्मत्वात्तेनापि सेवासिद्धिर्भवत्येवेति जानीहि । यद्वा । श्रवणादिभिः सेवानुकूलभावभगवत्स्वरूपसेवाप्रकारादीनां ज्ञानस्य कृतिपर्यवसायित्वमेवेति क्रियात्वमेव ज्ञेयम् ।

यहाँ शंका करते हैं कि, सेवा निश्चय ही सेव्यप्रभु की संतोषजनक किया द्वारा सिद्ध होती है। एवं वह क्रिया चरणसेवादिरूप है। श्रवणादि में तो क्रिया का अभाव होने से कैसे उससे सेवा सिद्ध होगी? यदि यह शंका करें तो? यहाँ कह रहे हैं कि। सेव्यसंतोषजनक धर्म मात्र से ही लोक में सेवा सिद्ध होती है न कि क्रिया मात्र से, वैसा ही अनुभव होने से। एवं, उसी प्रकार श्रवणादि के भी वैसा धर्म होने से सेवासिद्धि होती ही है, यह जान लीजिए। अथवा। श्रवणादि द्वारा सेवानुकूलभाव एवं भगवत्स्वरूपप्रकारदि के ज्ञान के सेवाकृति में ही संपूर्ण होने से श्रवणादि को भी 'क्रिया' अर्थात् सेवा ही जानना चाहिए।

न च सिद्धान्तमुक्तावल्यां तु 'तत्सिद्धयै तनुवित्तजे'त्यत्र तनुवित्तजसेवैवोक्ता, न तु श्रवणादिजा सेवापीति वाच्यम् । तनुजसेवायामेव श्रवणादिजसेवाया अन्तर्भावात् । तथा हि । तत्र तनुजावित्तजा सेवा द्विविधा मुख्या गौणी च । तत्र प्रभुसुखमात्रोद्देशेनैव कृता प्रसङ्गात् स्वधर्मपर्यवसायिनी मुख्या । स्वधर्मत्वमात्रोद्देशेनैव कृता प्रसङ्गात् प्रभुसुखपर्यवसायिनी गौणी । तत्रेन्द्रियदेहप्राणान्तःकरणसङ्घातरूपतनौ ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियसत्त्वात् ज्ञानेन्द्रियैर्घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वङ्मनोभिर्भगवत्सेवोपयोगिषु स्वविषयेषु सदसद्विवेचनजा सेवा, अथ च कर्मेन्द्रियैर्वाक्पाणिपादैर्भगवत्सेवोपयोगिवचनकथनार्थगमनचरणसंवाहनवस्त्वानयनादिकसेवा, अथ च कर्मेन्द्रियाभ्यां पायूपस्थाभ्यां सेवाप्रतिबन्धकमलकामनिवृत्तिद्वारा स्वच्छसङ्घातजा सेवा, अथ च शरीरावयवेन मूर्ध्ना त्वयातिसमीचीना भगवद्भोग्यसामग्री सम्पादनीया सम्पादितेति स्त्रीपुत्रादीनामपि वन्दनजा सेवा च स्वकृतालङ्कारादिष्वपि स्वस्मिन् दासत्वेन तत्तत्सामग्रीसम्पादकत्वात् स्वान्तःस्थितप्रियप्रियतमाभ्यामेव परस्परकृतत्वबुद्ध्या अतिसौन्दर्यावलोकनजनितानन्देन प्रियस्य प्रियायाश्च वन्दनजा सेवा, अथ च क्षुधातृषादीनां प्राणधर्मत्वात् चानुभावेन तत्तत्समयानतिक्रमेण सपरिकरे प्रभौ भोजनजलादिसमर्पणेन प्राणजा सेवा, अथ च दास्यसखित्वाभ्यामात्मनिष्ठाभ्यां बहिरङ्गान्तरङ्गसमयेष्वपि सर्वदा प्राणप्रियासहितप्रभुसन्निधौ निःशङ्कगमनसम्पादिता तत्तद्वस्तुसम्पादनजा सेवा, अथ च सङ्घातविशिष्टोहम् मत्सम्बंधिनः सर्वे प्रभुमात्रभोग्याः, नान्यभोग्या इत्यात्मसमर्पणजा सर्वविधा सेवा च भगवत्सुखोद्देशेनैव कृतत्वादियं तनुजा मुख्यसेवा । स्वधर्मत्वमात्रोद्देशेन कृता चेदृशी सेवी गौणीतनुजा सेवा ज्ञेया । एवमेव श्रवणकीर्तनस्मरणजा सेवापि द्विविधा, मुख्या गौणी च । तत्र मद्धृदिस्थः सपरिकरः प्रभुः स्वप्रियतमभक्तविशिष्टलीलाश्रवणेनान्दातिशयमनुभवतामिती प्रतिबुध्य श्रवणजा सेवा मुख्या । स्वेतरभक्तहृदिस्थो मत्प्रभुस्तादृशलीलाकीर्तनेनानन्दातिशयमनुभवतामिति प्रतिबुध्य तत्तल्लीलागोपनाय तादृशलीलाविशिष्टप्रभुस्मरणजा सेवा मुख्या । भगवत्सुखमात्रोद्देशेनैव कृतत्वात् । स्वधर्ममात्रोद्देशेन कृता तु श्रवणकीर्तनस्मरणजा गौणीत्युच्यते । अत्राद्या सर्वविधापि सेवा शुद्धपुष्टिमार्गीयाणाम्, द्वितीया तु मर्यादापुष्टिमार्गीयाणामिति ज्ञेयम् । एवं च श्रवणादिजाया अपि सेवायाः श्रोत्रवागिन्द्रियान्तःकरणसाध्यत्वात्तनुजसेवायामन्तर्भाव इति श्रवणादिज-सेवादिकमेवेति । न त्वदुक्त्यवकाश इति दिक् ।

एवं सिद्धांतमुक्तावली में तो ''उस मानसी की सिद्धि के लिए तनुवित्तजा (सि.मु./२)'', यहाँ तनुवित्तज सेवा ही कही है न कि श्रवणादिजनित सेवा भी, ऐसा नहीं कहना चाहिए। तनुजसेवा में ही श्रवणादिजनित सेवा के अन्तर्भाव से। वह इस प्रकार। वहाँ तनुजावित्तजा सेवा दो प्रकार की है 'मुख्य' एवं 'गौण'। वहाँ प्रभुसुखमात्रकेउद्देश्य से की गई एवं प्रसंग से स्वधर्म में पर्यवसित होने वाली सेवा मुख्य है। स्वधर्ममात्र के उद्देश्य से ही की गई एवं प्रसंग से प्रभुसुख में पर्यवसित होने वाली सेवा गौण है। वहाँ, इन्द्रिय-देह-प्राण-अन्तःकरण समुदाय शरीर में ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रिय के सत्व से ज्ञानेन्द्रिय अर्थात् नासिका, रसना, नेत्र, त्वचा, मन, द्वारा

भगवद्सेवोपयोगि-स्वविषयों में सद्-असद् विवेचन जनित सेवा एवं कर्मेन्द्रिय अर्थात् 'वाणी', 'हस्त', 'पाद' द्वारा भगवत्सेवोपयोगि वचन कथनार्थ-गमन-चरणसेवा-वस्तु लाने आदि सेवा, एवं कर्मेन्द्रियों 'पायु'-'उपस्थ' से सेवाप्रतिबंधक मल, कामनिवृत्ति द्वारा स्वच्छ इंद्रियों के समूह द्वारा जनित सेवा एवं शरीर अवयव से, मस्तक द्वारा, तुम्हारे द्वारा अतिसुंदर-भगवद्भोग्यसामग्री संपादन करनी चाहिए, संपादन अर्थात् स्त्रीपुत्रादि के भी 'वंदन से जनित' सेवा एवं स्वकृत अलंकारादि में भी स्वयं में दासत्व द्वारा वह-वह सामग्री संपादित होने से स्वयं के अंतःकरण में स्थित प्रियप्रियतमा अर्थात युगलस्वरूप द्वारा परस्पर की गई बुद्धि द्वारा ही अति सौंदर्यावलोकवनजनित आनंद से प्रिय या प्रिया की 'वंदनजनित' सेवा एवं भूख-प्यास प्राण के धर्म होने से एवं अनुभाव से उस-उस समय के अन्-अतिक्रमण से सपरिकरप्रभु को भोजनजलादि समर्पण द्वारा 'प्राणजनित' सेवा एवं 'दासत्व' एवं 'सखित्व' द्वारा, आत्मनिष्ठा द्वारा बाह्य-अंतरंग समयों में भी प्राणप्रियासहित प्रभुसन्निधि में सर्वदा निःशंकगमन शंकारहित होकर जाना द्वारा संपादित वह-वह वस्तुसंपादनजनित सेवा, एवं ''मैं समूहविशिष्ट हूँ, मेरे सभी संबंधी मात्र प्रभु के भोगने के लिए हैं, अन्य भोग के लिए नहीं'' ऐसे आत्मसमर्पण से जनित सेवा एवं सभी प्रकार की सेवा भगवत्सुखोद्देश से ही की गई होने से, यह तनुजासेवा मुख्य है। यदि स्वधर्ममात्र के उद्देश्य से की गई हो तो वैसी सेवा गौणी तनुजासेवा समझनी चाहिए। इसी प्रकार श्रवणकीर्तनस्मरणजनित सेवा भी दो प्रकार की हैं मुख्या एवं गौणी। वहाँ ''मेरे हद्य स्थित सपरिकरप्रभु स्वप्रियतमभक्तविशिष्ट लीलाश्रवण द्वारा अतिशय आनंद अनुभव करें'' यह जानकर श्रवणजनितसेवा मुख्य है। ''स्वयं से इतर भक्तों के हद्य में स्थित ''मेरे प्रभु वैसी लीलाकीर्तन से अतिशय आनंद अनुभव करें'' यह जानकर उन-उन लीलाओं का गोपन करने के लिए वैसे लीलाविशिष्ट प्रभु की स्मरणजनित सेवा मुख्य है। भगवत्सुख मात्र के उद्देश्य से ही की गई होने से। स्वधर्म अर्थात् वर्णाश्रमधर्म के उद्देश्य से की गई श्रवणकीर्तनस्मरणजनित सेवा तो गौणी कह रहे हैं। यहाँ पहली सभी प्रकार की सेवा शुद्ध पुष्टिमार्गीयों की, द्वितीय तो मर्यादापुष्टिमार्गीयों की है, यह जानना चाहिए। एवं, इस प्रकार श्रवणादिजनित भी सेवा का कर्ण-वाणी-इंद्रिय-अन्तःकरण साध्य होने से तनुजसेवा में अन्तर्भाव है, अतः श्रवणादिजनितसेवा, सेवा ही है। अब तुम्हारे लिए कोई शंका का अवकाश नहीं है, यह दिशा स्पष्ट हुई।

एवं चित्तजापि द्विविधा मुख्या गौणी च । तत्र स्वार्जितसर्वविधसर्ववित्तेन परिकरविशिष्टप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा मुख्या । वित्तजा सेवा स्वार्जितद्रव्यस्य शास्त्रोक्तविभागं कृत्वा विभागागतभगवद्भव्येण तादृशप्रभूपयोगिवस्तुसम्पादनजा गौणी वित्तजा सेवा । अत्राप्याद्या शुद्धपुष्टिमार्गीयाणाम्, द्वितीया मर्यादापुष्टिमार्गीयाणां ज्ञेया ।

इस प्रकार चित्तजनित सेवा भी दो प्रकार की है। मुख्य एवं गौणी। वहाँ, सभी प्रकार से स्वयं द्वारा अर्जित सभी धन द्वारा परिकरविशिष्ट प्रभु उपयोगी वस्तु संपादनजनितसेवा मुख्य है। वित्तजा सेवा अर्थात् स्वयं द्वारा अर्जित द्रव्य का शास्त्रोक्त-विभाग करके, विभाग में आए भगवद्द्रव्य से वैसी प्रभूपयोगि वस्तु-संपादन से जनित वित्तजासेवा गौणी ही है। विशेष जानने के लिए देखें (श्री. भा. ८/१९/३७) जिसमें धन के विभाग करने की बात कही है। यहाँ भी प्रथम शुद्धपुष्टिमार्गीयों की, द्वितीय मर्यादापुष्टिमार्गीयों की जाननी चाहिए।

स्यादेतत् । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशान'इति श्रुत्या भगवत ईदृशत्वेन जीवानां सहजदासत्वेन दास्येन सेवा कर्तुं शक्या । सख्यात्मसमर्पणयोस्तु भगवदङ्गीकारसाध्यत्वात् सख्यात्मसमर्पणाभ्यां निःशङ्कतया जीवेन स्वयं सेवा कर्तुमशक्येति चेत् । अत्र वदामः । 'स नो बन्धुर्जनिता संविधाते'ति 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युत'मिति तैत्तरीयोपनिषच्छ्रुतिभ्याम् 'भर्ता संभ्रियमाणो बिमर्ति' 'एको देवो बहुधा निविष्ट'इति श्रुतिभ्यां 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाये' ति मुण्डकोपनिषच्छ्रुत्या च 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टानमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर' इत्यादिभगवद्गीतावाक्येभ्यः । 'येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टमि'ति तृतीयस्कन्धीयवाक्येन । 'सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् । तं विक्रीयात्मनैहावं रेमेऽनेन यथा रमा । सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाये'त्याद्येकादशस्कन्धीयपिङ्गलावाक्यैश्च । 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् । सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः' इत्यादि तत्रत्यभगवद्वाक्यैश्च सर्वविधबन्धुत्वसखित्वपतित्वप्रभुत्वभर्तृत्वदेवत्वमातृत्वपितृत्वपितामहत्वधातृत्वविधातृत्वगतित्वसाक्षित्वनिवासत्वशरणत्वसुहृत्त्वोपदेष्टृत्वानुमन्तृत्वभोक्तृत्वप्रियत्वात्मत्वसुतत्वगुरुत्वेष्टत्वप्रेष्ठतमत्वरमणत्ववित्तरतिदातृत्वादिधर्मा भगवति प्रतिपाद्यन्ते । ते च धर्मा भगवद्धर्मत्वात् नित्याः । नित्यधर्मवत्त्वं च तदैव घटते, यदि तत्प्रतियोगिनो धर्माः सर्वविधबन्धुत्वसखित्वदासत्वसेवकत्वपोष्यत्वाराधकत्वपुत्रत्वपौत्रादिकत्वाधेयत्वविधेयत्वप्राप्तियोग्यत्वद्वितीयत्ववास्तव्यत्वदीनत्वसुहृत्त्वोपदेश्यत्वमन्तृत्वभोग्यत्वासक्तत्वपितृत्वशिष्यत्वेष्टत्वपरमासक्तत्वरत्याकाङ्क्षितत्वार्थित्वरत्याविष्टादयो जीवेषु नित्या भवन्ति ।

हो ऐसा। ''सभी के वश में, सभी का स्वामी है (बृ.उ. ४/४/२२) इस श्रुति द्वारा भगवान का ऐसा स्वरुप होने से, जीवों का सहजदासत्व होने से दास्य भक्ति द्वारा सेवा करनी शक्य होती है। 'सख्य' एवं 'आत्मसमर्पण' दोनों का तो भगवदंगीकार द्वारा साध्य होने

से, सख्यात्मसमर्पण से निःशंकतया जीव से स्वयं सेवा करनी अशक्य है, यदि यह शंका करें तो? कह रहे हैं। ''वह हमारा बंधु, शक्तिदाता हैं'', ''विश्व का पालनकर्ता, आत्मा का ईश्वर, शाश्वत 'शिव' कहा जाता है'' इस तैतरीयोपनिषद् श्रुति से, ''स्वामी, प्रेम करता हुआ धारण करता है'', ''एक देव, बहुविध निविष्ट है'' इन दोनों श्रुति द्वारा एवं ''सहवासी, सखा-भाव वाले दो पक्षी (मु. ३/१/१)'' इस मुण्डकोपनिषद् श्रुति द्वारा ''मैं इस जगत् का पिता, माता, पोषण करने वाला और पितामह हूँ (भ.गी. ९/१७)'', ''गति, पालनकर्ता, प्रभु, साक्षी, धाम, शरण, परमसखा मैं ही हूँ (भ.गी. ९/१८)'', ''साक्षी, अनुमतिदाता, स्वामी, भोक्ता एवं महेश्वर मैं ही हूँ (भ.गी. ९/२२)'' इत्यादि भगवद्गीता द्वारा एवं ''जिनका मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद एवं इष्टदेव हूँ (श्री.भा. ३/२५/३८)'' इस तृतीयस्कंध वाक्य द्वारा ''शरीरधारियों के सुहृद, प्रियतम, स्वामी एवं आत्मा हैं, स्वयं को देकर इन्हें खरीद लूँगी एवं विहार करुँगी जैसे रमा करती हैं (श्री.भा. ११/८/३५)'', ''समीप में, नित्य, धनप्रदाता, प्रेमदाता, प्रेमी-भगवान को छोड़कर (श्री.भा. ११/८/३१)'' इत्यादि एकादशस्कंधीय पिङ्गलावाक्यों द्वारा। एवं ''मैं लौकिकगुणों से रहित, निर्गुण-निरपेक्ष हूँ। साम्य, असङ्गत आदि गुण मुझे ही भजते हैं। मैं सुहृद, प्रिय और आत्मा हूँ (श्री.भा. ११/१३/४०)'' इत्यादि वहीं भगवद्वाक्यों द्वारा सर्वविध 'बंधुत्व', 'सखित्व' 'पतित्व', 'प्रभुत्व', 'भर्तृत्व', 'देवत्व', 'मातृत्व', 'पितृत्व', 'पितामहत्व', 'धातृत्व', 'विधातृत्व', 'गतित्व', 'साक्षित्व', 'निवासत्व', 'शरणत्व', 'सुहृत्व', 'उपदेष्टृत्व', 'अनुमन्तृत्व', 'भोक्तृत्व', 'प्रियत्व', 'आत्मत्व', 'सुतत्व', 'गुरूत्व', 'इष्टत्व', 'प्रेष्ठतमत्व', 'रमणत्व', 'वित्तरतिदातृत्वादि धर्म भगवान में प्रतिपादित होते हैं। एवं वे धर्म, भगवद्धर्म होने से नित्य होते हैं। एवं नित्य धर्म तभी घटते हैं, यदि उनके प्रतियोगी धर्म, सर्वविधबंधुत्व, 'सखित्व', 'दासत्व', 'सेवकत्व', 'पोष्यत्व', 'आराधकत्व', 'पुत्रत्व', 'पौत्रादिकत्व', 'आधेयत्व', 'विधेयत्व', 'प्राप्तियोग्यत्व', 'द्वितीयत्व', 'वास्तव्यत्व', 'दीनत्व', 'सुहृत्व', 'उपदेश्यत्व', 'मन्तृत्व', 'भोग्यत्व', 'आसक्तत्व', 'पितृत्व', 'शिष्यत्व', 'इष्टत्व', 'परमासक्तत्व', 'रति-आकांक्षित्व', 'अर्थित्व', 'रति-आविष्टादि जीवों में नित्य होते हों।

एवं च पूर्वोक्तनित्यसिद्धधर्माणां भगवति सत्त्वाद्यीवेष्येते धर्मा नित्या निरुद्धा इति भगवति सखित्वभोक्तृत्वयोः सत्त्वाद्यीवेष्वपि सखित्वभोग्यत्वयोरपि सत्त्वात्तयोश्च नामनिवेदनाभ्यामाविर्भावितत्वाद्भगवदङ्गीकारस्यापि सत्त्वान्निःशङ्कतया सख्यात्मसर्पणसेवासिद्धिरिति बुध्यस्व । तथा च यतः सर्वविधोपि सम्बन्धो जीवानां भगवता सह वर्तते, अतएव 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहमि'ति भगवता गीतायां येन केनापि प्रकारेण प्रपन्नस्यापि फलदानमुक्तम् । न चैवं भगवतो जीवैः सह सर्वविधे सम्बन्धे सति भगवान् स्त्री अहं पुरुष इति भावेनापि भजनं प्रसज्येतेति वाच्यम् । 'पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपुत्रबन्मित्रवद्धरिम् । ये भजन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योपीह नमोनमः । नारी वा पुरुषो वापि भर्तुभावेन केशवम् । हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः येषामहं प्रियतम आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् । पिताहमस्य जगतो धाता माता पितामहः । गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वर' इत्यादि नारायणव्यूहस्तवीयबृहद्वामनपुराणीयश्रीभागवतीयश्रीभगवद्गीतादिस्थवचननिचयेषु त्वदुन्नीतभावेन भजनस्यानुक्तत्वात् । 'यावद्वचनं हि वाचनिक'मिति न्यायात् । एतादृशभावबद्धस्तस्याश्रुतत्वाच्च । एवं सति स्वयमेवैतादृशभावेन भजने 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणे'ति वचनेन दोष आपद्यते । एवं च 'ये यथा मामि'ति श्लोकस्यापि ये जीवाः शास्त्रोक्तभजनप्रकारेषु 'यथा येन प्रकारेण प्रपद्यन्ते तांस्तेनैव उक्तप्रकारानुकूलप्रकारेणाहं भजामी'त्यर्थो बोध्यः । न तु येनकेनचित्प्रकारेणेति ।

एवं इस प्रकार पूर्व में कहे नित्यसिद्धधर्मों के भगवान में होने से जीव में भी ये धर्म नित्य निरूद्ध हैं अतः भगवान में सखित्व, भोक्तृत्व दोनों के होने से जीव में भी सखित्व, भोग्यत्व के भी होने से एवं दोनों जीव में रहने वाले सखित्व, भोग्यत्व का नामनिवेदन द्वारा आविर्भाव होने से भगवद्-अंगीकृत के भी होने से निःशंकतया सख्यात्मसमर्पणसेवा की सिद्धि होती है, यह जान लीजिए। एवं चूँकि जीव का सभी प्रकार का भी संबंध भगवान के साथ है अतएव ''जो मुझे जिस प्रकार शरणागत होता है, उसे मैं उसी प्रकार प्राप्त होता हूँ (भ.गी. ४/११)'' इस वाक्य से जिस किसी भी प्रकार से शरणागत को भी फलदान, भगवान द्वारा गीता में कहा है। एवं इस प्रकार भगवान का जीव के संग सर्वविध संबंध होने पर ''भगवान स्त्री, मैं पुरूष'' इस भाव से भी भजन हो सकता है, यह नहीं कहना चाहिए। ''जो हरि को पति-पुत्र-सुहृद-पुत्र-मित्र की भाँति सदा भजते हैं उनके लिए भी नमस्कार है। नारी या पुरुष स्वामीभाव से केशव को हृदय में धारण कर शास्त्रगति प्राप्त करते हैं, यहाँ संशय नहीं हैं। (बृ.वा.पु.)'', '' येषामह.... पितामह.... उपद्रष्टा....'' इत्यादि नारायणव्यूहस्तवीय बृहद्वामनपुराणीय श्रीभागवतीय-श्रीभगवद्गीता में रहे वचनसमूहों में आपके उठाए भाव से भजन न कहा होने से। ''जो वचन हों, कहने चाहिए'' इस न्याय से। एवं, इस प्रकार के भाव जैसे भक्त न सुने गये होने से। इस प्रकार होने पर स्वयं ही ऐसे भाव से भजने पर ''जो सन्तात्माओं को अन्यथा प्रतिपदित करते हैं, क्या उनके द्वारा पाप-चोरी नहीं किए गये हैं? (अणु. १/१/१/१)'' इस वचन से दोष आपतित होता है एवं ''जो जिस प्रकार मुझे (भ.गी.४/११) इस वाक्य से जो जीव शास्त्रोक्त भजन-प्रकारों में जैसे, जिस प्रकार से शरणागत होते हैं उन्हें उसी कहे प्रकारानुकूल प्रकार से मैं प्राप्त होता हूँ'' यह अर्थ बोधित होता है। न कि जिस

किसी प्रकार से।

किञ्च । श्रीभागवतेपि 'कोटिकन्दर्पलावण्यः साक्षान्मन्मथमन्मथः पुरुषोत्तम' इत्येव नामोक्तं प्रभुस्वरूपेण, न तु कोटिरितिलावण्यः स्त्युत्तम इत्यादि । तथा च तादृङ्नामतादृक्स्वरूपयोः श्रवणे दर्शने च सर्वेषां स्वस्मिन् स्त्रीभावोदय एव भवति, न तु स्वस्मिन्पुरुषभावोदय इति । अत एवोक्तं श्रीमदस्मत्प्रभुभिः त्रिभङ्गललितस्तवे 'एतस्य दर्शने तु स्यात्प्रमदाभाव एव ही'ति । अत्र दर्शनपदं श्रवणादीनामप्युपलक्षकम् । इयदवधि एतच्छ्रोतृणामपि साक्षात्कर्तृणामिव प्रमदाभावोदयस्यैव दृश्यमानत्वात् ।

एवं । श्रीभागवत में भी प्रभुस्वरूप से 'कोटिकन्दर्पलावण्य साक्षात् मन्मथमन्मथ-पुरूषोत्तम' यही नाम कहा है न कि 'कोटिरितिलावण्टस्त्युत्तम' इत्यादि । एवं इस प्रकार, वैसे नाम एवं वैसे स्वरूप के श्रवण एवं दर्शन करने पर सभी को स्वयं में स्त्रीभावोदय ही होता है न कि स्वयं में पुरूषभावोदय। अतएव हमारे प्रभुचरणों द्वारा 'त्रिभंगललितस्तव' में ''इसके दर्शन में तो प्रमदाभाव ही होत है (४२) यह कहा है। यहाँ 'दर्शन' पद, श्रवणादि का भी उपलक्षक अर्थात् बतानेवाला है। यहाँ तक इसके सुनने वालों को भी साक्षात्कार करने वालों की भाँति प्रमदाभावोदय के ही दृश्यमान होने के कारण।

यद्वा । दर्शनपदं चाक्षुषादिज्ञानमात्रपरं बोध्यम् यदि च भगवता सच्चिदानन्दरूपात्युत्तमस्त्रीरूपेणाविर्भूय कस्यापि पुरुषभाव उत्पादितः स्यात् तदा स्त्युत्तम इति कोटिरितिलावण्य इति नामापि युक्तं स्यात् । मोहिनीरूपं तु 'इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्वपुर्हरि' रिति । 'यन्मे स्त्रीरूपया स्वैरं मोहितोस्यङ्ग मायये'त्यादिश्रीभागवतीयवाक्यैर्भगवन्मायारूप एव, न तु सच्चिदानन्दरूपम् । आवेशमात्रं तु भगवत इत्यवतारमध्ये गणना । जीवानां नारदादीनामिव । न वा तद्रूपमपि केनचित्स्वस्मिन्पुरुषभावेन मोहिन्यां च स्त्रीभावेनोपासितमिति । तस्माच्छिष्टाचाराभावादप्यस्मदुक्तमेव साधु । यत्पुनः 'स वै न रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स ह एतावानास । स पतिः पत्नी चाभवताम्'ति श्रुतौ यत्पत्नीरूपं भगवतः श्रूयते, तत्तु सपत्नीत्वेनैव प्रकटिमिति तस्य प्रभुपत्नीरूपत्वेन भजनं त्विष्टमेव । पूर्वोक्तविरुद्धभावेन भजनं तु भजनभावप्रकारेषु शास्त्रेऽनुक्तमिति न कर्तव्यमेव । अन्यथा द्वेषभयादिविरुद्धभावेन फलवदनेनाप्युक्तं स्यात् । एवं जीवैः सह भगवतः सर्वसम्बन्धसम्बन्धे नित्यसिद्धे स्थिते भगवतो यत्सम्बन्धपुरस्कारेण जीवेषु रिरंसा स सम्बन्ध एवाविरुद्धान्यभावसम्बन्धाविर्भावविशिष्ट आविर्भवति, न तु विरुद्धसम्बन्धाविर्भावविशिष्टः, साक्षाद्भोग्यत्वसम्बन्धे भर्तृत्वादिसम्बन्ध इवेति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्तविचारेण ।

अथवा। 'दर्शन पद' चक्षु आदि इंद्रियों का ज्ञानपरक मात्र है, यह जानना चाहिए एवं, यदि भगवान द्वारा, सच्चिदानंदरूप अत्युत्तम स्त्रीरुप से आविर्भूत होकर, किसी का भी पुरूषभाव उत्पादित होता, तब 'स्त्री-उत्तम' यह, 'कोटिरितिलावण्य' यह नाम भी युक्त होता। मोहिनीरुप तो ''दैत्यों द्वारा प्रार्थना करने पर माया से स्त्रीवेशधारी हरि (श्री.भा. ८/९/८)'', ''मेरी स्त्रीरुपी-माया से मोहित होकर स्वयं आप (श्री.भा. ८/१२/३८)'' इत्यादि श्रीभागवतीय वाक्यों द्वारा भगवान का मायारुप ही है न कि सच्चिदानंदरूप। 'आवेशमात्र' की तो भगवान के अवतारो में गणना की गई है। जीवों के लिए नारद आदि की भाँति। टीकाकार ने अब तक यह सिद्ध किया कि भगवान में स्त्रीभाव नहीं रख जा सकता एवं इसके लिए वे उपर्युक्त प्रमाण भी दे रहे हैं। किंतु यदि कोई पूर्वपक्षी यह शंका करे, कि भगवान ने तो मोहिनीरुप भी धारण किया था तो क्या वह स्त्रीस्वरूप नहीं था? टीकाकार इस शंका का स्पष्टीकरण दे रहे हैं, कि वह मोहिनीरुप तो प्रभु का मायारुप था एवं प्रभु का 'अवतार' मात्र था एवं उस 'माया' या 'अवतार' को प्रभु का सच्चिदानंदस्वरूप नहीं माना जा सकता। वैसे तो हम जीवों के लिए नारदजी प्रभु के तीसरे अवतार भी अवतार ही है किंतु सच्चिदानंदस्वरुप तो नहीं। विशेष जानने के लिए श्री.भा. १/३/८ देखें। और न, उस मोहिनीरुप की भी; किसी ने स्वयं में पुरुषभाव से एवं मोहिनी में स्त्रीभाव से उपासना की है। अतः शिष्टाचार के अभाव से भी हमारा कहा ही उचित है। जो पुनः ''निश्चय ही रमण नहीं किया, अतः एकाकीरमण नहीं करता, उसने दूसरे की इच्छा की, वह इतना ही था। वह पति एवं पत्नी हुआ (बृ.उ. १/४/३)'' इस श्रुति में जो भगवान का पत्नीरुप सुना गया है, वह पत्नीसहित ही प्रकटित हुआ है। अतः उसको प्रभुपत्नीरुप से भजना तो इष्ट है। पूर्व में कहे विरुद्धभाव से भजन तो भजनभावप्रकारशास्त्रों में नहीं कहा है अतः नहीं करना चाहिए। अन्यथा द्वेषभयादि विरुद्ध भाव से, 'फल' कहा होने से भी कहा होता। टीकाकार सुंदर बात कह रहे हैं। वे कहते हैं, कि भगवान में ऐसा विरुद्ध भाव रखना अनुचित है। साथ ही साथ एक शंका भी होती है कि यदि विरुद्ध भाव रखना अनुचित है तो फिर श्री.भा. में ''भयात् कंसो (७/१/३०)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा उस विरुद्ध भाव को भी भक्ति में क्यों गिना होता अर्थात् उसका भी फल क्यों कहा होता? ध्यातव्य है, कि उन विरुद्ध भावो का फल कहा है किंतु भगवान में स्त्रीभाव रखने का कोई फला कहा हो, ऐसा दृष्टांत कहीं नहीं मिलता। यह अर्थ है। इस प्रकार जीवों के संग भगवान के सर्वसंबंध का संबंध नित्य सिद्ध होने की स्थिति में भगवान का जो संबंध आगे करके, जीवो में रिंसा अर्थात् मारने की इच्छा का वह संबंध ही, अविरुद्ध अन्यभावसंबंध के आविर्भावविशेष होने से आविर्भाव होता है। न कि विरूद्धसंबंधविशिष्ट आविर्भाव है; साक्षात् - भोग्यत्वसंबंध होने पर भर्तृत्वादि-संबंध की भाँति, युक्त-अयुक्त के विचार द्वारा प्रभु करते हैं। टीकाकार पूर्व में, भगवान एवं जीवों के परस्पर अनेक

संबंधजों की चर्चा कर चुके हैं। वहीं वे यह भी कह आए हैं कि प्रभु के जीवों के संग तत्तत संबंध तभी आविर्भूत होते हैं जब वे नित्यरूप से जीवों में भी घटते हों। इसी संदर्भ में वे कह रहे हैं कि ऐसे भी कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ प्रभु ने किसी का वध भी कर दिया है अतः यह शंका उठ सकती है कि क्या प्रभु का ऐसा करना विरुद्धभाव नहीं है? क्योंकि प्रभु को तो सभी जीवों के लिए समभाव होना चाहिए फिर यह रिंसा का भाव क्यों? इस शंका का समाधान करते हुए टीकाकार समझाना चाह रहे हैं कि प्रभु में ऐसा कौी रिंसा का भाव होता ही नहीं किंतु स्वयं जीवन के मन में प्रभु के प्रति ऐसा 'अविरुद्धभाव' अर्थात् अन्य भावसंबंध का आविर्भाव होने के कारण प्रभु में भी वैसे भाव का आविर्भाव होता है। तत्पश्चात् प्रभु भी उस जीव के लिए, क्या करना युक्त है अथवा अयुक्त है? यह विचारकर सर्वकार्य करते हैं, यह अर्थ है। ध्यात्व है कि शिशुपाल ने भी स्वयं ही प्रभु के प्रति द्वेषादि का भाव रखा थी न कि प्रभु ने उसके प्रति। अतः उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

अत्रेदं ज्ञेयम् । पूर्वोक्ता सर्वविधापि सेवा प्रेम्णा क्रियमाणफलरूपा । केवलं शुद्धपुष्टिमार्गीयाचार्यपरम्परोपदेशमात्रेणैव विना प्रेम कृता नित्यसिद्धभक्तिवृद्ध्याविर्भावसाधनरूपा ज्ञेया । तथापि साधनत्वबुद्ध्या न कर्तव्या । साधनत्वबुद्ध्या करणे तु 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'ति वाक्यात्'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मिति स्वप्रतिज्ञातश्च प्रेमाद्युत्पाद्य 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तर'मिति पुरुषोत्तमज्ञानमुत्पाद्य स्वप्रवेशरूपमुक्तिरूपफलमेव मर्यादा-भक्तिमार्गीयं भगवान् दद्यात् । न तु सर्वदा साक्षात्स्वसम्बन्धरूपं शुद्धपुष्टिमार्गीयं फलम्, साधनबुद्ध्या कृतनवविधभक्तेः प्रेमोत्पादनद्वारा प्रवेशपर्यवसायित्वात् । फलरूपत्वबुद्ध्या करणे तु प्रेमासक्तिव्यसनान्युत्पाद्य स्वसेवामेव स्वप्रवेशरूपफलादप्युत्तमां दद्यात् । तस्मात् फलत्वबुद्धयैव शुद्धपुष्टिमार्गे सेवाकर्तव्येति 'सार्ष्टिसामीप्ये'त्यादि 'सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु'रित्यादिवाक्यैः सेवायाः सर्वोत्तमफलत्वं प्रसिद्धमेव । इदमेव ज्ञापयितुं फलात्मकनामोक्तम् । वस्तुतस्त्वाचार्यमार्गीयस्याचार्यपक्षपातेन प्रवेशरूपं फलं साधनबुद्ध्या करणेपि न भविष्यति, तथापि भगवत एतस्मिन्विषये सङ्कोचो भविष्यतीति फलात्मकनामोक्त्या फलत्वबुद्धयैव सेवा कर्तव्येत्युपदिष्टं श्रीमदाचार्यचरणैरिति बोध्यमिति दिक् । ननु भगवानेकदैव प्रेमादिवक्ष्यमाणावस्थाविर्भावं कुतो न करोति, वा क्रमेण करोतीति चेत् । क्रमेणाविर्भावे रसाधिक्यानुभवस्यानुभवसिद्धत्वाद्रसाधिक्यानुभवार्थमेवेति गृहाणेति सर्वं निष्प्रत्यूहम् । प्रकृतमनुसरामः ।

यहाँ यह जानना चाहिए पूर्व में कहीं सर्वविध सेवा भी प्रेम से करने पर फलरूपा होती है। केवल शुद्धपुष्टिमार्गीय आचार्यपरंपरा-उपदेश मात्र ही से बिना प्रेम से की गई नित्य-सिद्धभक्ति वृद्धि-आविर्भाव-साधनरूपा जाननी चाहिए। तथापि साधनबुद्धि से नहीं करनी चाहिए। साधनबुद्धि से करने पर तो ''जिसकी जैसी भावना, वैसी होती सिद्धि'' इस वाक्य से, एवं ''जो जिस प्रकार मेरे शरणागत होता है, उसे उसी प्रकार मैं प्राप्त होता हूँ (भ.गी. ४/११)'' इस स्वप्रतिज्ञा होने से प्रेमादि को उत्पादित कर ''भक्ति द्वारा जो मुझे जान जाता है वह मुझे तत्व से जानकर भगवद्धाम में प्रवेश करता है (भ.गी. १८/५५)'' इस वाक्य से पुरूषोत्तम ज्ञान को उत्पादित कर स्वप्रवेशरूप मुक्तिरुपफल ही मर्यादाभक्तिमार्गीय को भगवान देते हैं। न कि सर्वदा साक्षात् स्वसंबंधरूप शुद्धपुष्टिमार्गीयफल; साधनबुद्धि द्वारा की गई नवविध भक्ति से प्रेमोत्पादन द्वारा भक्तिमार्ग प्रवेश में पर्यवसित होने से। टीकाकार कह रहे हैं, कि भगवत्-सेवा साधनबुद्धि से नहीं करनी चाहिए अर्थात् मैं सेवा कर रहा हूँ'' या ''मैं अपनी योग्यता/सामर्थ्य के बल पर सेवा कर रहा हूँ'' इस प्रकार की जाती सेवा साधनबुद्धि से की जाती सेवा है, इसमें प्रभ्वनुग्रह के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः उपर्युक्त भ.गी. के वाक्यानुसार उस साधननिष्ठ-जीव को मुक्ति आदि मर्यादामार्गीयफल ही प्राप्त होता है, साक्षात् प्रभुस्वरूप से संबंध का पुष्टिमार्गीय फल नहीं। फलरूप बुद्धि से करने पर तो प्रेमासक्ति-व्यसन को उत्पादित कर स्वसेवा को ही स्वप्रवेशरुप उत्तम-फलादि भी देते है अतः फलबुद्धि से ही शुद्धपुष्टिमार्ग में सेवा करनी चाहिए। ''सार्ष्टि, सामीप्य (श्री.भा. ३/२९/१३)'', ''सेवा में अनुरक्त मनवालों को मोक्ष भी तुच्छ है (श्री.भा. ५/१४/४४)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा सेवा का सर्वोत्तमफल प्रसिद्ध ही है। यही बताने के लिए श्रीकृष्ण का 'फलात्मक' नाम कहा गया है। वास्तव में तो श्रीवल्लभाचार्यमार्गीय को आचार्यपक्षपात से 'प्रवेशरुपफल' साधनबुद्धि द्वारा करने पर भी नहीं होगा तथापि भगवान को इस विषय में संकोच होगा अतः 'फलात्मक' नाम कहने से फलत्वबुद्धि से ही सेवा करनी चाहिए, यह श्रीमदाचार्यचरणों द्वारा उपदिष्ट है, यह जानना चाहिए, यह दिशा स्पष्ट हुई। मठपति कहना चाह रहे हैं कि चूँकि यह मार्ग श्री वल्लभाचार्य का है एवं इस मार्ग में भगवान एवं जीव में वही मध्यस्थ हैं अतः जीव श्रीवल्लभ की कृपा के बिना साधनबुद्धि द्वारा भी यदि भजन करे, तब भी उसे फल प्राप्त नहीं होगा, यह अर्थ है। यहाँ शंका होती है कि भगवान एक बार ही, कही गई प्रेमादि अवस्था का आविर्भाव क्यों नहीं करते? अथवा क्यों क्रम से करते हैं? क्रम से आविर्भाव होने पर रस की अधिकता का अनुभव, अनुभव से सिद्ध होने से, रसाधिक्यानुभव के लिए ही ग्रहण करिए, अतः सभी निष्टकंटक है। उपर उठाई शंका को ध्यान से पढ़ें। शंका यह है कि जब भगवान ने जीवों में पुष्टिबीजभाव पहले ही स्थापित किया है एवं श्रीमदाचार्य का अनुग्रह भी है, तब जीव को एक बार में ही प्रभु से प्रेम-आसक्ति-व्यसन आदि अवस्थाओं का बोध क्यों नहीं होता? अथवा वह क्रमवार क्यों होता है? टीकाकार स्पष्ट कर रहे हैं कि यदि इन अवस्थाओं का अनुभव क्रमवार होगा तो

ही भगवद्प्रेमरूपीरस का अनुभव भलीभाँति होगा, क्योंकि अनुभव भी इसी प्रकार का है। अतः उस भगवद्रस की अधिकता प्राप्त करने के लिए इस क्रमवार योजना को हमें ग्रहण करना चाहिए, यह अर्थ है। प्रकृत विषय का अनुसरण करें।

ननु 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' । ''तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते । तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम् । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च' 'याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभय' इत्यादिश्रीगीताश्रीभागवतीयभगवद्वाक्येभ्यो लौकिकवैदिकत्यागपूर्वक-केवलदासभावेन चेद्भजेत्तदा कथं भजेदित्याकाङ्क्षायां सार्धश्लोकेनाहुः व्यावृत्तोपीति ।

यहाँ शंका करते हैं कि ''सभी धर्मों का त्यागकर केवल एक मेरी शरण में आ, मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा (भ.गी. १८/६६)'', ''कर्म तभी तक करने चाहिए जब तक मेरी कथा-श्रवणादि में श्रद्धा उत्पन्न नही जाय (श्री.भा. ११/२०/९)'', ''अतः उद्धव ! विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति, सुनने योग्य-सुने गये, सभी का त्याग कर (श्री.भा. ११/१२/१४)'', ''सर्वात्मभाव से, मेरे द्वारा भयमुक्त (श्री.भा. ११/१२/१५)'' इत्यादि श्रीगीता, श्रीभागवतीय भगवद्-वाक्यों द्वारा लौकिकवैदिक त्यागपूर्वक केवल दासभाव से यदि भजें, तब कैसे भजें? इस आकांक्षा में **व्यावृत्तोपि** इस डेढ़ श्लोक द्वारा कह रहे हैं।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

पूर्वोक्तभगवद्वचनबलेन पुत्रकलत्राद्यौदासीन्यं बहिर्मुखजनितनिन्दां चाविगणय्य लौकिकवैदिकगृहस्थधर्मतो व्यावृत्तोपि निवृत्तोपि 'उदासीने स्वयं कुर्या'दिति सिद्धान्तात्स्वयमेव दासधर्मत्वाद्यथाशक्ति सेवां विधाय सदा हरौ सकलदुःखहर्तरि चित्तं न्यसेत् । तत्स्मरणं कुर्यात्, अथ च श्रवणादौ श्रवणकीर्तनयोरपि चित्तं न्यसेत् स्थापयेत् । न त्वेतेभ्योपि निवृत्तो भवेदिति भावः । अत्र चितपदं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । यद्वा हराविति विषये सप्तमी । हरिविषयकं चित्तं श्रवणादौ श्रवणकीर्तनस्मरणेषु न्यसेत् ।

पूर्व में कहे भगवद्-वचनों के बल से, पुत्रपत्नी आदि की उदासीनता एवं बहिर्मुखजनितनिंदा को न गिन कर, लौकिकवैदिकगृहस्थ धर्म से व्यावृत्त अर्थात् निवृत्त होने पर भी 'उदासीन होने पर स्वयं करनी चाहिए'' इस सिद्धांत से स्वयं ही दासधर्म से यथाशक्ति सेवा करके सदा सकलदुःखहर्तरि-हरि में चित्त लगाना चाहिए। उनका स्मरण करना चाहिए एवं श्रवणादि में अर्थात् श्रवणकीर्तन दोनों में भी चित्त स्थापित करना चाहिए। न कि इनसे भी निवृत्त हो जाना चाहिए यह भाव है। यहाँ 'चित्त' पद देहलीदीपन्याय से दोनों 'हरि' एवं 'श्रवणादि' तरफ संबंधित हो रहा है। अथवा, 'हरि' विषय में सप्तमीविभक्ति है। चित्त, हरिविषयक श्रवणादि अर्थात् श्रवणकीर्तनस्मरण में यत्नपूर्वक लगाना चाहिए।

यद्वा । हराविति निमित्ते सप्तमी । चर्मणि द्वीपिनं हन्तीत्यत्रेव । तथा च हरिनिमित्तं श्रवणादौ श्रवणकीर्तनेषु चित्तं न्यसेत् । अत्रेदं ज्ञेयम् । पूर्वश्लोके श्रवणादिभिरित्यत्राप्रधानतृतीयाव्याख्यानपक्षे तृतीयया श्रवणादीनां सेवासमयातिरिक्तसमये कर्तव्यत्वादप्राधान्यं यथा बोधितं तथा तस्मिन् श्लोके श्रवणादिनां सदापदेन सर्वदा कर्तव्यत्वस्य बोधितत्वेन पूर्वश्लोकानुवर्तमानायाः गृहे स्थित्वा सेवायाः किञ्चित्समय एव कर्तव्यत्वस्य आगतत्वात्, अथ च पुत्रकलत्रादीनां स्वधर्मत्यागजनितौदासीन्येनासहायत्वात्पूर्णसेवानिर्वाहाभावाच्च स ★ प्राधान्यं बोध्यत इति । अयं तु गौणपक्षः । लौकिकवैदिकगृहस्थव्यावृत्तिं विनानुत्तमसेवकत्वसंपालया(?) दिति बोध्यम् । अस्मिन्पक्षे पूर्णफलप्राप्तिस्तु गुणश्रवणादिसन्तुष्टान्तरङ्गभक्तकृपया ज्ञेया । अत्र यतेत । यतेत् इति पाठस्तु लेखकप्रमादमूलक एव । न चाध्याहारः चित्तपदोत्तरं विधायेति क्रियावान् क ... नध्याहारेणार्थकरणे चित्तपदस्य वैयर्थ्यापातात्र्चेति सुधीभिरेवाकलनीयम् । एतत्पाठस्य व्याख्यानं यथा श्रीमदस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातं तथैव व्याख्यानं मन्यतेपि बोध्यम् । अस्मिन् पक्षेऽनुदात्तत्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यं चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकादिति यतेदित्यत्र परस्मैपदं साधनीयम् ।

अथवा। 'हरौ' इस पद में निमित्त में सप्तमी विभक्ति है। ''**चर्मणि द्वीपिनं हन्ति**'' की भाँति। यहाँ टीकाकार यह स्पष्टीकरण दे रहे हैं कि मूलपंक्ति में जो 'हरि' शब्द आया है, उसमें सप्तमी विभक्ति का प्रयोग क्यों हुआ? इसके लिए वे 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' वाक्य के उदाहरण द्वारा समझाना चाहते हैं। इस वाक्य का अर्थ होता 'चर्म के लिए हाथी को मारता है''। ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि 'चर्म के लिए' वाक्य में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिए परंतु प्रयोग सप्तमी विभक्ति का हुआ है। व्याकरण के नियमानुसार जहाँ कोई वस्तु निमित्त बन जाय वहाँ उस शब्द में सप्तमी विभक्ति का ही प्रयोग होता है। जैसे यहाँ, इस उदाहरण में पता चलेगा कि हाथी को मारने का प्रयोजन या निमित्त 'चर्म' है अतः चर्म में चतुर्थी न लगकर सप्तमी लगी। इसी प्रकार यहाँ 'हरि' पद में भी समझें। चूँकि हरि के लिए या हरि को प्राप्त करने के लिए श्रवणादि करने चाहिए अतः निमित्त 'हरि' हुए अतः हरि में चतुर्थी विभक्ति न लग कर सप्तमी विभक्ति लगी, यह अर्थ है। एवं, इस प्रकार 'हरि' के निमित्त श्रवणादि में अर्थात् श्रवणकीर्तन में चित्त लगाना चाहिए यहाँ यह जानना चाहिए कि। पूर्व श्लोक में **श्रवणादिभिः** इस पद में अप्रधान तृतीया विभक्ति, व्याख्यानपक्ष में तृतीया विभक्ति से, श्रवणादि को

सेवासमय से अतिरिक्त समय में करने के कारण अप्रधानता जिस प्रकार बतायी है, उस प्रकार उस श्लोक में श्रवणादि को 'सदा' पद से सर्वदा करने का बोध होने से पूर्वश्लोक (बीज ..... श्रवणादिभिः) की अनुसारिणी गृह में रहकर सेवा के, ''कुछ समय ही करनी'' अर्थ आ जाने से एवं पुत्रपत्नी आदि के स्वधर्मत्यागजनित उदासीनता से असहाय होने से एवं पूर्णसेवानिर्वाह का अभाव होने से, *प्रधानता बोध कर रहे हैं। यहाँ समझना चाहिए कि ग्रंथ की तीसरी कारिका में कहा है कि* 'श्रवणादि सदा करने चाहिए किंतु 'सदा' करने का विधान ग्रंथ की दूसरी कारिका में कृष्णसेवा के लिए तो प्रयुक्त नहीं हुआ है अतः शंका उठ सकती है कि क्या, श्रवणादि सदा करने एवं सेवा कभी-कभार? टीकाकार कह रहे हैं, कि नहीं, ऐसा नहीं है। इसी कारण 'श्रवणादि' पद में अप्रधान-तृतीयाविभक्ति का प्रयोग हुआ है, प्रधान तो 'सेवा' ही है, यह अर्थ है। एवं यह भी अविवेकी गृहस्थों की उदासीनता से भी सर्वदा तो सेवानिर्वाह नहीं हो पायेगा इसलिए भी 'कृष्णसेवा' में 'सदा' पद नहीं जोड़ा गया समझना चाहिए। यह तो गौणपक्ष है। लौकिकवैदिक गृहस्थ की व्यावृत्ति बिना अनुत्तम सेवकत्व संपादन होने से, यह जानना चाहिए। इस पक्ष में पूर्णफलप्राप्ति तो गुणश्रवणादि से संतुष्ट अंतरंगभक्तकृपा द्वारा समझनी चाहिए। यहाँ 'यतेत' इस शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। **यतेत्** यह पाठ तो लेखक का प्रमादमूलक ही है। एवं, अध्याहार नहीं। 'चित्त' पद के पश्चात् श्रवणादि का विधान करके, किसी क्रियावान द्वारा 'न' अध्याहार से अर्थ करने पर 'चित्त' पद की व्यर्थ होने की आपत्ति होने से, यह सुज्ञों द्वारा आकलनीय है । यहाँ मठपति ने मूलपंक्ति 'व्यावृत्तोपि.... न्यसेत्सदा' में आए 'न्यसेत्' पद का विचार किया है। वे कहते हैं कि मूलशब्द तो 'यतेत' है किंतु किसी अन्य लेखक ने प्रमादवश इसे 'यतेत्' कर दिया है एवं 'न्' का अध्याहार कर लिया है। यहाँ समझना चाहिए कि 'यतेत्' का अर्थ होता है 'यत्न करना' एवं 'न्' के साथ अर्थ बनेगा ''विशेषरूप से यत्न करना''। कुल मिलाकर अर्थ ''चित्त को विशेषरूप से श्रवणादि में लगाने का यत्न करना चाहिए'' इस प्रकार हुआ। मठपति को इस वाक्य में विरोध है। वे कहते हैं कि यहाँ 'न्' उपसर्ग लगाने का कोई औचित्य ही नहीं है। यदि चित्त कहीं भी लगना है तो वह संपूर्णरूप से ही लगना है एवं यदि नहीं लगना है तो नहीं लगना है, इसमें विशेष क्या? और अविशेष क्या? टीकाकार चित्त का आंशिक रूप से लगना, चित्त का लगना ही नहीं मन रहे हैं, वे कहते हैं कि चित्त लगता है तो सर्वांश में, अन्यथा तो केवल थोड़ा सा लग कर फिर भटक जाता है। अतः यहाँ उस अर्थ में 'न्' उपसर्ग लगाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, यह अर्थ है। इस यतेत पाठ का व्याख्यान जिस प्रकार हमारे श्रीमद्गुरू द्वारा व्याख्यायित है, वही व्याख्यान हमारे मत में भी है, यह जानना चाहिए। इस पक्ष में, अनुदात्तेत्व-लक्षण से आत्मनेपद की अनित्यता, 'चक्षिङो' इस सूत्र से 'ङित्' करने का ज्ञापक होने से 'यतेत्' पद में 'परस्मैपद' साधनीय है।

नन्वेवं भक्तिवृद्धिसाधने क्रियमाणेपि भक्तिवृद्धिरेवैकपदेन स्यादथवा किञ्चिन्मध्येन्यदपि स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः ततः प्रेमेति । तत इति पञ्चमी । ततस्तस्माद्धेतुभूताद्भजनात् प्रेम । यस्य पूर्वावस्थाभावस्तस्य भावस्य तत्तत्फलस्याविर्भावः । तथा तेन सप्रेमभजनरूप-प्रकारेण तस्यैव भावस्यासक्तिरूपावस्थाविर्भावात् भवेत् । च पुनर्व्यसनम् । 'दैहिकान् सकलान् भावान् निजां व्रीडां च दैहिकीम् । परित्यज्य हरिप्राप्तिर्यदैव स्यात्तदैव तत्' इति श्रीभागवतत्त्वदीपीयभागवतरूपप्रकरणस्थदशमस्कन्धे सकलदैहिकं भावं दैहिकलज्जात्याग-पूर्वकं हरिप्राप्त्यै सर्वव्रतादिकमासक्त्यै क्रियते तदेव तद्व्यसनमित्युक्तत्वात्तादृशं व्यसनम् । अथ च तदनन्तरमपि प्रभुसम्बधाभावे प्रतिकायरूपं च व्यसनं यदा भवेदाविर्भवेत् । अत्र यदेति पदं व्यसनाविर्भावस्य कालनियमाभावं ज्ञापयति । तथा च यदा भगवदिच्छाया व्यसनमाविर्भवेत् तदा दृढं बीजमुच्यत इत्यग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः । व्यसनपदस्याप्रतिकार्यदुःखपरत्वेन च व्याख्यानं तु 'व्यसनं स्वमवोचते'ति दशमस्कन्धप्रथमाध्यायसुबोधिन्यां श्रीमदाचार्यैः कृतं तत्रैवावलोकनीयम् ।

यहाँ शंका होती है, कि इस प्रकार भक्तिवृद्धिसाधन करने पर भी केवल भक्तिवृद्धि ही होगी? अथवा कुछ मध्य में अन्य भी होगी? यह आकांक्षा होने पर **ततः प्रेम** इन शब्दों से कह रहे है। **ततः** इस पद में पंचमी विभक्ति है। 'ततः' अर्थात् उस हेतुभूत भजन करने से प्रेम होता है। जिसका जो पूर्वावस्था का भाव है, उस भाव के उन[3] फलों का आविर्भाव होता है। इस प्रकार इससे सप्रेमभजनरूप प्रकार से उस ही भाव का आसक्तिरुप अवस्था में आविर्भाव होने से भक्तिवृद्धि होती है। एवं, पुनः व्यसन होता है। ''सभी दैहिक निजभावों एवं दैहिकी-लज्जा का परित्याग कर जब हरिप्राप्ति होती है, तब ही वह व्यसन होता है', यह श्रीभागवततत्वदीपी-भागवतरुपप्रकरण-दशमस्कंध में सभी दैहिक भाव, दैहिकलज्जा त्यागपूर्वक हरिप्राप्ति के लिए सभी व्रतादि, आसक्ति के लिए किये जाते हैं, वही 'व्यसन' कहा होने से 'व्यसन' वैसा होता है। एवं इसके पश्चात् भी प्रभुसंबंध के अभाव में प्रतिकायरूप व्यसन जब होता है। तब भगवान का आविर्भाव होता है। यहाँ 'यदा' यह पद व्यसन-आविर्भाव के कालनियम का अभाव बता रहा है। अर्थात् व्यसन होने की कोई सुनिश्चित अवधि नहीं है। व्यसन होने के जो उपर्युक्त साधन बताए गये हैं, वे जब हो जाएँ, तबही व्यसन होता है, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। एवं, इस प्रकार जब भगवद्-इच्छा से व्यसन आविर्भूत होता है तब बीज दृढ़ कहा जाता है, यह अग्रिम श्लोक से संबंध है। 'व्यसन' पद के अप्रतिकार एवं दुःखपरत्व होने से, व्याख्यान तो ''व्यसन स्वमवोचत'' इस वाक्य से दशमस्कंध के प्रथम

अध्याय की सुबोधिनी में श्रीमदाचार्य द्वारा किया गया है अतः वहीं देखना चाहिए।

ननु तदा किं भवेदित्याकाङ्क्षायामाहुः बीजमिति । तदा तद्भावावस्थाविशेषरूपं व्यसनं शास्त्रे भक्तिशास्त्रे दृढं बीजमित्युच्यते । यद्दृढं बीजमपि पुनः न नश्यति तिरोभावं न प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेन प्रेमासक्त्योर्भगवदनुकूले गृहे तदनुकूलत्वे तत्त्यागेन तत्परैस्तदीयैः सह स्थित्या च कदाचिदन्यव्यासङ्गे तत्क्षणे तिरोभावो भवेदपि बीजस्य । व्यसने जाते तु सर्वेषामेव त्यागात् व्यासङ्गान्तरोत्पत्तेः सम्भावनाभाव एवेति तस्य दृढबीजत्वं निरन्तरं निखिलावस्थाविर्भावेन फलप्रापकत्वमिति ज्ञेयम् ।

यहाँ शंका करते हैं कि तब क्या होता है? इस आकांक्षा में **बीजं** इस शब्द द्वारा कह रहे हैं। तब, वह भाव अवस्थाविशेषरूप 'व्यसन', शास्त्र में अर्थात् भक्तिशास्त्र में दृढ़ बीज कहा जाता है। जो बीज पुनः नष्ट नहीं होता अर्थात् तिरोभाव को प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ है। इससे, प्रेमासक्ति के, भगवद्-अनुकूल गृह में अनुकूल होने पर, उस गृह के त्याग से एवं तत्पर-तदीयों के संग रहकर कदाचित् अन्य व्यासंग होने पर बीज का उसी क्षण तिरोभाव भी हो जाता है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि यदि गृह प्रेमासक्ति के अनुकूल है तब उस गृह का त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि तब तदीयों के साथ रह कर भी कदाचित् अन्य विषयों का व्यासंग होने पर उस बीज का नाश भी हो सकता है। कम से कम भक्ति के अनुकूल गृह में यह भय तो नहीं है, यह अर्थ है। व्यसन होने पर तो सभी के ही त्याग से, अन्य व्यासंग की उत्पत्ति की संभावना का ही अभाव है अतः उसका दृढ़बीजत्व, निरंतर सभी अवस्था के आविर्भाव से फल को प्राप्त कराने वाला होता है, यह जानना चाहिए।

ननु प्रेमासक्तिव्यसनानां परमावस्थाविशेषत्वेनान्तरधर्मत्वाद्बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात् परनिष्ठस्य मनसा ज्ञातुमशक्यत्वात् केन लिङ्गेनेदं प्रेमेयमासक्तिरिदं व्यसनमिति ज्ञायतामित्याशंक्य तत्तत्कार्यमेव तत्तल्लिङ्गमिति सार्धश्लोकेनाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यादि ।

यहाँ शंका करते हैं, कि प्रेमासक्तिव्यसन के परमावस्था विशेष होने से, आंतरिकधर्म होने से एवं बाह्येन्द्रिय द्वारा अप्रत्यक्ष होने से परनिष्ठ के मन द्वारा जानना अशक्य होने से किस चिन्ह द्वारा 'यह प्रेम है' 'यह आसक्ति है'', ''यह व्यसन है'' यह जाना जाय? ऐसी आशंका कर, उन[२] के कार्य ही उन[२] के चिन्ह है यह **स्नेहाद्रागविनाशःस्यात्** इत्यादि डेढ़ श्लोक से कह रहे हैं।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमानात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

स्नेहाद्धेतोः आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरिति गृहारुचेरग्रे वक्ष्यमाणत्वात् सेवोपयोगिस्वगृहस्वपुत्रतादृशान्यव्यतिरिक्तेषु रागस्य, 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु । गान्धारादौ नृपे राग' इति विश्वात् प्रेम्णो भगवद्विषयकविशेषेश नाशः तिरोभावः स्यात् । स्वस्त्रीस्वपुत्रतदन्येषु सेवोपयोगिषु तु तिष्ठत्येव । अत्र नाशे विशेषकथनात्प्रेमाविर्भावात्पूर्वं कृतभजने इतरत्र कदाचिद्रागो भवति । प्रेमाविर्भावोत्तरं तु न भवत्येवेति ज्ञेयम् । तथा च भगवत्सम्बध्यतिरिक्ते तु रागाभावः प्रेमलिङ्गमिति ज्ञेयम् । अथ गृहारुचिः । स्वगृहेपि स्वगृहस्थपुत्रादिपदार्थेषु सर्वेष्वप्यरुचिः तत्सम्बन्धानिच्छा स्यात् । तेषां भगवदनुकूलत्वात्सेवोपयोगित्वेपि प्रेमासक्त्यभावात्सेवासमयातिरिक्तसमये गृहव्याङ्गजनकत्वात् । यदि गृहव्यासङ्गं न जनयेयुस्तदा त्वरुचिर्न भवत्येवेति भावः । तथा च स्वगृहस्थानां गृहव्यासङ्गजनकत्व एव गृहारूचिरासक्तिलिङ्गम् । तेषां गृहव्यासङ्गजनकत्वे तु पूर्वदशाभ्यधिकसेवाश्रवणादिरुचिरेवासक्तिलिङ्गं ज्ञेयम् ।

स्नेह के हेतु से **आसक्त्या स्याद्गृहारुचिः** इस पद द्वारा गृह-अरूचि को आगे कहा होने से वैसे सेवोपयोगि स्वगृह, स्वपुत्र एवं भगवान से अन्य अतिरिक्तों में; ''राग अनुरक्ति, मात्सर्य, क्लेशादि, लाल-रंग, संगीत, राजा में प्रयुक्त होता है'', ''इस विश्वप्रेम से (?) भगवद्-विषयक प्रेम से, राग का विशेषरूप से नाश अर्थात् तिरोभाव होता है। सेवोपयोगि स्वस्त्री, स्वपुत्र एवं अन्यों में तो राग रहता ही है। यहाँ 'नाश' विशेष कहा होने से, प्रेम के आविर्भाव होने से पूर्व किए भजन में यहाँ वहाँ कदाचित ही राग होता है। प्रेमाविर्भाव के पश्चात् तो नहीं ही होता है, यह जानना चाहिए। एवं इस प्रकार भगवत्-संबंधी के अतिरिक्त में तो राग का अभाव 'प्रेम' का चिन्ह जानना चाहिए। अब, **गृहारुचि** की व्याख्या करते हैं। स्वगृह में भी, स्वगृह में रह रहे पुत्रादि पदार्थ सभी में भी अरूचि अर्थात् उनसे संबंध की अनिच्छा होती है। उनके, भगवद्-अनुकूल होने से सेवोपयोगि होने पर भी उनमें भगवान के प्रति प्रेमासक्ति का अभाव होने से, सेवा के अतिरिक्त समय में गृहव्यासंगजनक होने से उनमें अरुचि होती है। यदि गृहव्यासंग न उत्पन्न करें, तब तो अरूचि होती ही नहीं है, यह जानना चाहिए। एवं, इस प्रकार स्वगृहस्थों का गृहव्यासंगजनकत्व ही गृह-अरूचि एवं 'आसक्ति' का चिन्ह है। उनके गृहव्यासंगजनक होने पर तो पूर्वदशा से अधिक सेवाश्रवणादि में रूचि ही 'आसक्ति' का चिन्ह जानना चाहिए। यहाँ 'पूर्वदशा' शब्द में तात्पर्य है 'प्रेम की दशा'। उस प्रेम की दशा से अधिक होती हुई जो अवस्था है, वह 'आसक्ति' है, यह कह रहे हैं।

अथ व्यासङ्गलिङ्गमाहुः गृहस्थानामिति । अत्र प्रेमासक्तेः सेवानुकूलाः स्वगृहस्थाः पुत्रभार्यादयो यदि लौकिकव्यासङ्गं न

जनयेयुस्तदा प्राप्तासक्तिना स्वगृहस्य भगवति निवेदितत्वेन हरिस्थानत्वात्स्वगृहस्थानां सर्वदा भगवत्सेवाकथानिष्ठत्वेन तत्परं भगवदीयत्वात् लौकिकव्यासङ्गाजनकत्वेन स्वप्रतिबन्धकत्वाभावाच्च स्वगृहस्थितौ बाधकत्वाभावात्स्वगृहमध्य एवास्मत्प्रभुवृढबीजसिद्धचर्थं स्थेयम् । यदि तु तादृशस्वगृहस्था लौकिकव्यासङ्गं जनयेयुस्तदा तेषां बाधकत्वात्स्वगृहं त्यक्त्वा तत्परभगवदीयैः सह दृढबीजसिद्धचर्थं सेवाकथाश्रवणादिविषयकयत्नं कुर्वतान्यहरिस्थाने स्थेयमिति पक्षद्वयम् । तत्र यस्मिन् पक्षे त्वासक्त्युत्पत्यनन्तरं बाधकाभावत्स्वगृहस्थितस्यैव व्यसनं जातं, तस्मिन्पक्षे स्वगृहस्थानां तत्परभगवदीयत्वातैर्गुणगाने क्रियमाणे तच्छ्रवणेन प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापक्लेशाभावाद्भगवत्प्रादुर्भावात्तापक्लेशजनितपूर्वभगवत्प्राकट्यास्यापि गतत्वाच्चान्तःप्रकटभगवत्सम्बन्धानन्दविघातकत्वादेते मम भगवत्सम्बन्धानन्दविशेषविघातका इति स्वगृहस्थेषु तादृशान्यगृहस्थेषु च बाधकत्वभानं भवति ।

अब व्यासंग का चिन्ह **गृहस्थानां** इस पद से कह रहे हैं। यहाँ प्रेमासक्ति के सेवानुकूल स्वगृहस्थ पत्नीपुत्रादि यदि लौकिकव्यासंग उत्पन्न न करें तब प्राप्त आसक्ति द्वारा, स्वगृह के भगवान में निवेदित होने से अर्थात् गृह के ही अब हरिस्थान हो जाने से, स्वगृहस्थों के सर्वदा भगवत्सेवाकथानिष्ठ होने से, तत्पर-भगवदीय होने से लौकिकव्यासंगजनक न होने से एवं स्वयं को प्रतिबंधक न होने से, स्वगृहस्थिति में बाधकत्व का अभाव होने से, स्वगृह के मध्य में ही, हमारे प्रभुचरणों की भाँति दृढ़बीजसिद्धि के लिए रहना चाहिए। यदि वैसे स्वगृहस्थ लौकिकव्यासंग उत्पन्न करें तब तो उनके बाधकत्व होने से स्वगृह को त्यागकर तत्पर अर्थात् भगवदीयों के साथ दृढ़बीज की सिद्धि के लिए सेवाकथा श्रवणादिविषयक यत्न करते हुए अन्य हरिस्थान में रहना चाहिए, यह दूसरा पक्ष है। वहाँ जिस पक्ष में तो आसक्ति की उत्पत्ति के पश्चात् बाधक का अभाव होने से स्वगृह में रह कर ही व्यसन होता है, उस पक्ष में स्वगृहों के तत्पर अर्थात् भगवदीय होने से उनके द्वारा ही गुणगान करने पर उस श्रवण से प्राप्त व्यसन की तापक्लेश के अभाव से स्वस्थता होने पर नामरूपी भगवद्-प्रादुर्भाव से एवं तापक्लेशजनित पूर्व भगवद्-प्राकट्य के भी चले जाने से अन्तः प्रकटित भगवत्-संबंधी आनंद के विघातक होने से ''यह मेरे भगवत्-संबंधी आनंद के विशेष विघातक हैं'' यह विचार कर स्वगृहस्थों एवं वैसे अन्य गृहस्थों में बाधकता का भान होता है। यहाँ टीकाकार विप्रयोगानंदकी बात कहना चाह रहे हैं। वे कह रहे हैं, कि यदि गृहस्थ तदीय हैं, भगवदीय हैं तब तो वे उस तादृश भक्ति के संग भगवद्-गुणगान करेंगे ही एवं यह प्रशंसनीय है ही तथापि इससे भक्त को हरिरायजी के 'वियोगस्तु महाफलं' अनुसार विप्रयोगरूप महाफल नहीं मिल पायेगा क्योंकि नामगुणानुवाद से भी तो नामरूप द्वारा प्रभु प्रकट होते ही हैं अतः भक्त की चरमसीमा पर पहुची व्यसनदशा ठंढी पड़ जायेगी। अतः उसे तापक्लेश द्वारा जो उत्पन्न जो भगवद्-आनंद था वह भी लुप्त हो गया। तदनुसार उसे वे तदीय गृहस्थ तापक्लेशानंद के विघातक लगने लगते हैं, यह अर्थ है।

द्वितीयपक्षे त्वासक्त्युत्पत्यनन्तरं स्वगृहस्थास्तु त्यक्ता एव लौकिकव्यासङ्गजनकत्वात्, स्थितं च हरिस्थाने तत्परभगवदीयैः सह, तेषामपि भगवद्गुणगानपरत्वात्, पूर्वोक्तप्रकारेण प्राप्तव्यसनस्य तेष्वपि बाधकत्वभानं भवति, अतो गृहस्थानामिति पदं सर्वगृहस्थपरम् । न तु स्वगृहस्थमात्रपरमिति बोध्यम् । तथा च गृहे तिष्ठन्ति ते गृहस्थास्तेषां बाधकत्वं तत्सम्बन्धिविरहानुभवान्तर्गतभगवदनुभवबाधकत्वं पूर्वोक्तप्रकारेण प्राप्तव्यसनस्य भासते स्फुरतीत्यर्थः ।

द्वितीय पक्ष में तो आसक्ति की उत्पत्ति के पश्चात् तो गृहस्थ लौकिकव्यासंगजनक होने से तो त्याग ही दिए हैं एवं हरिस्थान में तत्पर अर्थात् भगवदीयों के संग रहना चाहिए, उनके भी भगवद्-गुणगानपर होने से, पूर्वोक्त प्रकारसे व्यसन के प्राप्त होने पर उनमें भी बाधकत्व का भान होता है अतः **गृहस्थानां** यह पद सभी गृहस्थों का बोधक है न कि मात्र स्वगृहस्थ का, यह जानना चाहिए। यहाँ यह शंका उठ सकती है कि गृहत्याग करने के पश्चात् तदीय भी, जो कि भगवद्-गुणगानपर हैं, बाधक क्यों लगने लगते हैं? इस शंका का निराकरण उपर्युक्त संयुक्ता में दिया जा चुका है कि वे तदीय भले ही भगवद्-गुणगानपर हों तथापि वे तापक्लेशजनित विरहावस्था के आनंद में तो सहकारी नहीं हो सकते अतः वे भी बाधक लगने लगते हैं, यह अर्थ है। यहाँ गूढार्थ यह निकलता है कि 'गृहस्थानां' इस पद से न केवल स्वयं के गृहस्थ बाधक लगते हैं अपितु सभी गृहस्थाश्रमी बाधक लगने लगते हैं। यहाँ यह स्फुट होता है कि टीकाकार ने व्यसन होने पर गृहत्याग अनिवार्य बता दिया है। एवं, इस प्रकार गृह में रहनेवाले वे गृहस्थ पूर्वोक्तप्रकार से प्राप्त व्यसनवाले को भगवद्-संबंधी विरहानुभवन के अंतर्गत भगवद्-अनुभव के बाधक भासित अर्थात् स्फुरित होते हैं, यह अर्थ है।

न च स्वगृहरूपहरिस्तानस्तान्यहरिस्थानस्थगृहस्थानां भगवदीयत्वेन भगवद्गुणगाने क्रियमाणे प्राप्तव्यसनस्य स्वास्थ्ये जाते तापक्लेशाभावाद्भगवदाविर्भावाभावे पूर्वसञ्जातभगवत्प्राकट्यतिरोभावे भवद्भिर्भगवद्गुणा न गेया इति प्राप्तव्यसनेनोक्ते यस्माद्भजनप्रतिबन्धक इति प्राप्तव्यसनसम्बन्धिबाधकत्वं भासते । स्फुरतीति चार्थः । इदमर्थद्वयमप्यत्राभिप्रेतं श्रीमदाचार्याणाम्, परस्य न बाधकज्ञानेन दृढतरपरित्यागाय गृहस्थपदं भगवदीयानां ब्रह्मचारिवानप्रस्थसंन्यासिनामप्युपलक्षकम् । एतत्कृतगुणगानश्रवणजस्वास्थ्यजनितभगवदाविर्भावाभावपूर्वकं प्रकटभगवत्तिरोभावाभ्यां पूर्वव्याख्याने ब्रह्मचर्यादिसम्बन्धिबाधकत्वभानं प्राप्तव्यसनस्य, द्वितीयव्याख्याने प्राप्तसम्बन्धिबाधकत्वभानं ब्रह्मचर्यादीनामपि जायत इति भगवदीयब्रह्मचर्यादयोपि सङ्गाह्या एवेति । अतएव श्रीमदाचार्यकृतव्यसनोत्तरप-

रित्यागे स्वपरगृहस्थाद्यारभ्य अन्नजलादिपर्यन्तमपि त्यागो दृष्टः । अत एव विरहानुभवार्थस्त्यागः परित्यागरूप इति संन्यासनिर्णये परित्यागशब्देनैवोक्तः । अत एव तादृशबाधकत्वज्ञानोत्तरमेव 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यासनिर्णयोक्तः परित्यागः स भविष्यति । यदि प्राप्तव्यसनस्य सर्वप्रकारकपूर्वोक्तभगवदीयगृहस्थादिषु भगवदीयगृहस्थादीनां प्राप्तव्यसने सर्वथा बाधकत्वभानं न भवेत्, तदा सर्वपरित्यागोपि दुःशकः कथं भवेदेवेति ज्ञेयम् ।

एवं स्वगृहरूपहरिस्थान एवं अन्य हरिस्थान में रहते भगवदीयों के भगवदीय होने से भगवद्-गुणगान करते होने से प्राप्तव्यसन स्वस्थ हो जाने पर तापक्लेश के अभाव से भगवद्-अविर्भाव का अभाव होने पर, पूर्व में उत्पन्न नामरूपी भगवत्प्रकट्य का तिरोभाव होने पर ''चूँकि भजनप्रतिबंधक हो, अतः आपको भगवद्-गुण नहीं गाने चाहिए'' यह व्यसनवान के कहने पर, व्यसनवान के संबंधियों को व्यसनवान बाधक भासित होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। एवं वे बाधक स्फुरित नहीं होते हैं, यह अर्थ है। देखें, उपर्युक्त संयुक्ता, जिसमें ''वियोगस्तु महाफलं' की बात कही है, अतः उसके अनुसार यदि व्यसनवान अपने संबंधियों को भगवद्-गुणगान करने से रोके तो उसे भगवद्-गुणगान का बाधक नहीं समझना चाहिए, यह कहना चाह रहे हैं। यह दो अर्थ ही यहाँ श्रीमदाचार्यचरणों का अभिप्रेत होता है दूसरे बाधक न जानने से दृढतर परित्याग के लिए 'गृहस्थ पद भगवदीयों का, ब्रह्मचारी - वानप्रस्थ - संन्यासियों का भी उपलक्षक हैं। अर्थात् 'गृहस्थ' पद से अन्य तीन आश्रमों को भी समाविष्ट कर लेना चाहिए, यह अर्थ है। गृहस्थद्वारा किए गुणगानश्रवणजनित स्वास्थ्यजनित भगवद्-आविर्भाव के अभावपूर्वक उत्पन्न हुए भगवत्-तिरोभाव द्वारा; पूर्वव्याख्यान में व्यसनवान को ब्रह्मचारी आदि संबंधियों में बाधकत्व का भान होता है एवं द्वितीय व्याख्यान में ब्रह्मचारीयों को भी प्राप्तसंबंधियों में बाधकत्व का भान होता है, इससे भगवदीय-ब्रह्मचारी भी संग्राह्य ही है। अर्थात् जिस प्रकार पूर्व में स्पष्ट किया कि गृहस्थों द्वारा भगवद्-गुणगान करने पर व्यसनदशा मंदी पड़ने से भगवद्-अविर्भाव का अभाव हो जाता हैं एवं उस तिरोभाव से पहले कहे व्याख्यान में तो व्यसनवान को ब्रह्मचारी गृहस्थ-वानप्रस्थी-संन्यासियों, सभी में बाधकत्व लगता है एवं दूसरे व्याख्यान में ऐसा ब्रह्मचारी जो भगवदीय है वह बाधक नहीं लगता अतः त्याज्य नहीं है, यह अर्थ है। अतएव श्रीमदाचार्य द्वारा व्यसन के पश्चात् किए गये परित्याग में स्वपर गृहस्थादि से आरंभ कर अन्नजलादि पर्यंत त्याग भी दिखाई देता है। अतएव विरहानुभवार्थ त्याग चहुँ ओर से त्यागरूप है, यह संन्यासनिर्णय में 'परित्याग' शब्द से ही कहा है। अतएव वैसे बाधक का ज्ञान होने के पश्चात् ही ''विरहानुभव के लिए परित्याग प्रशंसनीय है'' (सं.नि./७) यह संन्यासनिर्णय में कहा जो परित्याग है, वह होगा। यदि व्यसनवान को पूर्वोक्त सर्व-प्रकारक भगवदीय गृहस्थादि में सर्वथा बाधकत्व का भान नहीं होता एंवं भगवदीय-गृहस्थों को व्यसनवान में सर्वथा बाधक का भान नहीं होता है तब, सर्वपरित्याग भी दुःशक है अर्थात् कैसे होगा? यह जानना चाहिए।

ननु पूर्वोक्तगृहस्थेषु प्राप्तव्यसनस्य प्राप्तव्यसने च तेषां बाधकत्वज्ञानेपि प्राप्तव्यसनस्य भगवत्यासक्तौ जातायां भगवति यथात्मात्मीयत्वं भातं तथा भगवत्सम्बन्धेन भगवदीयेष्वपि पूर्वोक्तेषु पूर्वोक्तभगवदीयानां च प्राप्तव्यसने भासत एव । एवं च परस्परं दृढतरात्मत्वात्मीयत्वाध्यासस्य विद्यमानत्वात् महारोगाद्युपहतदेहादिषु यथा लौकिकालौकिकार्थबाधकत्वज्ञानेपि तैर्दृढतराध्यासात्तत्त्यागः कुर्तुं न शक्यते, तथा पूर्वोक्तसर्वभगवदीयत्यागोपि प्राप्तव्यसनेन प्राप्तव्यसनस्य च त्यागस्तैः कर्तुं न शक्यते इत्याशंक्याहुः अनात्मत्वं च भासत इति । आत्मशब्दस्य देहात्मनोर्वाचकत्वात् तेषु प्राप्तव्यसनस्य प्राप्तव्यसने च तेषामनात्मत्वमात्मीयभिन्नत्वं स्वहितकारित्वाभाव इति यावत् । तच्च भासते । यद्येते मद्धितकारिणो भवेयुस्तदा यथान्तःप्रकटीभूयात्मात्मीय इति भगवान् स्वदर्शनदानादिना हितं करोति, तथैतेपि कुर्युः, न तु भगवद्दर्शनादिनाशम् । अतो नैते ममात्मात्मीया इति प्राप्तव्यसनस्य पूर्वोक्तेषु यद्ययमस्मद्धितकारी स्यात्तदास्मद्भजनप्रतिबन्धं न कुर्यात्, अतो नायमस्मदात्मात्मीय इति प्राप्तव्यसनपूर्वोक्तगृहस्थादीनां च बाधकत्वभानात् सुखेन परित्यागः सेत्स्यतीति भावः । तथा च परस्परविषयकं बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च परित्यागे कारणं बोद्धव्यम् ।

यहाँ शंका होती है कि व्यसनवान को, पूर्व में कहे गृहस्थों को भगवान में व्यसनप्राप्त होने पर एवं उनके बाधक होने का ज्ञान होने पर भी जिस प्रकार भगवदासक्ति उत्पन्न होने पर भगवान में आत्मा-आत्मीयत्व का भान होता है, उसी प्रकार अब गृहस्थों का भी भगवद्संबंध होने से भगवदीयों में अर्थात् पूर्व में कहे भगवदीयों में व्यसनप्राप्त होने पर आत्मीयता भासित होती ही है। समझना चाहिए कि उपरी पंक्तियों में स्पष्ट किया गया कि व्यसनवान को भगवद्-गुणगानरत-गृहस्थ भी क्यों बाधक लगते हैं? अब, यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि जैसा व्यसन उसे हुआ है यदि वैसा ही उन गृहस्थों को भी हो जाय तब तो वे गृहस्थ अब बाधक न लगेंगे क्योंकि दोनों ही समधर्मक हो गये हैं। टीकाकार ने यहाँ एक शंका उठाई है कि यदि ऐसा होता है, तो जिस प्रकार व्यसनवान को पहले केवल प्रभु में आत्मीयता थी अब, उन गृहस्थों में भी हो जायेगी। क्योंकि पहले उनमें बाधकत्व का भान होने का कारण ही उनका बहिर्मुख होना था अब उनके व्यसनदशा को प्राप्त कर लेने से तो आत्मीयता हो जायेगी अतः निष्कर्ष यह हुआ कि ''जहाँ से चले वहीं लौट कर आ गये''। यह अर्थ है। और, इस प्रकार परस्पर दृढतर आत्मा-आत्मीयत्व अध्यास के विद्यमान होने से, महारोग से क्षीण देहादि में जैसे

लौकिक-अलौकिक के लिए बाधकत्व का ज्ञान होने पर भी उनसे दृढ़तर अध्यास होने से उनका त्याग करना शक्य नहीं होता, उसी प्रकार व्यसनवान को पूर्व में कहे सभी भगवदीयों का त्याग उन्हें व्यसन प्राप्त हो जाने से, करना शक्य नहीं होता है, इस शंका से **अनात्मत्वं च भासते** इन शब्दों से कह रहे हैं। उपरी संयुक्ता को ध्यान से पढ़ने पर ज्ञात होगा कि अब ऐसी परिस्थितियों में गृहस्थ-व्यसनवान में परस्पर आत्मीयता हो जाती है। टीकाकार कह रहे हैं कि जिस प्रकार लौकिक में भी गृह का कोई संबंधी किसी रोग से पीड़ित हो जाय तो उसकी तरफ चित्तवृति होती ही है, उसी प्रकार यहाँ भी व्यसनवान को गृहस्थ में अलौकिक-अध्यास हो जाता है। अतः अब उनका त्याग करना उससे संभव न होगा, यह शंका भी उठ सकती है, यह अर्थ है। 'आत्म' शब्द के देह और मन का वाचक होने से उन गृहस्थों में व्यसनवान को व्यसनप्राप्त होने पर एवं उन गृहस्थों के अनात्मत्व अर्थात् आत्मा-आत्मीयत्व से भिन्न स्वहितकारिता का जो अभाव है वह भासित होता है। मठपति कह रहे हैं कि मूलपंक्ति में आया 'आत्मा' शब्द देह एवं मन दोनों का वाचक है। वे कह रहे हैं, कि व्यसनवान भले ही देह से गृहस्थों में जुड़ा हो परंतु मन से तो उसे उनमें अनात्मत्व ही भासित होता है। भले ही अब उन्हें भी व्यसन हो गया हो तथापि येनकेन प्रकारेण भगवद्विरह जनित तापक्लेश से तो वे विमुख कर ही रहे हैं, यह अर्थ है। इसी बात को आगे भी स्पष्ट किए ही दे रहे हैं। यदि ये मेरे हितकारी होते, तब जिस प्रकार आत्मीय भगवान अन्तः प्रकटीभूत होकर भगवान स्वदर्शनदानादि से हित करते हैं उस प्रकार ये भी कराते; न कि भगवद्-दर्शनादि का नाश। अतः ये मेरे आत्मा के आत्मीय नहीं हैं, यह प्राप्तव्यसनवान को पूर्व में कहे गृहस्थों में; ''यदि ये मेरे हितकारी होते तब हमारे भजन में प्रतिबंध न करते', अतः यह हमारे आत्मा के आत्मीय नहीं हैं'', अतः प्राप्तव्यसनवान को पूर्वोक्त गृहस्थादियों के बाधकत्व के भान से सुखपूर्वक परित्याग हो जायेगा, यह भाव है। एवं, इस प्रकार परस्परविषयक बाधकत्वज्ञान एवं अनात्मीयता का ज्ञान परित्याग में कारण जानना चाहिए।

ननु तादृशं बाधकत्वमनात्मत्वं च कदा भासत इत्याकांक्षायामाहुः यदा स्याद्व्यसनं कृष्ण इति । यदा कदाचिद्भगवदिच्छया कृष्णे कृष्णनिमित्तं कृष्णविषये वा भागवततत्त्वदीपीयदशमस्कन्धोक्तव्यसनोत्तराप्रतिकार्यं दुःखं तदा पूर्वोक्तं भासत इति ज्ञेयम् । तदैवाप्रतिकार्यदुःखे जाते एव भक्तः कृतार्थः प्राप्तफलः स्यात् । हि युक्तोयमर्थः । अप्रतिकार्यदुःखे जाते परमस्नेही भगवान् साक्षात्त्वसम्बन्धे कथं विलम्बं कुर्यादिति जानीहि । अत्रैतावज्ज्ञेयम् । येषामलौकिकं शरीरं तेषां तु रासमण्डलमण्डनानामिव व्यसने जाते तेनैव देहेन फलप्राप्तिः । येषां त्वन्तर्गतानामिव लौकिकं शरीरं तेषां तु व्यसनेन देहपातः । तदनन्तरं अलौकिकदेहप्राप्त्या फलप्राप्तिरिति दिक् । तथा च गृहस्थविषयकं प्राप्तव्यसनस्य गृहस्थानां वा प्राप्तव्यसनविषयकमुभयोर्वोभयविषयकत्वं बाधकत्वज्ञानं अनात्मकत्वज्ञानं च व्यसनलिङ्गं ज्ञेयम् । एतैर्लिङ्गैः प्रेमासक्तिव्यसनानि ज्ञातव्यानीति भावः ।

यहाँ शंका करते हैं, कि वैसा बाधकत्व एवं अनात्मत्व कब भासित होता है? यह आकांक्षा होने पर **यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे** इन शब्दों से कह रहे हैं। जब कदाचित् भगवद्-इच्छा से कृष्ण में, कृष्णनिमित्त-कृष्णविषय या भागवततत्वदीपीय दशमस्कन्ध में कहे व्यसन के पश्चात् अप्रतिकारी दुःख होता है, तब पूर्व में कहा बाधकत्व एवं अनात्मत्व भासित होता है, यह जानना चाहिए। तब ही अर्थात् अप्रतिकारी दुःख होने पर ही भक्त 'कृतार्थ' अर्थात् फलप्राप्त करता है। युक्त अर्थ में 'हि' शब्द का प्रयोग है। अप्रतिकारी दुःख होने पर परमस्नेही भगवान स्वयं से साक्षात् संबंध होने पर क्यों विलंब करते हैं? यह जान लीजिए। यहाँ इतना जान लीजिए कि जिनका अलौकिक शरीर है, उनको तो रासमण्डलमंडनागोपिकाओं की भाँति व्यसन होने पर उस देह से ही फलप्राप्ति है। जिनके तो, अंतर्गता गृह के भीतर रहनेवाली गोपिकाओं की भाँति लौकिक शरीर हैं, उनको तो व्यसन द्वारा देहपात ही है। इसके पश्चात् अलौकिकदेह-प्राप्ति द्वारा फलप्राप्ति होती है, यह दिशा स्पष्ट हुई। एवं, इस प्रकार व्यसनवान को गृहस्थाविषयक अथवा गृहस्थों को व्यसनवानविषयक, इस प्रकार दोनों को 'बाधकत्व' एवं 'अनात्मत्व' यह दोनों ज्ञान 'व्यसन' का चिन्ह जानना चाहिए। अर्थात् व्यसनवान को होता गृहस्थों में बाधकत्व एवं गृहस्थों को व्यसनवान में होता बाधकत्व 'व्यसन' का चिन्ह है। इन चिन्हों से प्रमासक्तिव्यसन जान लेने चाहिए, यह भाव है।

अथ जातव्यसनस्य गृहस्थपदार्थविषयकबाधकत्वानात्मज्ञानयोरवश्यंभावित्वेन संन्यासनिर्णयोक्तः परित्यागः स्वयमेव भविष्यतीति नोपदेशो योग्यः, अप्राप्तव्यसनस्य प्राप्तासक्तेर्भक्तस्य तु गृहारुचेर्जातत्वेपि तेषां भगवत्सेवोपयोगित्वेन भगवत्सम्बन्धित्वात् त्यागो मत्सम्बन्धिन एतस्मै न रोचत इति भगवन्मनस्यागते ममापराधः स्यादिति भिया तत्त्यागं न कुर्यात्, तदा तेषां पोष्यत्वादात्मपोषणार्थं सेवासमयातिरिक्तसमये व्यासङ्गान्तरमुत्पाद्य एतैरिति तत्त्याग उपदिश्यते । न च तेषां भगवदीयत्वात् तत्त्यागे अपराधः प्रसज्येतेति वाच्यम् । एते लौकिके मां योजयन्तीति लौकिकधर्मपुरस्कारेण दोषारोपपूर्वकत्यागेपराधप्रसक्तेरभावात् । भगवदीया एते मया त्याज्या इति भगवत्सम्बन्धपुरस्कारेणैव तेषु दोषारोपेण त्यागापराधप्रसक्तेरिति त्वत्पूर्वपक्षाभावदिति मनसिकृत्य प्राप्तासक्तेर्गृहत्यागमुपदिशन्तः सुदृढसर्वतोधिकपरमभक्तिलाभं च सार्धश्लोकेनाहुः तादृशस्यापीति ।

अब हुए व्यसन को, गृहस्थपदार्थविषयक बाधकत्व एवं अनात्मत्व का अवश्यंभावि होने से संन्यासनिर्णय मे कहा परित्याग स्वयं

ही हो जायेगा अतः उसके लिए उपदेश करना योग्य नहीं है; अप्राप्तव्यसन एवं प्राप्तासक्ति वाले भक्त को तो गृह में अरूचि उत्पन्न होने पर भी उन गृहस्थों के भगवत्सेवोपयोगि होने से एवं भगवत्संबंधी होने से "मेरे संबंधी इसे रूचिकर नहीं लगते" यह भगवान के मन में आ जाता है। अतः 'मुझसे अपराध हुआ' इस भय से वह उनका त्याग नहीं करता, तब उन गृहस्थों के पोष्यत्व होने से एवं आत्मपोषण के लिए सेवासमय से अतिरिक्त समय में वे अन्य व्यासंग उत्पादित कर देंगे अतः उनका त्याग उपदिश्य कर रहे हैं। यहाँ टीकाकार त्याग की बात समझना चाह रहे हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में से यह अर्थ निकलता है कि उन गृहस्थों का भगवत्सेवोपयोगि होने के कारण त्याग नहीं कहा जा रहा है अपितु वे भक्त को भगवत्-सेवा से अतिरिक्त समय में अन्य विषयों में व्यासंग करा देंगे इसलिए उनका त्याग कहा जा रहा है। एवं भक्त के मन में यह भी विचारणीय हो जाता है कि यदि वह उन भगवदीय गृहस्थों का त्याग करता है तो वह भगवद्-द्वेषी सिद्ध हुआ एवं कहा भी है कि भगवान उनके भक्तों के द्वेषी को सहन नहीं करत अतः इस अपराधबोध से भी वह उनका त्याग नहीं करता किंतु सेवा के अतिरिक्त समय में वे चूँकि उन गृहस्थों का उत्तरदायित्व उस भक्त पर है एवं वे भक्त द्वारा पोषणीय भी हैं अतः भक्त का भगवान से चित्त हटना स्वाभाविक है अतः उनका त्याग उपदिश्य किया जा रहा है, यह समझना चाहिए। एवं उनके भगवदीय होने से उस त्याग में अपराध की आपत्ति आई, ऐसा नहीं कहना चाहिए। "ये मुझे लौकिक में जोड़ रहे हैं" इस प्रकार लौकिकधर्म अग्रणीय होने से दोषारोपपूर्वक त्याग में अपराध की आपत्ति न होने से। टीकाकार कह रहे हैं कि ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि भगवदीयों का त्याग कर दिया अपितु वे भगवदीय सेवा के अतिरिक्त समय में लौकिक विषयासक्ति में भी तो भक्त को जोड़ ही रहे हैं अतः उनमें दोष तो आरोपित है ही अतः उनका त्याग करने में अपराध की आपत्ति नहीं है, यह अर्थ है। "ये भगवदीय मेरे द्वारा त्याज्य हैं" यहाँ भगवद्-संबंध अग्रणीय होने से ही उनमें दोष आरोपित होने से त्याग में अपराध की आपत्ति है अन्यथा नहीं यह तुम्हारे पूर्वपक्ष का अभाव है, यह मन में विचार कर प्राप्त आसक्तिवान को गृहत्याग उपदिश्य करते हुए सुदृढ़सर्वतोधिक एवं परमभक्तिलाभ **तादृशस्यापि** इन डेढ़ श्लोक से कह रहे हैं। अर्थात् यदि भक्त भगवद्-संबंध को आगे करके उनका त्याग कर देता है तो दोषरूप हो जायेगा अर्थात् यह सिद्ध हो जायेगा कि वे गृहस्थ तो भगवदीय थे, फिर भी उनका त्याग कर दिया। किंतु यदि लौकिक संबंध को आगे करके त्याग करें तो, आपत्ति नहीं है, यह अर्थ है।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।

सततं सर्वदा तादृशस्यापि प्राप्तासक्तित्वात् गृहासक्तियुक्तस्यापि आभासोक्तभगवदपराधभिया गृहमत्यजतो गेहे स्थानमवस्थानं विनाशकं मध्ये मध्ये लौकिकव्यासङ्गजनकत्वेन भगवद्भजनविषयकयत्ननाशकम्, अतस्तादृशानां मध्ये गृहादिमात्रत्यागं कृत्वा यः भाग्यवांस्तदर्थार्थैकमानसः । स चासौ भगवानेवार्थो वस्तुरूपोर्थः प्रयोजनं यस्येदृशः सन् यतेत्, भगवत्प्राप्त्यर्थं यत्नं कुर्यात्, स सुदृढां भक्तिं लभते इत्युत्तरेणान्वयः । नन्वस्मिन्पद्येयं त्यागो व्यसनोत्तरसामयिकसंन्यासनिर्णयोक्तत्यागत्वेनैव कुतो नोच्यत इति चेत् । अत्र वदामः । अप्रतिकार्यदुःखरूपव्यसनोत्तरत्यागस्य स्वयमेव जायमानत्वेन उपदेशानर्थक्यम् । किञ्च, यत्र व्यसनोत्तरत्यागे व्यसने जाते तत्प्रतिकारो भगवदतिरिक्तेन न कर्तुं शक्यत इत्येवोच्यते । तदा 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्ण' इत्यव्यवहितपूर्वं व्यसनमुक्तमिति ईदृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकमित्यत्र प्रत्यक्षपदार्थवाचिइदमः प्रयोग एव कृतः स्यात्, न तु परोक्षपदार्थवाचितादृशस्यापीति तच्छब्दप्रयोग इति ।

सतत अर्थात् सर्वदा तादृशी को भी अर्थात् गृहासक्तियुक्त को भी प्राप्त आसक्ति से कहे हुए आभासित भगवद्-अपराध के भय से गृह को न त्यागते हुए, गृहस्थान विनाशक है क्योंकि बीच-बीच में लौकिकव्यासंगजनक होने से भगवद् भजनविषयक यत्न का नाशक है। अतः वैसों को बीच में गृहादि मात्र का त्याग करके जो भाग्यवान होता है, वह 'तदर्थार्थैकमानस' है। वह भगवान ही हैं 'अर्थ' अर्थात् 'वस्तुरूपअर्थ' अर्थात् 'प्रयोजन' जिसके; वैसा होकर जो प्रयत्न करता है अर्थात् भगवत्-प्राप्ति के लिए यत्न करता है, वह सुदृढ़भक्ति प्राप्त करता है, यह आगे के श्लोक से अन्वय है। यहाँ शंका करते हैं, कि इस पद्य में कहा यह त्याग व्यसनोत्तर सामयिक एवं संन्यासनिर्णय में कहे त्याग से ही क्यों नहीं कह रहे हैं ? अर्थात् शंका यह उठ रही है कि यदि यह त्याग व्यसन होने के बाद का है तों फिर संन्यासनिर्णय में कहा जो संन्यास है, उसी प्रकार से क्यों नहीं कहा जा रहा है, भिन्नतया क्यों कह रहे हैं ? यह अर्थ है। यहाँ कह रहे हैं। अप्रतिकार्यदुःखरूप व्यसन के पश्चात् त्याग के स्वयं ही उत्पन्न होने से उसका उपदेश निरर्थक है। एवं, जहाँ व्यसन के पश्चात् त्याग में व्यसन होने पर उस त्याग का प्रतिकार भगवान के अतिरिक्त कोई कर नहीं सकता अतः यही कह रहे हैं। तब "जब कृष्ण में व्यसन होता है" इस वाक्य से पूर्व में अव्यवहित अर्थात् न हुआ व्यसन कहा है, इससे ऐसे को भी सतत गृहस्थान विनाशक है, यहाँ प्रत्यक्षवाची 'इदम' शब्द का प्रयोग ही किया होता न कि परोक्षपदार्थवाची। **तादृशस्यापि** इस पद में 'तत्' शब्दप्रयोग।

अपरञ्च, 'व्यसनं यदा भवेत्' 'बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्नापि नश्यती'त्यनेन व्यसने जाते भावत्मकबीजस्य नाशाभाव एवोक्तः । अत्र तु 'तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशक'मित्यनेन नाश उच्यते । तस्मादपि नायं त्यागशब्दःसंन्यासनिर्णयोक्तत्यागपरः, किन्तु प्राप्तासक्तिमात्रस्यैव लौकिककार्यव्यासङ्गजनकत्वेन पुत्रकलत्रादित्यागपर एवेति सुष्ठु प्रतिभाति । अत एवाग्रे त्यागोत्तरं 'अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परै'रिति तत्परतदीयसङ्ग उपदिष्ट । यद्यप्येतेपि तदीयास्तथापि तेषां स्वेन पोष्यतासम्बन्धयुक्तत्वात् स्वपोषार्थं लौकिकव्यासङ्गजनकत्वाभाव इति तत्सहभावेन स्थितिरुपदिश्यत इति । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति विरहानुभवार्थत्यागे भगवदीयाभगवदीयसकलत्यागवाचकः परित्यागशब्दः प्रयुक्तः, अत्र तु लौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागोऽलौकिकव्यासङ्गजनकपदार्थत्यागश्चोक्त इति परित्यागत्वाभावादपि न संन्यासनिर्णयोक्तोयं त्याग उपदिष्ट इति भगवदीयैः सहृदयैः परिभावनीयमिती दिक् ।

और, ''व्यसन जब होता है'', ''वह बीज शास्त्र में दृढ़ कहा जाता है जो किसी से भी नष्ट नहीं होता'' इस वाक्य से व्यसन होने पर भावात्मक बीज का नाश-अभाव ही कहा है। यहाँ तो ''तादृशी को भी सतत गृहास्थिति विनाशक है'' इस वाक्य से नाश कह रहे हैं। उससे भी, यह 'त्याग' शब्द संन्यासनिर्णय में कहा त्यागपरक नहीं है; किंतु आसक्ति प्राप्त होनेवाले को ही लौकिककार्यव्यासंगजनक होने से पुत्रपत्नी आदि के त्यागपरक ही यह त्याग सुंदर लग रहा है। अतएव आगे त्याग के पश्चात् ''अतः तदीयों, तत्परों के साथ हरिस्थान में रहना चाहिए'' इस वाक्य से तत्पर, तदीय का संग उपदिष्य है। यद्यपि यह भगवदीयगृहस्थ भी तदीय हैं तथापि इनके स्वयं से पोष्यता-संबंध से युक्त होने से एवं हरिस्थान में रह रहे तदीयों में स्वयं के पोषण के लिए लौकिकव्यासंगजनकत्व का अभाव है, अतः उस सहभाव से रहना उपदिष्य कर रहे है। यहाँ समझना चाहिए कि भगवदीयगृहस्थ भी तदीय हैं एवं हरिस्थान में रहनेवाले भी तदीय हैं। तथापि गृहस्थों का त्याग बताया किंतु हरिस्थान में रह रहे का नही। कारण यह कि गृहस्थ तदीय अवश्य है। फिर भी उनसे रक्तसंबंध तो है ही, उनका पोषण तो आवश्यक है ही, अतः भक्त के लिए तो वे लौकिक व्यासंग उत्पन्न करनेवाले सिद्ध हुए। अतः उनका त्याग आवश्यक बताया। हरिस्थान में रह रहे तदीयों के साथ ऐसी कोई समस्या न होने से उनका संग बताया, यह अर्थ है। अतएव संन्यासनिर्णय में ''विरहानुभव के लिए तो परित्याग प्रशंसनीय है'' इस वाक्य में विरहानुभव के लिए तो परित्याग प्रशंसनीय है'' इस वाक्य में विरहानुभव के लिए त्याग में भगवदीय-अभगवदीय सभी का त्यागवाची 'परित्याग' शब्द प्रयुक्त है, यहाँ तो लौलिकव्यासंगजनकपदार्थ का त्याग एवं अलौकिक व्यासंगजनक पदार्थ का अत्याग कहा है, अतः चहुँ ओर से त्याग का अभाव होने से भी यह संन्यासनिर्णय में कहा त्याग उपदिष्य नहीं है, अतः भगवदीय अर्थात् सहृदयी को यह परिभावना करनी चाहिए, यह दिशा स्पष्ट हुई।

नन्वेवं प्राप्तासक्तिर्गृहत्यागं कृत्वा हरिस्थाने स्थितस्तदीयसहतया चेत् भगवद्विषयकं यत्नं कुर्यात् तदा को लाभः स्याद् इत्यकांक्षायामाहुः लभत इति । स भक्तः सुदृढां केनापि नाशयितुमशक्यां भक्तिं स्नेहरूपां व्यसनविशिष्टत्वेन सुदृढां बीजस्वरूपां लभते प्राप्नोतीत्यर्थः । नन्वेतादृशी भक्तिरन्यदेवविषयिण्यपि भवतीत्याशंक्य आहुः सर्वतोभ्यधिकाम् विभूतिरूपभक्तिभ्योप्यधिकां पुरूषोत्तमविषयत्वादिति भावः । अथ च सर्वविधभक्तिभ्यः परां चरमावधिभूतां पुरूषोत्तमसाक्षात्सङ्कारणभूतामिति यावत् । यद्वा । परांपरमकाष्ठापन्नाम् । ऐतेनान्ये संप्रदायत्रयभक्तिमार्गास्तदुक्तभक्तिप्रकारास्तदुपास्यस्वरूपाणि तदाचार्याश्च न परमकाष्ठापन्नाः । 'ते प्राप्नुवन्ति मामेवे'ति वाक्यात् । 'तद्वत्त्वांगतयोन्तत' इति वाक्याच्च शुद्धपुष्टिमार्गः, तदुक्ता भक्तिः, तदुपास्यस्वरूपं, तदाचार्याश्च परमकाष्ठापन्ना इति ज्ञेयम् । तथा चैतन्मार्गैतदुक्तभक्त्यैतन्मार्गोपास्यस्वरूप एतन्मार्गाचार्यप्राप्तौ सत्यां सर्वं प्राप्तं किमपि नावशिष्यते प्राप्तव्यमित्येतेषां सर्वेषां फलरूपत्वम् । यतो वेदविभागाष्टादशपुराणधर्मब्रह्मजिज्ञासामहाभारतादिकरणेनापि श्रीमन्नारायणावतारारूपाणां श्रीमतां व्यासचरणानां चित्तप्रसादेऽजाते नारदोपदेशेन प्रेमात्मकसमाधावाशुकृते चित्तप्रसादे जाते तत्रानुभूतपूर्णपुरूषोत्तमादिपदार्थग्रथितसमाधिभाषारूपश्रीभागवतकरणम्, अतो ज्ञायते श्रीभागवतोक्तं स्वरूपम्, तत्प्राप्तिका भक्तिः, तदाचार्याः, श्रीमद्व्रजभक्तादयः, तदनुगता विष्णुस्वाम्यादिश्रीमद्वल्लभाचार्यान्ताश्च, तत्प्रकटितो भक्तिमार्गश्चैतत्सर्वं परमकाष्ठापन्नत्वात्फलरूपमिति भावः ।

यहाँ शंका करते हैं कि आसक्तिप्राप्त होने के पश्चात् गृहत्याग करके तदीयों के संगपूर्वक हरिस्थान में रहते हुए यदि भगवद्विषयक यत्न करें तब क्या लाभ होगा? इस आकांक्षा में **लभते** इन शब्दों से कह रहे हैं। वह भक्त, सुदृढ़, किसी से भी नाश न हो सके ऐसी स्नेहरूपा भक्ति, व्यसनविशिष्ट, सुदृढ़बीजस्वरूपवाली भक्ति प्राप्त करता है, यह अर्थ है। यहां यह शंका होती है, कि ऐसी भक्ति क्या अन्य देवविषयिणी भी होती है? यह आकांक्षा होने पर **सर्वतोभ्यधिकां** इन शब्दों द्वारा कह रहे हैं; पुरुषोत्तमविषयक होने से, विभूतिरूपभक्ति से भी अधिक भक्ति प्राप्त करता है, यह भाव है। एवं सर्वविधभक्तिं से पर, चरमसीमाभूत, साक्षात् पुरुषोत्तम के संग की कारणभूता भक्ति प्राप्त करता है। अथवा। परा अर्थात् परमकाष्ठापन्न भक्ति प्राप्त करता है। इससे अन्य तीन भक्तिमार्ग के संप्रदाय, उनमें कहे भक्तिप्रकार, उनके उपास्यस्वरूप एवं उनके आचार्य परमकाष्ठापन्न नहीं है। एवं ''वे मुझे ही प्राप्त होते हैं (भ.गी. १२/४)'', ''उसी

प्रकार अंततः आपके (श्री.भा. १०/४०/१०)'' इस वाक्यों से शुद्धपुष्टिमार्ग, उसमें कही भक्ति, उसमें कहे उपास्यस्वरूप एवं उस मार्ग के आचार्य परमकाष्ठापन्न हैं, यह जानना चाहिए। एवं इस प्रकार, इस पुष्टिमार्ग में कही भक्ति से इस पुष्टिमार्ग के उपास्यस्वरूप, इस मार्ग के आचार्य प्राप्त होने पर, सभी प्राप्त है; कुछ भी प्राप्त करने को अवशिष्ट नहीं रह जाता, यह सभी का फलरूपत्व है। चूँकि, वेदविभाग-अष्टादशपुराण, धर्म-ब्रह्माजिज्ञासा-महाभारत आदि करने पर भी श्रीमन्नारायण के अवतारूप श्रीमान व्यासचरणों को चित्त में अप्रसन्नता होने पर नारद द्वारा उपदेश से प्रेमात्मक समाधि शीघ्र करने पर, चित्त में प्रसन्नता होने पर, वहाँ अनुभूत पूर्णपुरुषोत्तमादि पदार्थ से ग्रथित समाधिभाषारूप श्रीभागवत की रचना की, अतः जाना जाता है कि श्रीभागवत में कहा स्वरूप उससे प्राप्त भक्ति, वे आचार्य, श्रीमद् व्रजभक्तादि एवं उनके अनुगामी विष्णुस्वामी आदि से श्रीमद्वल्लभाचार्यपर्यंत एवं उनके द्वारा प्रकटित भक्तिमार्ग, ये सभी परमकाष्ठापन्न होने से फलरूप हैं; यह भाव है।

अथैतादृशत्यागकर्त्रा त्यागं कृत्वैकान्ते गन्तव्यमेवाथवा किञ्चिदन्यदपि कर्तव्यमित्याकांक्षाया गृहमात्रमेव त्यक्त्वा हरिस्थाने'तदीयैः सह स्थेय'मिति सार्धश्लोकेनोपदिशन्ति त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति ।

अब इस प्रकारक त्यागकर्ता को, त्याग करके एकांत ही में जाना चाहिए अथवा कुछ और भी करना चाहिए यह आकांक्षा होने पर, गृहमात्र ही त्याग कर हरिस्थान में तदीयों के संग रहना चाहिए यह **त्यागे बाधकभूयस्त्वं** इस डेढ़ श्लोक द्वारा उपदेश कर रहे हैं।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नत : ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

त्यागे बाधकानां भूयस्त्वं बाहुल्यं वर्तते । ननु कस्माद्धेतोर्दुर्बाधकबाहुल्यमित्याकांक्षायाहुः दुःसंसर्गात्तथान्नत इति । देहाद्यध्यासस्यानिवृत्तत्वाद्यत्र कुत्रापि स्थितौ सङ्गे प्राप्ते दुष्टसङ्गे बहिर्मुखसङ्गोपि भवति । तथा देहपोषार्थं दुष्टान्नभक्षणं च प्रसज्जते । तदा दुःसङ्गाद्दुष्टान्नतश्च बाह्याभ्यन्तरदोषोत्पत्तेर्भजनादिष्वालस्ये सम्पन्ने कृतोपि गृहत्यागो व्यर्थः स्यात् । तर्हि तेन किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः अतः स्थेयं हरेः स्थाने तदीयैः सह तत्परैरिति । अतः कारणाद्धरेः सर्वविधदोषहर्तुः स्थाने शुद्धपुष्टिस्थाने वृन्दावनादौ तत्परैः रात्रिंदिनं भगवत्सेवादिपरैः सह तदीयैः शुद्धपुष्टिमार्गीयदासधर्मवद्भिः सह स्थेयम् । तथा च तत्सङ्गेन दुःसङ्गाभावात्तत्समर्पितभगवत्प्रसादान्नभक्षणात्तद्दत्तस्वसमर्पितान्नभक्ष-णाच्च बाह्याभ्यन्तरदोषाभावाद्भजनसिद्धिर्निष्प्रत्यूहा भवति । प्राप्तासक्तेरिति भावः एतेनाप्ययं त्यागो न व्यसनोत्तरसामयिकः संन्यासनिर्णयोक्तस्त्यागः यतो व्यसनोत्तरत्यागे भगवदीयेष्वपि बाधकत्वज्ञानादनात्मत्वज्ञानाच्च सर्वत्यागादन्नादित्यागोपीति क दुःसंसर्गान्नादिजनितदोषप्राप्तिसंभावनापीति सुधीभिराकलनीयम् ।

त्याग में बाधकों की बहुलता है। यहाँ शंका करते हैं कि किस हेतु से दुर्बाधकों की बहुलता होती है? यह आकांक्षा होने पर **दुःससर्गात्तथान्नतः** इस शब्दों से कह रहे हैं। देहादि अध्यासों के निवृत्त न होने से कहीं भी रहने पर संग प्राप्त होने पर दुष्टसंग बहिर्मुखों का भी संग होता है। उस प्रकार, देहपोषण के लिए दुष्टान्नभक्षण की आपत्ति आती है। तब दुष्टसंग एवं दुष्टान्न से बाह्याभ्यंतर दोषों की उत्पत्ति होने पर भजनादि में आलस्य होने पर किया हुआ गृहत्याग भी व्यर्थ हो जाता है। तब इससे क्या कर्तव्य है? यह आकांक्षा होने पर **अतः स्थेयं हरे स्थाने तदीयैः सह तत्परैः** इन शब्दों से कह रहे हैं। अतः सर्वविधदोषहर्ता हरि के स्थान में वृंदावन आदि शुद्धपुष्टिस्थान में तत्परों, रातदिन भगवद्सेवादिपरों के संग, तदीय-शुद्धपुष्टिमार्गीयदासधर्मवालों के संग रहना चाहिए। एवं इस प्रकार उनके संग से, दुःसंग के अभाव से; उनके द्वारा समर्पित भगवद्-प्रसाद के अन्नभक्षण से, एवं उनके द्वारा स्वयं को दिए समर्पित अन्नभक्षण से बाह्याभ्यंतर दोषों के अभाव से भजनसिद्धि निष्कंटक होती है। आसक्ति प्राप्त होती है, यह भाव है। इससे भी, यह त्याग, संन्यासनिर्णय में कहा व्यसनपश्चात् समय का नहीं है। क्योंकि व्यसनपश्चात् त्याग में, भगवदीयों में भी, बाधकज्ञान एवं अनात्मत्वज्ञान से, सर्वत्याग से अन्नादि त्याग भी होता है अतः दुःसंर्सगादिजनित दोषप्राप्ति को संभावना ही कहाँ है? यह बुद्धिमानों द्वारा आंकलन करने योग्य है।

अत एव श्रीमदस्मदाचार्यचरणकृतव्यसनोत्तरत्यागेऽनशनकाशीगमनादिकमपि दृष्टम् । अन्यथा तैर्हरिस्थाने व्रजादाबेव गतं स्यात् । भगवदीयान्नादिकमपि गृहीतं स्यात् । तत्तु न कृतमिति संन्यासनिर्णयोक्तस्त्यागो न साधनदशात्यागो येन हरिस्थाने गमनं स्यात्, तदन्नभक्षणं च प्रसज्येत, किन्तु फलदशाजनितस्त्यागः फलजनित एव । अत एव संन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति विरहानुभवार्थपरित्यागस्य प्रशस्तत्वमेवानूदितम् । ननु 'विरहानुभवार्थं तु त्यागः कर्तव्य एव ही'ति तस्यावश्यकर्तव्यत्वमुक्तम् । जीवकृत्यसाध्यत्वात् । तस्मादस्मदुक्त एवासक्तिदशात्यागोयमिति ज्ञेयम् ।

अतएव हमारे श्रीमदाचार्यचरण द्वारा किए व्यसनपश्चात् त्याग में अनशन-काशीगमन आदि भी दिखाई देता है। अन्यथा उन्हें व्रजादि हरिस्थान में ही चले जाना चाहिए था। भगवदीयों का अन्न भी ग्रहण कर लेना चाहिए था। वह तो नहीं किया अतः संन्यासनिर्णय

में कहा त्याग साधनदशात्याग नहीं है जिसके द्वारा हरिस्थान में जाना होता है, एवं उन भगवदीयों के अन्नभक्षण की आपत्ति होती है। किंतु फलदशाजनित त्याग है अतः फलजनित ही है। अतएव संन्यासनिर्णय में 'विरहानुभव के लिए परित्याग प्रशस्त है (स.नि./७)" इससे विरहानुभव के लिए परित्याग को प्रशस्त ही कहा गया है। न कि "विरहानुभव के लिए त्याग ही कर्तव्य है" ऐसे उसकी आवश्यकता कही है। जीव द्वारा करना असाध्य होने से। अतः हमने कहा यह आसक्तिदशात्याग ही है, यह जानना चाहिए।

ननु हरिस्थानस्थतत्परदीयानामपि स्वासक्तिसमानासमानासक्तेः सत्त्वे तु दोषाभावः सिद्धत्येव, स्वसमानासक्तेरभावे तु तेषामपि सेवाव्यतिरिक्तसमये कदाचिल्लौकिकव्यासङ्गजनकत्वे का गतिरित्याशंक्याहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । यदि तेषां स्वसमानासमानासक्तिस्तदा तदन्नान्नमेकान्ते भक्षयित्वा तेषामदूरे निकटे स्थेयम् । अदूरमिति पाठे अदूरं यथा भवति तथा स्थेयम् । यदि पूर्वोक्तं न तदा तेभ्यः प्राप्तं भगवत्प्रसादान्नं तदन्तस्वसमर्पितान्नं च भक्षयित्वा विप्रकर्षे दूरे स्थेयम् । यथा येन प्रकारेण चित्तं न दूषयति तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

यहाँ शंका होती है कि हरिस्थानवासी तत्पर तदीयों को भी स्वयं के समान आसक्ति से असमान होने पर तो दोषों का अभाव ही सिद्ध होता है अतः स्वयं के समान आसक्ति के अभाव में तो उनकी भी सेवा से अतिरिक्त समय में कदाचित् लौकिक व्यासंग उत्पन्न होने पर क्या गति होगी? इस आशंका में **अदूरे विप्रकर्षे वा** इन शब्दों से कह रहे हैं। यदि उनकी आसक्ति, स्वयं की आसक्ति से असमान है, तब उनके द्वारा दिए अन्न को एकांत में खाकर उनसे 'अदूर' अर्थात् निकट रहना चाहिए। **अदूरं** इस पाठ में, जिस प्रकार अदूर अर्थात् निकट हो उस प्रकार रहना चाहिए। यदि पूर्वोक्त प्रकार न हो सकें तब उनसे प्राप्त भगवत्प्रसादान्न एवं उनके दिए स्वयं को समर्पित अन्न को खाकर 'विप्रकर्ष' अर्थात् दूर रहना चाहिए। जैसे, जिस प्रकार से चित्त दूषित नहीं होता, वैसे रहना चाहिए यह अर्थ है ॥ ८ ॥

नन्विदमत्यशक्यं, यतोस्मिन् कलिकाले हरिस्थानानामपि दुष्टाक्रान्तत्वात् प्रतिष्ठादिकामुकत्वेन तत्परभगवदीयानामपि दुर्लभत्वाच्च प्राप्तासक्तेः का गतिरित्याशंक्याहुः सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥

यस्य भक्तस्य पूर्वोक्तसेवायां कथायां कथाश्रवणकीर्तनयोर्वा आसक्तिर्दृढा बद्धमूला भवेत्, तस्य यावज्जीवं यावद्देहस्थिति व्यसनं यदा कदापि भवतु, परंतु दुःसङ्गदुष्टान्नभक्षणजनितो नाशो भगवत्सेवाकथाद्यासक्तिप्रच्युतत्वं क्वापि देशे क्वापि काले च क्वापि जन्मन्यपि च न भवतीति मे मम मतिर्बुद्धिरित्यर्थः । तथा च यदि भगवद्धर्मरूपसेवाकथासक्तस्यैव न नाशस्तदा साक्षाद्धर्मरूपभगवदासक्तस्य न नाश इत्यत्र किं वक्तव्यमिति कैमुतिकन्यायः सूचितः । यद्वा । नाशः दुःसङ्गदुष्टान्नजनितदोषसम्बन्धरूपः न क्वापि संभवतीत्यर्थः । तथा च दुष्टाक्रान्ते हरिस्थाने दुष्टाक्रान्तहरिस्थानातिरिक्ते स्थाने वा तिष्ठन् तत्परभगवदीयेभ्यस्तदितरजनेभ्यश्च भिक्षया जीवनमात्रसंपादकमन्नं संपाद्य स्वयं पाकं कृत्वा प्रभवे समर्प्य भक्षयन् न दोषभाक् भवतीति भावः ॥ ९ ॥

यहाँ यह शंका करते हैं कि, यह अति अशक्य है क्योंकि इस कलिकाल में हरिस्थानों के भी दुष्टाक्रान्त होने से, प्रतिष्ठादि की कामनावाले एवं तत्पर भगवदीयों का भी दुर्लभत्व होने से, प्राप्त-आसक्ति की क्या गति होगी? यह आशंका कर **सेवायां वा कथाया वा** इन शब्दों से कह रहे हैं।

जिस भक्त की पूर्वोक्त सेवा में, कथा में अथवा कथाश्रवणकीर्तन में आसक्ति दृढ़बद्धमूल होती है, उसे जीवनपर्यंत, देह रहने तक, व्यसन जब कभी भी हो परंतु दुःसंग-दुष्टान्न भक्षणजनित नाश अर्थात् भगवत्सेवाकथापि की आसक्ति का प्रच्युतत्व किसी भी देश में, किसी भी काल में एवं किसी भी जन्मों में भी नहीं होता, यह मेरी मति अर्थात् बुद्धि है, यह अर्थ है। एवं इस प्रकार यदि भगवद्धर्मरूप सेवाकथासक्त का ही नाश नहीं होता, तब साक्षात् धर्मरूप भगवद्आसक्त का नाश नहीं होता, इसमें क्या कहना? यहाँ कैमुतिकन्याय सूचित किया है। अथवा। दुःसंग-दुष्टान्नजनितदोषसंभवरूपनाश कभी भी संभव नहीं होता, यह अर्थ है। एवं इस प्रकार दुष्टों से आक्रांत हरिस्थान में या दुष्टों से आक्रांत हरिस्थान से अतिरिक्त स्थान में रहते हुए तत्पर-भगवदीयों से एवं उनसे इतर जनों से भिक्षा द्वारा मात्र जीवनसंपादक अन्न को संपादित कर, स्वयं सिद्ध कर, प्रभु को समर्प कर भक्षण करते हुए वह दोष का भागी नहीं होता, यह भाव है ॥ ९ ॥

ननु यदि हरिस्थानातिरिक्ते हरिस्थाने वा दुष्टाक्रान्ते दुष्टैर्भजनबाधः, अथ च तत्रान्नादरप्यलाभेन वा भजनबाधः प्रसज्येत, तदा किं कर्तव्यमित्याकांक्षायामाहुः बाधसंभावनायां त्विति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

यदि सेवायाः कथाश्रवणादीनां वा बाधः संभाव्येत ज्ञातेय, तदा एकान्ते गृहं त्यक्त्वा स्वीयाज्ञाते स्थले वासो नेष्यते, किन्तु गृहे एव वास इष्यते । ननु तदा गृहस्थानां पुत्रकलत्रादीनां लौकिकव्यासङ्गान्तरजनकत्वं सिद्धमेवेति दोषप्रसक्तिरिति किं कर्तव्यमित्याशंक्याहुः हरिस्तु सर्वत इति । तु पुनः हरिः सर्वदुःखहर्ता सर्वतः सर्वेभ्यो दोषेभ्यः स्वयं रक्षां करिष्यति । गृहस्थपुत्रकलत्रादिजनितलौकिक-व्यासङ्गान्तरदोषो न बाधिष्यत्येवेतिभावः । अत एव 'मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मता' इति श्रीभागवते भगवतोक्तम् । ननु को वेद, हरिः प्रभुः करोति चेत्, तस्य किं कर्तव्यमित्याशंक्याहुः न संशय इति । न सन्देह इत्यर्थः । यदि स्वीयरक्षां न कुर्यात्तदा हरित्वमेव गच्छेदिति भावः ॥ १० ॥

यहाँ शंका करते हैं कि हरिस्थान के अतिरिक्त या हरिस्थान में या दुष्टाक्रांत स्थल में दुष्टों द्वारा भजनबाधा है एवं वहाँ अन्नादि न प्राप्त होने से भजनबाधा की आपत्ति होती है, तब क्या करना चाहिए? यह आकांक्षा होने पर **बाधसंभावनायांतु** इन शब्दों से कह रहे हैं।

यदि सेवा की या कथाश्रवणादि की बाधा की संभावना का ज्ञान होता है तब गृहत्याग कर एकांत में स्वीयों से अज्ञात स्थल में वास इष्ट नहीं है किंतु गृह में ही वास इष्ट है। यहाँ शंका करते हैं कि तब गृहस्थों का, पुत्रपत्नी आदि का लौकिकव्यासंगजनक होना सिद्ध ही है अतः दोष की आपत्ति आती है अतः क्या करना चाहिए? यह आकांक्षा होने पर **हरिस्तु सर्वतो** इन शब्दों से कह रहे हैं। 'तु' शब्द पुनः, सर्वदुःखहर्ता हरि सभी ओर से, सभी दोषों से स्वयं रक्षा करेंगे यह द्योतित कर रहा है। अर्थात् गृह में रहनेवाले पुत्रपत्नी आदिजनित दूसरे लौकिकव्यासंगजनित-दोष बाधित नहीं करेंगे, यह भाव है। अतएव ''मेरी कथा में अनुरक्त को गृह बंधनकारी नहीं होता (श्री.भा. ४/३०/१९)'' यह श्रीभागवत में भगवान द्वारा कहा गया है। यदि यहाँ शंका करें कि कौन जानता है कि क्या प्रभु रक्षा करते हैं? **ऐसे शंकाशील जीव** को क्या करना चाहिए? यह आशंका होने पर **न संशय** इन शब्दों से कह रहे हैं। संदेह नहीं करना चाहिए यह अर्थ है। यदि स्वीयों को रक्षा नहीं करेंगे तो प्रभु का 'हरित्व' ही चला जायेगा, यह भाव है ॥ १० ॥

एवं भक्तिवृद्धिप्रकारमुपपाद्य ग्रन्थोपसंहारमेतत्पाठफलं चाहुः ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति ग्रन्थसमाप्तौ । एवं अनेन प्रकारेण च भगवच्छास्त्रं उत्तरपदलोपिसमासात् भगवत्प्रापकं शास्त्रं भगवत्प्रापकोपदेशग्रन्थः । गूढतत्त्वं गूढं गुप्तम्, इतरमार्गीयेभ्यस्तत्त्वसिद्धान्तो यस्य तादृशं निरूपितं कथितम् । मयेति शेषः । अत्रैतदुक्तप्रकारेण सेवायाः कथाश्रवणकीर्तनादीनां च कर्तुः प्रेमाद्याविर्भावो भवेदिति किमाश्चर्यम्, यत्रैतच्छास्त्राध्ययनकर्तुरपि प्रेमाद्याविर्भवेदित्याहुः य एतदिति, योधिकारी कोपि एतत् समधीयीत, सम्यक् श्रद्धापूर्वकमनुसन्धानपूर्वकं वाध्ययनं कुर्यात् तस्यापि दृढा केनापि तिरोधापयितुमशक्या रतिर्बीजरूपभावरूपा स्यादाविर्भवेत, किं पुनरेतदुक्तप्रकारकभजनकर्तुरिति दिक् ।

इस प्रकार भक्तिवृद्धिप्रकार उपपादित कर ग्रंथोपसंहार एवं इस पाठ का फल कह रहे हैं।

'इति' शब्द ग्रंथसमाप्ति के अर्थ में है। एवं इस प्रकार द्वारा भगवत्शास्त्र 'उत्तरपदलोपि' समास से भगवत्प्रापकशास्त्र अर्थात् भगवत्प्रापक उपदेश देनेवाला ग्रंथ है। यहाँ समझना चहिए कि संस्कृतव्याकरण में लोप होने वाले तीन समास माने गये हैं, एक 'पूर्वपदलोपी', दूसरा 'मध्यपदलोपी' एवं तीसरा उत्तरपदलोपी समास। जब किसी पद के तीन खंडो में से पहले पद का लोप हो जाय तब वह पूर्वपदलोपीसमास कहलाता है, इसी प्रकार दूसरे और तीसरे पद का लोप लोने पर 'मध्यमपदलोपी' एवं 'उत्तरपदलोपी' समास कहलाता है। यहाँ टीकाकार मूल में आए 'भगवत्शास्त्र' पद में उत्तरपदलोपि समास मान रहे हैं। एक उदा. से समझें। श्रीमद्-भागवत में भगवान, योगमाया से कह रहे हैं कि ''गच्छ देवि व्रजंभद्रे ! गोपगोभिरलंकृतम्'' अर्थात् हे देवि, व्रज में जाइये जो गोप एवं गायों से अलंकृत है। श्रीमहाप्रभु यहाँ सुबोधिनी में 'गोपगोभिरलंकृतम्' पद में मध्यमपदलोपिसमास मान रहे हैं। वे कहते हैं, कि यद्यपि इस पद में 'गोपीजन' शब्द नहीं है परंतु यहाँ 'गोपीजन' शब्द गोप एवं गायों के मध्य में विवक्षित है परंतु उसका मध्यपदलोपिसमास के नियमानुसार लोप हो गया है किंतु वास्तव में अर्थ, 'गोप-गोपी-गाय' यों निकलता है। ठीक इसी प्रकार यहाँ टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि यद्यपि मूल में, केवल 'भगवत्शास्त्र' शब्द है परंतु इसके बाद 'भगवद्-प्रापक' शब्द भी यहाँ विवक्षित ही है किंतु उत्तरपदलोपिसमास होने के कारण उसका लोप हो गया है। कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि यह शास्त्र, भगवान का तो है परंतु संग ही संग भगवान को प्राप्त करानेवाला भी है, यह अर्थ है। इतरमार्गीयों से गूढतत्व, गूढ, गुप्त तत्वसिद्धांत जिसका है, वैसा निरूपित किया कहा 'मेरे द्वारा' यह शेष रह जाता है अतः जोड़ लेना चाहिए। यहाँ, इस कहे प्रकार से सेवा, कथाश्रवणकीर्तनादि करनेवाले को प्रेमादि का आविर्भाव होता है, इसमें क्या आश्चर्य है जहाँ इस शास्त्र का अध्ययन करनेवाले को भी प्रेमादि का आविर्भाव होता है यह **य एतद्** इन शब्दों से कह रहे है; जो कोई भी अधिकारी इसे पढ़ता है अथवा भलीभाँति श्रद्धापूर्वक अनुसंधानपूर्वक अध्ययन करता है, उसकी

भी भक्ति दृढ़; किसी से भी तिरोहित हो सकने में अशक्य, रतिबीजभावरुपा होती है, फिर इसमें कहे प्रकारक भजन करनेवाले को क्या कहना? यह दिशा स्पष्ट हुई।

श्रीमद्वल्लभविट्ठलभगवच्चरणाब्जरेणुकणकृपया ।
कृतवान् जयगोपालष्टीकां श्रीभक्तिवर्धिन्याः ॥ १ ॥
मूर्ध्नयञ्जलिं ननु विधाय निधाय भूयो भूयः कृपालुषु महत्सु निवेदयामि ।
यत्किञ्चिदत्र मयका लिखितं भवद्भिस्तत्पुष्टिमार्गपथिकैः परिशोधनीयम् ॥ २ ॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानमानसश्रीमन्महाप्रभुश्रीविट्ठलेश्वरकृपा-
कटाक्षोद्बुद्धबुद्धिना श्रीमच्चिन्तामणिदीक्षितात्मजेन जयगोपालेन
विरचिता भक्तिवर्धिनी टीका ॥

श्रीमद्वल्लभ-विट्ठल-भगवत्चरणकमलरेणुकण की कृपा द्वारा
जयगोपाल ने श्रीभक्तिवर्धिनी की टीका की ॥ १ ॥
अंजलि बांधकर, मस्तक पर धर कर, महद्कृपालुओं को निवेदन करता हूँ
कि यहाँ जो कुछ मेरे द्वारा लिखा गया है वह आप, उस पुष्टिमार्ग के पथिकों द्वारा परिशोधनीय है ॥ २ ॥
यह श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणों में एकनिष्ठ मनवाले, श्रीमहाप्रभुश्रीविट्ठलेश्वरकृपाकटाक्ष से उद्बुद्ध-बुद्धि द्वारा
श्रीमन् चिन्तामणिदीक्षित के आत्मज 'जयगोपाल' द्वारा विरचित भक्तिवर्धिनीटीका समाप्त हुई।

श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ।

भक्तिवर्धिनी ।

दीक्षितलालूभट्टकृतविवृतिसमेता ।

नमामि श्रीमदाचार्यान् विट्ठलेशांश्च मत्प्रभून् ।
यत्कृपातो भवेत्प्राप्तिः श्रीगोवर्धनगिरीशितुः ॥१॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः पुष्टिभक्तानां नित्यलीलाप्रवेशास्व्यस्वमार्गीयफलप्राप्त्यर्थं तत्कारणभूतां बीजभावात्मिकां तापात्मकसूक्ष्मस्नेहरूपां भक्तिं वर्धयितुं तत्प्रकारनिरूपणं प्रतिजानते यथा भक्तिरित्यादिना ।

जिनकी कृपा से श्री गोवर्धनधर की प्राप्ति होती है, ऐसे मेरे प्रभु श्री आचार्यचरण एवं श्रीगुसाँईजी को मैं नमन करता हूँ ॥१॥

अब, श्रीवल्लभाचार्यचरण पुष्टिभक्तों के 'नित्यलीलाप्रवेश' नामवाले स्वमार्गीय फल की प्राप्ति के लिए, उस फलप्राप्ति की कारणभूत बीजभावात्मिका, तापात्मक, सूक्ष्मस्नेहरुपा भक्ति को बढ़ाने के लिए, उसके प्रकार निरुपण करने की प्रतिज्ञा **यथा भक्ति** इन शब्दों से कर रहे हैं ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥१॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिर्बीजभावरूपा प्रकर्षेण वृद्धा सर्वात्मभावावस्थापन्ना स्यात्तथोपायः त्यागात्यागविभेदेन श्रवणादिरूपः पूजादिरूपश्च निरूप्यते इत्यर्थः । इह भक्तेर्वृद्ध्युपायकथनप्रतिज्ञया भक्तिसत्ता सुचिता । अतो बीजरूपा पुष्टिभक्तिः पूर्वं पुष्टिजीवेषु सूक्ष्मरूपेण वर्तत एवेति बोध्यम् । अन्यथा यथा भक्तिरुत्पन्ना स्यादिति प्रतिज्ञायेत । उत्पन्नाया एव वृद्ध्यादिभावार्हत्वात् । अतः पूर्वं पुष्टिभक्तेः सूक्ष्मरूपेण सत्ता ज्ञापिता । सैव पुष्टिभक्तिर्बीजभावशब्देनोच्यते । इयमेतद्ग्रन्थोदितप्रकारेण वृद्धा सती सर्वात्मभावावस्थां प्राप्य नित्यलीलाप्रवेशरूपं फलं साधयिष्यतीति सिद्धान्तनिष्कर्षः । बीजभावे इति । बीजरूपे भावे सूक्ष्मभक्त्यात्मके वृढे सति स्यात्, भक्तिः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः । बीजभावदार्ढ्यं कथं स्यादित्याकांक्षायामाहुः त्यागात् श्रवणकीर्तनादिति । गृहादित्यागपूर्वकं भगवत्कथाश्रवणाद्बीजदार्ढ्यं भवतीत्यर्थः । गृहादेर्विषयासक्तिसम्पादकतया भजनप्रतिबन्धकत्वेन गृहादित्यागो भजने मुख्यमङ्गम् । 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत' इति प्रह्लादवाक्यात् । अत एव निबन्धे भगवदुक्तश्लोकयोरेवं दृश्यते 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य' मिति ।

जिस प्रकार से बीजभावरुपा-भक्ति प्रकृष्ट-रुप से बढ़ती हुई, सर्वात्मभावावस्था तक पहुँच जाय, वह उपाय त्याग एवं अत्याग के भेद से, जो श्रवणादिरुप एवं पूजादिरुप हैं, निरुपण कर रहे हैं, यह अर्थ है । यहाँ भक्तिवृद्धि के उपाय कहने की प्रतिज्ञा से भक्ति की सत्ता सूचित की गई है । इसलिए बीजरुपा-पुष्टिभक्ति पहले पुष्टिजीवों में सूक्ष्मरुप से होती ही है, यह समझना चाहिए । अन्यथा आचार्यचरण "जिस प्रकार भक्ति उत्पन्न हो" ऐसी प्रतिज्ञा करते । उत्पन्न-भक्ति के ही वृद्धि-आदि भाव योग्य होने के कारण । अतः पहले पुष्टिभक्ति की सूक्ष्म-रुप से सत्ता बताई गई है । वही पुष्टिभक्ति 'बीजभाव' शब्द से कही जा रही है । यही भक्ति, इस ग्रंथ में कहे गये प्रकार से वृद्ध होती हुई, सर्वात्मभावावस्था को प्राप्त कर नित्यलीलाप्रवेशरुप-फल को साध लेगी, यह सिद्धांतनिष्कर्ष है । **बीजभावे** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । बीजरुप भाव अर्थात् सूक्ष्मभक्त्यात्मक-भाव के दृढ़ होने पर भक्ति प्रवृद्ध होती है, यह अर्थ है । बीजभावदृढता कैसे होती है ? यह आकांक्षा होने पर **त्यागात् श्रवणकीर्तनात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । गृहादि के त्यागपूर्वक भगवद्-कथाश्रवण से बीजदृढ़ता होती है, यह अर्थ है । गृहादि में विषयासक्ति संपादित होने से एवं वह विषयासक्ति भजन में प्रतिबंधक होने से, गृहादि का त्याग भजन में मुख्य अंग है । "अपने आत्मपतन के मूलकारण, अंधे कुएँ के समान गृह को त्याग, वन में जाकर श्री हरि की शरण ग्रहण करें (श्री.भा. ७/५/५)" इन प्रहलाद वाक्यों द्वारा । अतएव निबंध में भगवदुक्त ''गृह सभी प्रकार से त्यागना चाहिए (स.नि./२५५)'' श्लोकों में यही दिखाई देता है ।

एवं मुख्यतया पूर्वं त्यागपक्षमुक्त्वा तादृशजितेन्द्रियत्वादिगुणरहितस्य त्यागे दोषाधिक्याद् बीजदार्ढ्ये प्रकारान्तरमाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः इत्यनेन ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

गृहे बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्वित्यन्वयः । गृहे बीजदार्ढ्यप्रकारमाहुः स्थित्वा स्वधर्मत इत्यादिना । गृहे इति सप्तम्यन्तं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । स्वधर्मत इति । वेदोक्तवर्णाश्रमधर्मत इत्यर्थः । तथा च विहितप्रकारेण गृहस्थाश्रमे स्थित्वा भक्तिमार्गप्रकारेण कृष्णं भजेत् । यद्यपि 'अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्व्रत' इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् गृहाश्रमस्य फलप्रतिबन्धकत्वम्, तथापि भगवद्भजनं कुर्वाणस्य न गृहस्थाश्रमः प्रतिबन्धकः । 'गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् । मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः' इति भगवद्वाक्यात् । अस्मिन्वाक्ये 'कुशलकर्मणा' मित्यनेन निषिद्धानां निवृत्तिः सूचिता । कुशलकर्मणामित्यस्य व्याख्यारूपं स्वधर्मत इति पदमाचार्यवर्यैरुक्तम् । अत एव भगवता द्वितीयोऽत्यागात्मापि पक्षः सफलो निरूपितः 'गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते । कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः ।' इति । अव्यावृत्त इति । 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह' मिति वाक्याद्भगवान् गृहस्थाश्रमनिर्वाहकं धनादिपदार्थं स्वत एव सम्पादयिष्यतीति विश्वासेन धनाद्यर्जनाभिनिवेशं त्यक्त्वा श्रीकृष्णं निरन्तरं भजेदित्यर्थः ।

इस प्रकार मुख्यतया पहले त्यागपक्ष को कहकर, वैसे जितेन्द्रियत्वादि गुणरहित वाले जीव को त्याग में दोषों की अधिकता होने से, बीज की दृढता का दूसरा प्रकार **बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

बीजदृढ़ता का प्रकार तो गृह में है, यह अन्वय है । **स्थित्वा स्वधर्मतः** इन शब्दों से गृह में बीजदृढ़ता का प्रकार कह रहे हैं । सप्तमी विभक्ति अर्थात् सप्तमी एकवचन 'गृह' शब्द देहलीदीपन्याय से दोनों स्थानों **'बीजदृढता'** एवं **'स्वधर्म'** पर यहाँ संबंधित है । स्वधर्मतः इस शब्द की व्याख्या करते हैं । वेद में कहे वर्णाश्रमधर्म से, यह अर्थ है । एवं इस प्रकार विहित प्रकार से गृहस्थाश्रम में रह कर भक्तिमार्गप्रकार से कृष्ण को भजना चाहिए । यद्यपि "दीर्घकालीन ब्रह्मचर्य से रहित गृहस्थ भूलोक, भुवर्लोक एवं स्वर्ग के भीतर ही निवास करते हैं (श्री. भा. २/६/१९)" इस द्वितीयस्कंध-वाक्य द्वारा गृहस्थाश्रम को फलप्रतिबंधक कहा है, श्रीमद् भागवत के दूसरे स्कंध में 'भूः', 'भुवः', 'स्वर्ग', 'महः', 'जन', 'तप' एवं 'सत्य' यों इस प्रकार सात प्रकार के लोकों की चर्चा की गई है । सबसे नीचे भूलोक एवं सभी के उपर सत्यलोक है । तदनुसार गृहस्थ तो निचले तीन अर्थात् 'भूः', 'भुव', एवं 'स्वर्ग' में निवास करते हैं, परंतु ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासी उपर के लोक अर्थात् जन, तप एवं सत्य लोकों में निवास करते हैं । अतः गृहस्थाश्रम में रहनेवाले, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं सन्यासी से उतरती कक्षा के सिद्ध हुए । यहाँ इस पंक्ति में उपर्युक्त उदाहरण देते हुए टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि चाहे गृहस्थाश्रम को फलप्रतिबंधक कहा है, तथापि आगे आने वाले इन भगवद् - वाक्यों द्वारा ग्रहस्थाश्रम फिर भी फल प्रतिबंधक नहीं है, यह अर्थ है । तथापि, जिन लोगों के कर्म भगवदर्पणबुद्धि से होते हैं और जिनका सारा समय मेरी कथावार्ताओं में ही बीतता है, वे गृहस्थाश्रम में रहें तो भी गृह उनके बंधन का कारण नहीं होते (श्री.भा. ४/३०/१९) इन भगवद्-वाक्यों से भगवद्-भजन करने वाले को गृहस्थाश्रम प्रतिबंधक नहीं है । इस वाक्य में 'कुशल कर्मणाम्' इस पद का व्याख्यारुप-पद आचार्य-चरणों ने 'स्वधर्मतः' इस पद से कहा है । अतः श्रीमदाचार्यचरण ने द्वितीय अत्यागात्मा का पक्ष भी ''सभी प्रकार से गृहत्याग करना यदि शक्य न हो, तो उसे कृष्ण के लिए प्रयुक्त करना चाहिए, कृष्ण संसार से मुक्ति दिलानेवाले हैं (पंच./१)'' इत्यादि वाक्यों से सफलतया निरुपित किया है । अव्यावृत्त इस शब्द की व्याख्या करते हैं । "उन निरंतर भक्तिनिष्ठ मनुष्यों के योगक्षेम का मैं वहन करता हूँ (भ. गी. ९/२२)" इन वाक्यों के द्वारा भगवान गृहस्थाश्रम के निर्वाहक धनादि-पदार्थ स्वतः ही संपादित करेंगे, इस विश्वास से धनादि के अर्जन में संलग्नता त्याग कर श्रीकृष्ण को निरंतर भजना चाहिए, यह अर्थ है । यहाँ **'योगक्षेम'** शब्द का अर्थ समझें । योग का अर्थ होता है **"अलभ्यस्य लाभः योगः"** अर्थात् न प्राप्त होनेवाली वस्तु प्राप्त हो जाना 'योग' है । 'प्राप्तवस्तुनो रक्षणं क्षेमः' अर्थात् प्राप्त हुई वस्तु का रक्षण करना 'क्षेम' है । यहाँ भगवद्-गीता के इस वाक्यानुसार टीकाकार कर रहे हैं, कि इन दोनों वस्तुओं का संपादन स्वयं भगवान करते हैं । यह अर्थ हैं ।

कथं भजेदित्याकांक्षायामाहुः पूजया श्रवणादिभिरिति । पूजयेति । मन्दिरमार्जनादिरूपया परिचर्ययेत्यर्थः । श्रवणादिभिरिति । श्रीमद्भागवतोक्तदशविधलीलायुक्तस्य भगवतः श्रवणादिभिरित्यर्थः । 'तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभय' मिति शुकवाक्यात् । 'दशविधलीलायुक्तस्य श्रवणादि कार्य' मिति सुबोधिन्यां निर्णीतत्वात् । दशविधलीलास्तु भागवते प्रतिपादिता इति भागवतं श्रवणादिविषयीकार्यमिति फलितम् । एवं सति सेवां विधाय तदनवसरे भागवतश्रवणादि कार्यमिति विभागोवगन्तव्यः । एवं वर्तमानस्य गृहेपि संसारावेशाभावात् बीजदार्ढ्यं भवति । ततो भक्तिर्वर्धिष्यते इति भावः ।

कैसे भजना ? इस आकांक्षा में पूजयाश्रवणादिभिः इन वाक्यों से कह रहे हैं । **पूजया** इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । मंदिरमार्जनादिरुपा-परिचर्या द्वारा, यह अर्थ है । **श्रवणादिभि** इस शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । श्रीमद्-भागवत में कहे दशविधलीलायुक्त भगवान के श्रवणादि द्वारा, यह अर्थ है । "अभय की इच्छा रखनेवाले को भगवान की लीलाओं का श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण करना चाहिए" (श्री.भा. २/१/५) इस शुकवाक्य से । "दशविधलीलायुक्त भगवान के श्रवणादि करने चाहिए" यह सुबोधिनी में निर्णीत होने से । दशविधलीला तो भागवत में प्रतिप्रादित हैं । अतः भागवत के श्रवणादि विषय करने चाहिए, यह फलित होता है । इस प्रकार होने पर सेवा करके उसके अनवसर में भागवतश्रवणादि करना चाहिए, यह विभाग समझ लेना चाहिए । इस प्रकार वर्तन करने वाले का, गृह में भी संसारावेश के अभाव से बीजदृढ़ता होती है । इसके पश्चात् अर्थात् बीजदृढ़ता के पश्चात् भक्ति बढ़ेगी, यह भाव है ।

ननु यस्य भक्तिः सूक्ष्मावस्थारूपस्य बीजभावस्य सर्वात्मभावान्तावस्था भवतीत्युक्तम्, कोसौ बीजभावः ? कदा कुत उत्पद्यते इति चेत् । श्रृणु । सृष्ट्यादौ 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ती'ति श्रुतेरक्षरब्रह्मणः सकाशादुत्पन्नानां चिदंशानां भगवदिच्छया तिरोहितानन्दत्वेन प्राप्तजीवभावानां भगवदिच्छयैवाविद्यासम्बन्धः । ततो देहाध्यासादिस्वरूपविस्मरणान्तानि पञ्चपर्वाणि सम्पद्यन्ते । ततस्तेषु जीवेषु सदसद्वासनाभेदेन दैवत्वमासुरत्वं विदधाति भगवान् । तत्र दैवजीवेषु यान् पुष्टिमार्गीयान् कर्तुमिच्छति, तेषु स्वविषयकां सूक्ष्मरूपां रतिं स्थापयति । सा बीजभावशब्दवाच्या । 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत' इति वाक्यात् कारणत्वेन बीजत्वात् । सा रतिः प्रेमासक्तिव्यसनसर्वात्मभावानां बीजरूपेति बीजभावशब्देन व्यवहियते । एवमत्यागपक्षे व्यावृत्तिराहित्येन भगवद्भजनं मुख्यः पक्षः ।। २ ।।

यहाँ शंका करते हैं, कि जिसकी भक्ति सूक्ष्म-अवस्थारुप बीजभाव की, सर्वात्मभाव की अंतिम अवस्था तक होती है, वह बीजभाव क्या है ? कब ? कैसे उत्पन्न होता है ? यदि ऐसी शंका हो, तो सुनिए । सृष्टि के आदि में 'जिस प्रकार अग्नि से क्षुद्र चिनगारियाँ निकलती हैं, इस श्रुति से अक्षरब्रम्ह से उत्पन्न चिदंशों के भगवद्-इच्छा से तिरोहित-आनंद के कारण, प्राप्त जीवभाव का भगवद् इच्छा से ही अविद्या-संबंध हुआ है । तत्-पश्चात् पञ्चपर्वा-देहाध्यास आदि स्वरुपविस्मरण उन जीवों में संपादित होते हैं । इसके पश्चात् उन जीवों में सद् एवं असद्-वासना-भेद से दैवत्व एवं आसुरत्व भगवान संपादित करते हैं । वहाँ दैवीजीवों में जिनको पुष्टिमार्गीय करने की इच्छा करते हैं, उनमें स्वविषयक अर्थात् भगवद्-विषयक सूक्ष्मरुपा रति प्रेम स्थापित करते हैं । वही रति 'बीजभाव' शब्द से कही जा रही है । "देवादि विषयिणी रति, 'भाव' है" इस वाक्य से कारणभूत बीजत्व होने से । वह रति, 'प्रेम' - 'आसक्ति' - 'व्यसन' एवं सर्वात्मभाव की बीजरुपा होने से 'बीजभाव' शब्द से कही जा रही है । इस प्रकार अत्याग-पक्ष में व्यावृत्तिरहित होकर भगवद्-भजन मुख्य-पक्ष है ।।२।।**

तदसम्भवे गौणं पक्षमाहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ।। ३ ।।
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

भगवत्सेवानवसरे व्यावृत्तिं कुर्वाणोपीत्यर्थः । श्रवणादाविति । 'श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्चे'त्यत्र उक्ता ये श्रवणादयस्तैर्भजेदित्यर्थः । व्यावृत्त्यवसरे पूजाया असंभवात् श्रवणादिमात्रमत्रोक्तम् । अव्यावृत्तस्य तूभयं संभवतीति पूजया श्रवणादिभिरित्यनेनोभयमुक्तम् । ततः प्रेमेत्यादि । एवं भगवन्तं भजतः प्रेमासक्तिव्यसनानि क्रमेण भवन्ति । सूक्ष्मभक्तिर्बीजभावरूपा पूजाश्रवणादिभिः प्रवृद्धा प्रेमासक्तिव्यसनावस्थां प्राप्नोतीत्यर्थः । बीजं तदुच्यत इति । व्यसनावस्थायां सिद्धायां बीजभावस्य दार्ढ्यं संपन्नमिति बोध्यम् । नापि नश्यतीति । न तिरोभवतीत्यर्थः । सत्प्रतियोगिनोऽभावस्य तिरोभावानतिरेकात् । अभावास्त्वस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ता न भवन्तीति सुबोधिन्यां निर्णीतत्वात् ।।

वह भगवद्-भजन असंभव होने पर गौण-पक्ष **व्यावृत्तोपि** इस शब्द से कह रहे हैं ।

भगवत्-सेवा के अनवसर में व्यावृत्ति करते हुए भी हरि में चित्त, श्रवणादि में चित्त लगाना चाहिए यह अर्थ है । श्रवणादौ इस शब्द की व्याख्या करते हैं । "श्रवण एवं कीर्तन करना चाहिए (श्री.भा. २/१/५)", यहाँ जो श्रवणादि कहे हैं, उनके द्वारा भजना चाहिए । व्यावृत्तिसमय में पूजा असंभव होने से मात्र श्रवणादि कहा है । अव्यावृत्त को तो दोनों अर्थात् सेवा एवं श्रवणादि संभव होता है । अतः **पूजया श्रवणादिभि** इस पद से दोनों कहा है । **ततः प्रेम** इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं । इस प्रकार भगवान को भजते हुए क्रम से प्रेम, आसक्ति, व्यसन होते हैं । **बीजभावरुपा** सूक्ष्म-भक्ति, पूजाश्रवणादि द्वारा बढ़कर प्रेमासक्तिव्यसनावस्था को प्राप्त करती है, यह अर्थ है । **बीजं तदुच्यते** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । व्यसनावस्था सिद्ध होने पर बीजभाव की दृढ़ता संपन्न हुई, यह समझना चाहिए । **नापि नश्यति** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । 'तिरोभाव नही होता', यह अर्थ है । प्रतियोगी के अभाव में तिरोधान अनावश्यक होने से टीकाकार उपर की पंक्ति में कह चुके हैं, कि 'नापि नश्यति' का अर्थ होता है तिरोभाव न होना । आगे वे कह रहे हैं, जब जीव को व्यसनदशा प्राप्त हो जाती है, तब उसका बीजभाव इतना दृढ़ हो जाता है, कि उसे नष्ट करने वाला कोई पदार्थ शेष रहता ही नहीं है । अर्थात् उस बीजभाव को नष्ट करनेवाला कोई पदार्थ उपस्थित ही नहीं रहता । अतः उस बीजभाव का तिरोधान न होना युक्त ही है, यह अर्थ है । अभाव तो हमारे मत में सुबोधिनी में निर्णीत होने के कारण, तिरोभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ।। ४ ।।
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ।। ५ ।।

प्रेमावस्थायाः कार्यलक्षणमाहुः स्नेहाद्रागविनाशः स्यादिति । आसक्तेः कार्यलक्षणमाहुः आसक्त्या स्याद्गृहारुचिरित । गृहपदं गृहस्थानामुपलक्षणम् । अरुचिरिति । नात्रारुचिशब्देन रुच्यभावः । तस्य स्नेहाद्रागविनाशः स्यादित्यनेन पूर्वं स्नेहकार्यत्वेनोक्तत्वात् ।

अतोत्रारुचिशब्देन रुचिविरुद्धो भावः । विरोधार्थे नञः स्मरणात् । 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिता' इति वाक्यात् । स च बाधकत्वस्फूर्तिरूप इति स्वयमेव व्याचक्षते गृहस्थानां बाधकत्वमिति । तथा च भगवदितरविषयकबाधकत्वस्फूर्तिसंपादको भाव आसक्तिरिति कार्यलक्षणमासक्तेः ।

प्रेमावस्था के कार्यलक्षण **स्नेहाद्रागविनाश स्यात्** इन शब्दों से कहते हैं । आसक्ति के कार्यलक्षण **आसक्त्या स्याद्रुहारुचि** इन शब्दों से कह रहे हैं । गृहपद, गृहस्थों का उपलक्षण है । **अरुचि** इस पद की व्याख्या कर रहे हैं । यहाँ अरुचि शब्द से रुचि का अभाव नहीं कह रहे हैं । यहाँ समझना चाहिए, कि टीकाकार के मतानुसार 'अरुचि' शब्द का अर्थ 'रुचि का अभाव' यो नहीं लेना चाहिए । इसका गूढ़ार्थ समझें । उदा. के लिए श्रीमद्-भागवत्-अजामिल-उपाख्यान के एक संदर्भ द्वारा इस पंक्ति को समझें । शुकदेवजी महाराज कहते हैं, कि अजामिल का सदाचार नष्ट हो गया था (श्री. भा. ६/१/२१) । इस वाक्य में छुपा हुआ अर्थ यह है, कि पहले सदाचार था, अब नष्ट हो गया है । ठीक इसी प्रकार यहाँ भी टीकाकार कह रहे हैं, कि अरुचि शब्द से यह अर्थ निकलता है, कि पूर्व में गृह में रुचि थी, किंतु भगवान में स्नेह हो जाने से वह निवृत्त हो गई, यह अर्थ है । उसका भगवान में स्नेह होने से विषयो में राग का विनाश होता है, इस वाक्य द्वारा पूर्व में स्नेहकार्य द्वारा कहा होने से । अतः यहाँ 'अरुचि' शब्द से 'रुचि' विरुद्ध भाव है । विरोध-अर्थ में 'नञ्' प्रत्यय होने के कारण । 'तत्सादृश्य', 'अभाव', 'अन्यत्व', 'अल्पता', 'अप्राशस्त्य' एवं 'विरोध' इस प्रकार 'नञ्' प्रत्यय के छह अर्थ कह गये हैं, इस वाक्य के द्वारा एवं वह रुचिविरुद्ध भाव बाधकत्व की स्फूर्तिरुप होने से स्वयं दिखाई देता है, यह **गृहस्थानां बाधकत्वं** इन शब्दों से कह रहे हैं । एवं, भगवान के अतिरिक्त विषयों में बाधकत्व की स्फूर्ति का संपादकभाव आसक्ति है, यह आसक्ति का कार्यलक्षण है ।

आसक्तेर्लक्षणान्तरमाहुः अनात्मत्वं च भासत इति । देहस्येति शेषः । तथा च देहात्मभावनिवर्तको भगवद्भाव आसक्तिरिति लक्षणान्तरमासक्तेः । यदा स्यात् व्यसनमित्यादि । व्यसनमिति । विशेषेण अस्यते क्षिप्यते दूरीक्रियते अन्यसम्बन्धो येन तत् व्यसनं भगवत्यात्मभाव इति यावत् । एवं भगवत्यात्मभावो निरुपाधिकस्नेहो व्यसनमिति फलितम् । अत एव 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति व्यसनभाववतीभिर्भगवत्यात्मत्वमभाणि । 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवती'ति श्रुतेरात्मसम्बन्धादेवान्यस्य प्रियत्वं लोके, एवं व्रजसुन्दरीणां भगवत्सम्बन्धादेव स्वदेहादौ प्रीतिविषयत्वम् । अत एव 'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वत' इत्युक्तं ताभिः । 'त्वदर्थं प्राणधारण' मित्याशयो विवृतः श्रीमदाचार्यवर्यैः । अतस्तादृशो निरुपधिभावो व्यसनशब्दार्थः । अत एतादृशे व्यसनात्मके भावे सिद्धे युक्तैव कृतार्थतेति बोधयितुं यदा स्यात् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हीति हिशब्द उक्तः । कृतार्थ इति । भगवन्तं साक्षात्करोतीत्यर्थः । भगवन्मूर्तिं परिचरतो जातव्यसनास्यभावस्य भगवत्साक्षात्कारो भवेत्, तदानेकप्रकारकं भगवदाज्ञादिजन्यं सुस्वविशेषमनुभवेद्, अतः कृतार्थता सिध्यतीति बोध्यम् ।

आसक्ति का दूसरा-लक्षण **अनात्मत्वं च भासते** इन शब्दों से कह रहे हैं । देह संबंधियों से भी अनात्मत्व भासित होता है यह शेष रह जाता है अतः उसे जोड़ लेना चाहिए । एवं देह में आत्मभाव का निवर्तक भगवद्-भाव, आसक्ति है, यह आसक्ति का दूसरा लक्षण है । यदा स्याद् व्यसनं इन शब्दों की व्याख्या करते हैं । व्यसनं इस शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । विशेष-रुप से फेंक दिया जाता है अर्थात् क्षिप्यते, दूर किया जाता है अन्यसंबंध जिसके द्वारा, वह व्यसन है, जहाँ तक भगवान में आत्मभाव हो । इस प्रकार भगवान में आत्मभाव, निरुपाधिक-स्नेह, व्यसन है, यह फलित होता है । अत एव "आप देहधारियों के प्रियतम, आत्मा हो" (श्री. भा. १०/२९/३२) इस श्लोक द्वारा व्यसनभाववाली गोपिकाओं ने भगवान में आत्मत्व होने के कारण कहा । "आत्मा की कामना के लिए ही सब प्रिय होते हैं (बृहदा. ५/६)'' इस श्रुति द्वारा आत्मसंबंध के कारण ही लोक में अन्य का प्रियत्व होता है, एवं व्रजसुंदरियों की भगवान के संबंध से ही स्वदेह आदि में प्रीतिविषय था । अतएव "तुम्हारे लिए प्राण धारण कर, तुम्हें ढूँढ रही हैं (श्री.भा. १०/३१/१)" यह उनके द्वारा कहा गया । "आपके लिए प्राण धारण किए सुबोधिनी" इस वाक्य द्वारा श्रीमदाचार्यचरणों ने इसी आशय से विवृति की है । अतः वैसा निरुपाधिक-भाव 'व्यसन' शब्द का अर्थ है । अतः ऐसा व्यसनात्मक-भाव सिद्ध होने पर कृतार्थता युक्त ही है, यह समझाने के लिए **यदा स्यात् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि** इस कारिका में 'हि' शब्द कहा है । **कृतार्थ** इस शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । "भगवान का साक्षात्कार करता है", यह अर्थ है । भगवन्मूर्ति की परिचर्या करते हुए, उत्पन्न 'व्यसन' नामक भाव से भगवत्साक्षात्कार होता है, तब अनेक प्रकारक भगवदाज्ञादि से जनित विशेष-सुस्व का अनुभव करता है । अतः कृतार्थता सिद्ध होती है, यह समझना चाहिए ।

एवं भगवदाविर्भावेन लीलावलोकनादिरूपं भगवत्सम्बन्धिसंयोगसुस्वमनुभवतोपि भगवद्विरहजन्यविलक्षणसुस्वानुभवराहित्यान्न पूर्णफलप्राप्तिः, अतो द्वितीयदलानुभवार्थं साधनमाहुस्तादृशस्यापीत्यारभ्य त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानस इत्यन्तेन ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ।। ६ ।।

तादृशस्येति । प्राप्तव्यसनभावस्येत्यर्थः । गेहस्थानं विनाशकमिति । गेहे स्थितौ हि भगवत्सेवया भगवदाविर्भावेन संयोगानुभवसिद्धौ

न वियोगानुभवो भवेत्, अतः फलपूर्णतायां गृहस्थितेः प्रतिबन्धकत्वाद्विनाशकतोक्ता । अतो 'विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यत' इति संन्यासनिर्णयग्रन्थोक्तं त्यागमुपदिशन्ति त्यागं कृत्वा यतेदिति । यतोयं विलक्षणस्त्यागोत एव तदर्थार्थैकमानस इति विशेषणमुक्तम् । स चासौ अर्थः तदर्थः 'पुरुषार्थरूपो भगवान्' तदर्थं तत्प्रयोजनकमेव मानसं यस्येति विग्रहः । पुष्टिमार्गे हि भगवानेव पुरुषार्थः । 'त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मे'ति दशमस्कन्धे श्रीरुक्मिणीवाक्यात् । 'तावांस्तेहं चतुर्विध' इत्येकादशस्कन्धे श्रीमदुद्धवं प्रति भगवद्वाक्याच्च । तथा च भगवदर्थमयं त्यागो विरहे सर्वदा अन्तर्भगवत्स्फुरणार्थः । न तु 'गृहं सर्वात्मना त्याज्य' मित्यननेनोक्तोयं त्यागः । तत्र तु 'हित्वात्मपातं गृहमन्धकूप' मिति वाक्यात्पातहेतुत्वं गृहस्थितेः, अतो गृहत्याग उक्तः । स त्यागस्तु 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तना' दित्यनेन पूर्वमुक्तः । अयं त्यागस्तु 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मत' इत्यत्रोक्तप्रकारेण वर्णाश्रमधर्मतः स्थितस्य पूजाश्रवणादिना व्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं विहितः । अतोस्मिन् त्यागे प्राप्तव्यसनभावोधिकारी । 'तादृशस्यापि सतत' मित्यत्र तादृशशब्देन 'यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे' इत्यनेन पूर्वमुक्तस्य व्यसनभाववतः परामर्शात् । अतोयं त्यागो विरहानुभवार्थ एवेति निर्धारः ।

इस प्रकार भगवद्-आविर्भाव से लीलावलोकनादिरुप, भगवत्संबंधि-संयोगसुख को अनुभव करते हुए भी, भगवद्-विरह से जनित विलक्षण-सुखानुभव से रहित होने से पूर्ण-फलप्राप्ति नहीं होती । अतः द्वितीय-दलानुभव (विप्रयोग) के लिए साधन, **तादृशस्यापि** इस पद से आरंभ कर **त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैक मानसः,** यहाँ तक कह रहे हैं ।

तादृशस्य इस शब्द की व्याख्या करते हैं । 'प्राप्तव्यसन-भाव को' यह अर्थ है । **गेहस्थान विनाशकं** इस शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । गृह में रहने पर निश्चय ही भगवत्सेवा द्वारा भगवदाविर्भाव से संयोगानुभव सिद्ध होने पर वियोगानुभव नहीं होता है । अतः फलपूर्णता में गृह में रहने से प्रतिबंधकत्वादि विनाशकता कही है । अतः "विरहानुभव के लिए ही परित्याग प्रशस्त है" (स.नि. ७) यह संन्यास-निर्णय में कहा त्याग **त्यागं कृत्वा यतेत्** इन शब्दों द्वारा उपदेश कर रहे हैं । चूँकि यह त्याग विलक्षण है, अत एव 'तदर्थार्थैकमानसः' यह विशेषण कहा है । वही है 'अर्थ' अर्थात् तदर्थः अर्थात् पुरुषार्थरुप भगवान् उनके लिए, अर्थात् वह प्रयोजन ही मन में जिसके है, वह तदर्थार्थैकमानस है यह विग्रह है । "आप निश्चय ही समस्त पुरुषार्थमय फलात्मा हैं (श्री. भा. १०/६०/३८)" इस रुक्मिणि-वाक्य से पुष्टिमार्ग में भगवान ही पुरुषार्थ हैं । तुम्हारे लिए चारों प्रकार का फल धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मैं ही हूँ (श्री.भा. ११/२९/३३) इन एकादश-स्कंध में श्रीमद्-उद्धवजी के प्रति भगवान के वाक्यों द्वारा भी । एवं भगवान के लिए किया यह त्याग, विरह में, भीतर मन में सर्वदा भगवत्स्फुरण के लिए है । न कि "गृह सभी प्रकार से त्यागना चाहिए" इस वाक्य में कहा यह त्याग है । यहाँ तो "आत्मपातरुपी गृह-अंधकूप को त्याग कर" इस वाक्य से गृह में रहना पतन का हेतु है, अतः गृहत्याग कहा है । वह त्याग तो त्याग से श्रवणकीर्तन से इस पद द्वारा पहले कह दिया है । यह त्याग तो "गृह में रहकर स्वधर्म से" इस पद में कहे प्रकार से वर्णाश्रमधर्म से रहते हुए को पूजाश्रवणादि द्वारा व्यसनभावोत्पत्ति के पश्चात् विहित है । अतः इस त्याग में जिसे व्यसनभाव प्राप्त हो गया हो, वह अधिकारी है । 'तादृशस्यापि सततं' इस पद में 'तादृश' शब्द से "जब कृष्ण में व्यसन होता है" इस श्लोक में पूर्व में कहे व्यसनभाव (वाले जीव) को परामर्श होने से । अतः यह त्याग विरहानुभव के लिए ही है, यह निर्धारित हुआ ।

एतादृक्त्यागकर्तुः फलमाहुः लभते सुदृढां भक्तिमिति ।

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाऽऽतः ॥ ७ ॥

सर्वतोप्यधिकामिति । सर्वतः प्रेमासक्तिव्यसनतोधिकामित्यर्थः । परां सर्वात्मभावरूपामित्यर्थः । वियोगे हि सर्वात्मभावो भवतीति तृतीयाध्यायभाष्ये निरूपितम् । तदत्रापि व्यसनभावोत्पत्त्यनन्तरं कृतत्यागस्य भगवद्विरहानुभवक्लेशजन्यभगवत्सम्बन्धार्त्या सर्वत्र भगवानेव स्फुरतीति सर्वात्मभावसिद्धौ न किञ्चित् कर्तव्यमवशिष्यत इति बोध्यम् । एवं गृहस्थितिपक्षे भक्तिवृद्ध्युपायं निरूप्य 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दिति पूर्वमुपदिष्टे त्यागे बाधकाभावं साधयितुं बाधकस्वरूपनिरूपणपूर्वकं त्यागप्रकारमाहुः त्यागे इति । त्यागे बाधकभूयस्त्वमित्यादिना कामादिषट्कजन्यानां बाधकानां भूयस्त्वमित्यर्थः ।

इस प्रकारक त्याग करने वाले को फल **लभते सुदृढां भक्तिं** इन शब्दो से कह रहे हैं ।

सर्वतोप्याधिकां इस शब्द की व्याख्या करते हैं । सर्वतः अर्थात् प्रेमासक्तिव्यसन से अधिक, यह अर्थ है । **परां** अर्थात् सर्वात्मभावरुप, यह अर्थ है । वियोग में निश्चित ही सर्वात्मभाव होता है, यह तृतीय-अध्याय के भाष्य में निरुपित किया गया है । वह यहाँ भी व्यसन भाव की उत्पत्ति के पश्चात् किए त्याग की, भगवद्-विरह के अनुभव के क्लेश से उत्पन्न भगवद्-संबंधि-आर्ति से सर्वत्र भगवान ही स्फुरित होते हैं, ऐसा सर्वात्मभाव सिद्ध होने पर कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता, यह समझना चाहिए । इस प्रकार गृहस्थिति-पक्ष में भक्तिवृद्धि के उपाय निरुपित कर 'त्याग से श्रवणकीर्तन से' इस वाक्य से पूर्व में उपदिष्ट त्याग में बाधकों का अभाव साधने हेतु, बाधकस्वरुप के निरुपणपूर्वक त्याग का प्रकार **त्यागे** इन शब्दों द्वारा कह रहे हैं । **त्यागे बाधकभूयस्त्वं** इत्यादि वाक्यों द्वारा कामादि छह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य बाधकों से उत्पन्न बाधकों की बहुलता है, यह अर्थ है ।

दुःसंसर्गादिति । 'प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदु'रिति वाक्यात् । जीवे हि कामादिदोषाः सदैव तिष्ठन्ति । 'भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सह षट्सपत्न' इति वाक्यात् । तथा च दुःसङ्गदुरन्नाभ्यां तस्य कामादिषट्कस्योद्बोधे तज्जन्यानां बाधकानां बाहुल्यं स्यादित्यर्थः ॥१॥

दुःसंसर्गात् इस शब्द की व्याख्या करते हैं । ''प्रकृष्ट-संग आत्मा को बांधनेवाला अजर पाश है, यह विद्वान कहते हैं,'' (श्री.भा.३/२५/२०) इत्यादि वाक्यों द्वारा जीव में निश्चित ही, कामादि दोष सदैव रहते हैं । ''प्रमादी को भय, वन में भी रहता है । क्योंकि वह छह सौतेली पत्नीरुपी शत्रुओं काम, क्रोधादि के संग निवास करता है'' (श्री.भा. ५/१/१७) इन वाक्यों के द्वारा । एवं दुःसंग, दुरन्न के द्वारा उस जीव के कामादि छह दोषों के बढ़ने पर उनसे उत्पन्न हुए बाधकों की बहुलता हो जाती है, यह अर्थ है ।''

अतःपरं बाधकहेतुकामादयो येन निवर्तन्ते तं उपायमाहुः अतः स्थेयमिति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥८॥

हरिस्थाने गोवर्धनादौ, तत्रापि तदीयैः तत्परैः सह स्थेयम् । 'स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृत'मिति वाक्यात् । एवं गृहस्थितिगृहत्यागपक्षौ सप्रकारं निरुप्य अन्यतरसाधनावस्थापन्नस्य पक्षद्वये अनुगतं मुख्यसाधनमाहुः अदूरे विप्रकर्षे वेति । भगवत इति शेषः । गृहस्थितिपक्षे श्रीविग्रहस्य अदूरे निकटे, त्यागपक्षे श्रीमूर्तेर्विप्रकर्षे दूरे स्थितावपि चित्तदोषो यथा न भवेत्तथा स्थेयमित्युपदेशः । 'चेतः स्वल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् । गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये' इति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्यात्, 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो'रिति वाक्यान्तराच्च चित्तस्यैव सर्वत्र मुख्या कारणतेति तस्मिन्दोषोत्पत्तौ सर्वनाश इति चित्तस्य निर्दोषतायै दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं सत्सङ्गादि सम्पाद्य सावधानतया स्थेयमिति भावः ॥८॥

इसके पश्चात् कामादि बाधकहेतु दोष जिनके द्वारा निवृत्त होते हैं, उन उपायों को **अतःस्थेयं** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

''वही साधुसंग मोक्षद्वार खोल देता है (श्री.भा.३/२५/२०)'' इत्यादी वाक्यों द्वारा गोवर्धनादि हरिस्थान में, वहाँ भी तदीय तत्परों के साथ रहना चाहिए । इस प्रकार गृहस्थिति एवं गृहत्याग पक्षों को प्रकार सहित निरुपण करके अन्यतर-साधनावस्थापन्न अर्थात् अन्य साधनावस्था से युक्त को दोनों पक्षों के अनुगत मुख्य साधन को **अदूरे विप्रकर्षे वा** इन शब्दों से कह रहे हैं । भगवान से दूर या निकट यह शेष रह जाता है अतः जोड़ लेना चाहिए । गृहस्थिति पक्ष में श्रीविग्रह स्वरुप से अदूर अर्थात् निकट, त्यागपक्ष में श्रीमूर्ति से विप्रकर्ष अर्थात् दूर रहने पर भी जिस प्रकार चित्तदोष नहीं होता, वैसे रहना चाहिए, यह उपदेश है । ''जीव के बंधन एवं मोक्ष का कारण मन ही माना गया है । विषयों में आसक्त होने पर वह बंधन का हेतु होता है एवं परमात्मा में अनुरक्त होने पर वही मोक्ष का कारण बन जाता है'' (श्री.भा. ३/२५/१५) इस तृतीय स्कंध में कपिल वाक्य द्वारा एवं ''मन ही मनुष्यों के बंधन एवं मोक्ष का कारण है'' इस दूसरे वाक्यों से चित्त के ही सर्वत्र मुख्य कारण होने से, उसमें दोष उत्पन्न होने से, सर्वनाश होता है । अतः चित्त की निर्दोषता के लिए दुःसंगवर्जन-पूर्वक सत्संगादि संपादित कर सावधानी से रहना चाहिए, यह भाव है ॥८॥

कथं चित्तं निर्दुष्टं स्यादित्याकांक्षायां पूर्वोक्तमुपायं स्मारयन्ति सेवायां वा कथायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्यं नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥९॥

गृहस्थितिपक्षे सेवायाम्, त्यागपक्षे कथायाम्, यस्यासक्तिर्भक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं क्वापि दुर्देशे दुष्टकालेपि नाशो बुद्धिभ्रंशरुपो न भवेत् । अन्यथा चित्तदोषे विषयध्यानात् 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' इत्यारभ्य 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यती'त्यन्तेन निरुपितो नाशः स्यादिति भावः ॥९॥

चित्त निर्दुष्ट कैसे हो ? इस आकांक्षा में पूर्व में कहा उपाय **सेवायां वा कथायां वा** इन शब्दों द्वारा स्मरण करा रहे हैं ।

गृहस्थिति पक्ष में सेवा में, त्यागपक्ष में कथा में; जिसकी आसक्ति, भक्ति दृढ़ होती है, उसका जीवनपर्यंत कहीं भी, दुर्देश में, दुष्टकाल में भी नाश अर्थात् बुद्धि-भ्रंशरुप नहीं होता । अन्यथा चित्तदोष होने पर विषयों में ध्यान होने से ''विषयों का चिंतन करते हुए मनुष्य (भ.गी. २/६२)'', यहाँ से आरंभ कर ''बुद्धिनाश से अधःपतन होता है (भ.गी. २/६३)'', इन वाक्यों में निरुपित नाश होता है, यह भाव है ॥९॥

ननु कृतत्यागस्य भगवदीयसङ्गादप्येकान्ते स्थितिरेव समीचीना, भजनप्रतिबन्धदुःसङ्गसंभावनाया अप्यभावादित्याकांक्षायामाहुः बाधसंभावनायां त्विति ।

बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।।१०।।

यद्यप्येकान्ते दुःसङ्गादिदोषो नास्ति, तथापि व्याघ्रादिभयरुपबाधसंभावनायत्रास्ति, तत्र वासो न इष्यते, न इष्टप्रापको, मनसश्चाञ्चल्यापादकत्वेन भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः । ननु सर्वरक्षको भगवान् व्याघ्रादिभ्यो भक्तान् कथं न रक्षतीत्याकांक्षायामाहुः हरिस्त्विति । 'रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्ना'निति वाक्यात् सर्वथैव भगवान् रक्षति, तथापि तादृग्विश्वासाभावेन मनश्चाञ्चल्यं स्यादेव, ततो भजने प्रतिबन्धो भवेत् । अतस्त्यागपक्षे हरिस्थाने श्रीगोवर्धनादौ भगवदीयैः सह स्थितिरेव श्रेयस्कारिणी । 'संसारेस्मिन्क्षणार्धोपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणा'मिति भागवतवाक्यादिति भावः । अपि च एकान्ते स्थितौ हि रक्षणार्थं भगवति भारो देयः । स च स्नेहविरुद्धः । हरिस्थाने भगवदीयैः सह सङ्गे तु सोपि दोषो नास्तीति त्यागपक्षे भगवत्स्थाने भगवदीयैः सह स्थित्वा भगवद्भजनं कार्यम् । तेन च प्रेमासक्तिव्यसनानि भवन्ति । ततो भगवदाविर्भावः । ततो लीलावलोकनादि सिद्धिः । ततो भगवदत्तविरहेण सर्वात्मभावः । तेन नित्यलीलाप्रवेश इति सुगमः पन्था आर्याणाम् ।

श्रीमद्विट्ठलनाथाङ्घ्रिरजःसम्बन्धभागिने । बालकृष्णो मम स्वामी मह्यं भक्तिं प्रयच्छतु ।।१।।

इति श्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णभट्टेन कृता भक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्तिमगमत् ।

यहाँ शंका करते हैं, कि ''किए त्याग की, भजनप्रतिबंध दुःसंग की संभावना का भी अभाव होने से एवं भगवदीय का संग होने से भी, एकांत में ही स्थिति उचित है ।'' यह आकांक्षा होने पर **बाधसंभानायां तु** इस शब्दों से कह रहे हैं ।

यद्यापि एकांत में दुःसंगादि दोष नहीं है, तथापि व्याघ्रादि भयरुप बाधसंभावना जहाँ हैं, वहाँ वास इष्ट नहीं है । मनचंचलता, भगवद्-भजन प्रतिबंधक होने से, इष्टप्रापक नहीं है, यह अर्थ है । यहाँ शंका करते हैं कि 'सर्वरक्षक भगवान व्याघ्रादि से भक्तों की रक्षा क्या नहीं करते'? यह आकांक्षा होने पर **हरिस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं । ''रहने को क्या गुफाएँ बंद कर दी गई हैं ? क्या अजित भगवान शरणागत की रक्षा नहीं करते ? (श्री.भा. २/२/५)'' इन वाक्यों से सर्वथा ही भगवान रक्षा करते हैं, तथापि वैसे विश्वास के अभाव से मन चंचल होता ही है, अतः भजन में प्रतिबंध होता है । अतः त्यागपक्ष में श्रीगोवर्धनादि हरिस्थान में भगवदीयों के संग रहना ही श्रेयस्कर है । ''इस संसार में आधे क्षण का भी सत्संग मनुष्य के लिए खजाना है (श्री.भा. ११/२/३०)'' इस भागवत वाक्य से, यह भाव है । एवं एकांत में रहने पर रक्षा के लिए भगवान पर भार देना भी स्नेहविरुद्ध है । हरिस्थान में भगवदीयों के साथ, संग होने पर तो वह भी दोष नहीं है । अतः त्यागपक्ष में, भगवत्स्थान में भगवदीयों के संग रह कर भगवद्-भजन करना चाहिए । एवं, इससे प्रेम-आसक्ति-व्यसनादि होते हैं । पश्चात् भगवदाविर्भाव होता है । पश्चात् लीलावलोकनादि सिद्धि होती है । पश्चात् भगवान द्वारा दिए विरह से सर्वात्मभाव होता है । इससे नित्यलीला-प्रवेश होता है, यह आचार्यचरणों का सुगम मार्ग है ।

श्रीमद्-विट्ठलनाथचरणों की रज के संबंध का भागी मुझे मेरे स्वामी श्री बालकृष्ण, भक्ति प्रदान करें ।।१।।

यह श्रीमद्-गोवर्धनधर, श्रीवल्लभाचार्यवर, श्रीविट्ठलेश्वरचरण के अनुचर/सेवक, 'लालू भट्ट' उपनाम वाले 'बालकृष्ण भट्ट' द्वारा की भक्तिवर्धिनीविवृति समाप्त हुई ।

१. अन्तिमश्लोको न विवृत इति प्रतिभाति

श्रीकृष्णाय नमः।

भक्तिवर्धिनी।

विवृतिसमेता।

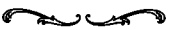

भक्तिकल्पलतावीजस्थायिभावात्मने स्वतः।
पुष्टिजीवहृदिस्थाय श्रीमद्भगवते नमः ॥ १ ॥
भक्तिकल्पलतोत्पत्तिवृद्धिदोहददायकान्।
नमामि श्रीमदाचार्यान् प्रभून् दीनानुकम्पिनः ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणैः स्वमार्गीयाणां ब्रह्मसंबन्धकरणानन्तरं दासधर्मत्वात् 'कृष्णसेवा सदा कार्ये' त्युक्तम्, सा च 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'ति, तस्याश्च मानस्याः फलरुपता, तत्साधनं च तनुवित्तजेति सिद्धान्तमुक्तावल्यां सामान्यतो निरुपितम्। तत्र प्रकारजिज्ञासायां विशिष्य वक्तुं प्रतिजानते यथेति।

स्वतः भक्तिकल्पलता बीज के स्थायी भावात्मक स्वरुप -
पुष्टिजीव के हृदय में स्थित श्रीभगवान को मैं नमन करता हूँ ॥ १ ॥
भक्तिकल्पलता की उत्पत्ति (एवं) वृद्धि के दोहद प्रदान करने वाले
दीनानुकंपी श्रीमदाचार्य (एवं) प्रभुचरणों को मै नमन करता हूँ ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणों द्वारा स्वमार्गीयों को ब्रम्हसंबंध करने के पश्चात् दासधर्म होने से ''कृष्णसेवा सदा करनी चाहिए'' यह कहा एवं वह सेवा ''चित्त की उनमें प्रवणता'' है एवं उसके द्वारा ही मानसी फलरुपता एवं उसके साधन तनुवित्तजा हैं'' यह सिद्धांत-मुक्तावली में सामान्यतया निरुपित किया गया। वहाँ प्रकारजिज्ञासा में विशेष-रुप से कहने की प्रतिज्ञा **यथा** इन शब्दों से कर रहे हैं।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्वात्तथोपायो निरुप्यते।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

भक्तिरनुद्भूता स्थायिभावात्मिका बीजरुपा पुष्टिमार्गीया भगवद्विषयिणी रतिर्या तापक्लेशपदेन निवेदनमन्त्रे निर्दिष्टा, अत एव साधनदशायां तदभिव्यक्त्यभावात् 'कृष्ण-सेवा सदा कार्ये'ति अवश्यकर्तव्यतोक्ता। प्रेमाङ्कुरेभिव्यक्ते कर्तव्यता नोच्येत, तत्स्वभावादेव कार्येनुप्रवृत्तेः। 'चेतस्तत्प्रवणं सेवे'त्यभिव्यक्तस्वरुपनिर्देशः। तदर्थमेव च 'तत्सिद्धयै तनुवित्तजे'ति निरुपितम्। सा यथा प्रकर्षमभिव्यक्तिं प्राप्य प्रेमरुपेणाङ्कुरभावमासाद्य चेतस्तत्प्रवणरुपा भूत्वा तेनैव तथात्वनियमात्। क्रमेणासक्तिव्यसनाभ्यां बद्धमूला दृढा सती वृद्धिमवाप्य 'भगवता सह संलाप' इत्याद्युत्तरोत्तरसंकल्पैर्निद्राच्छेदाद्यनुभावयन्ती मानसी फलरुपा स्यात् तथोपायो निरुप्यत इत्यर्थः।

भक्ति, अनुद्भूत - स्थायिभावात्मिका-बीजारुपा-पुष्टिमार्गीय भगवद्विषयिणी रति है, जो 'तापक्लेश' पदद्वारा निवेदनमंत्र में निर्दिष्ट है । अतएव साधनदशा में उस अभिव्यक्ति के अभाव से ''कृष्ण सेवा सदा करनी चाहिए'' यह अवश्य-कर्तव्यता कही। प्रेमांकुर की अभिव्यक्ति में कर्तव्यता अर्थात् कृष्णसेवा सदा करनी चाहिए:, नहीं कह रहे हैं। वह स्वभाव से ही कार्य में अनुप्रवृत्त होने से । अर्थात् जब एक बार प्रेमांकुर हो गया तत्पश्चात् उस जीव को भगवद्-संबंधित क्या करना चाहिए, यह कहने/बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती । क्योंकि तब फिर वह उसके स्वभाव में ही आ जायेगा, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। 'चित्त की वहाँ प्रवणता, सेवा है' यह अभिव्यक्त सेवा का स्वरुपनिर्देश है। एवं उस सेवा के लिए ही 'उस (सेवा) की सिद्धि के लिए तनुवित्तजा (सि.मु./२) यह निरुपित किया है। वह सेवा जिस प्रकार प्रकर्ष-अभिव्यक्ति को प्राप्तकर, प्रेमरुप से अकुंरभाव को प्राप्त कर, 'चित्त की उनमें प्रवणातारुप होकर उस तनुवित्तजा से ही वैसा अर्थात् मानसी होने के नियम द्वारा: क्रमशः आसक्तिव्यसन से बद्धमूल दृढ होती हुई वृद्धि को प्राप्त होकर ''भगवान के संग संलाप (सुबोधिनी)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा उत्तरोत्तर संकल्पों से निद्राच्छेदादि अनुभव कराती हुई मानसी फलरुपा होती है, उस प्रकार के उपाय निरुपित कर रहे हैं, यह अर्थ है। प्रेम की दस-अवस्थाएँ स्वीकारी गई हैं, श्रीकल्याणरायजी की टीका के

अंतर्गत 'संयुक्ता-टीका' में देखें। वही यहाँ कह रहे हैं, कि वह भक्ति उत्तरोत्तर-अवस्था में विकसित होकर निद्राच्छेदादि अवस्था का अनुभव कराने वाली हो जाती है।

तत्राधिकारी द्विविधः, अदृढबीजभावो दृढबीजभावश्च। द्वैविध्ये बीजं भक्तिहंसे निरुपितम्। 'वरणे चास्ति प्रकारद्वयम्, मर्यादापुष्टिभेदेने'ति। तत्र प्रथमं द्वितीयस्य कर्तव्यमाहुः बीजेति। 'रतिर्देवादिविषयिणी भाव इत्यभिधीयत' इति बीजभूतो यो भगवद्विषयको रत्यात्मको भावः स्थायिभाव इति यावत्। तेनैव पुष्टिमार्गीयत्वं तेषामुच्यत इति। भगवदनुग्रहादेव तत्सत्त्वादिति यथा तथा पुष्टिप्रवाहमर्यादायां द्रष्टव्यम्। अतएव 'तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्ये'तत्र टिप्पण्यामुक्तं 'एतेन श्रुतं सर्वैः स्थायिभावोत्रैवास्तीत्यत्रैव तदुद्दीपनमिति शङ्का निरस्ते'ति। स भगवदिच्छया अनुग्रहप्राबल्येन दुःसङ्गाद्यनभिभूतोऽत एव दृढो वक्ष्यमाणस्वरुपो यस्यास्ति तस्य तु बाधकगृहादिसर्वत्यागाच्छ्रवणकीर्तनाच्च भक्तिः पूर्वोक्ता प्रवृद्धा फलरुपा स्यात्, तस्य नान्यत् कर्तव्यमस्तीति भावः। श्रवणस्यान्यसापेक्षत्वात् कीर्तनस्यापि तत्साधकत्वज्ञापनाय समस्तं पदमेकवचनं च। अत एवोपसंहारे एतद्ग्रन्थपाठमात्रस्यापि दृढरतिप्रतिपादकत्वं वक्ष्यते। अथवा। समाहारद्वन्द्वः। तेन समुच्चयस्यैव हेतुत्वमिति समास एकत्वं च। बीजभावे दृढ इति सतिसप्तमी। तुशब्द इतरव्यावर्तकः॥ १ ॥

वहाँ अधिकारी द्विविध हैं, अदृढबीजभाव वाले एवं दृढबीजभाव वाले। द्विविध बीज भक्तिहंस में निरुपित हैं। ''एवं वरण में दो प्रकार हैं मर्यादापुष्टि भेद से '' इन वाक्यों द्वारा। वहाँ पहले, द्वितीय का कर्तव्य **बीज** इन शब्दों से कह रह हैं। ''देवादि विषयिणी रति भाव है (स्मृति)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा बीजभूत जो भगवद्विषयक रत्यात्मक भाव अर्थात् वहाँ तक स्थायीभाव है। इस स्थायीभाव से ही उनका पुष्टिमार्गीयत्व कहा जा रहा है। जिस प्रकार भगवदनुग्रह से ही वह स्थायीभाव होने से, वैसा पुष्टिप्रवाहमर्यादा में देखना चाहिए। अतएव ''व्रजस्त्रियों ने वह वेणुनाद सुनकर'' (श्री.भा. १०/२१/३) यह वाक्य की प्रभुचरणों द्वारा टिप्पणी में ''सभी ने सुना, इससे स्थायीभाव है, इससे उद्दीपनशंका यहीं निरस्त हो जाती है '' इन वाक्यों द्वारा कहा है। श्रीमद्-भागवत में वर्णित है, कि प्रभु ने वेणुनाद, गोपियों के भावों का उद्दीपन करने के लिए किया था, परंतु श्रीगुसाईंजी टिप्पणी में कहते हैं, कि गोपियों में यदि स्थायीभाव न होता, तो वे प्रभु का वेणुनाद सुन ही कैसे पातीं? वेणुनाद सुन पाने से ही सिद्ध होता है, कि उनका भाव पहले से ही उद्दीप्त था। अतः यहाँ उद्दीपन शंका निरस्त हो जाती है। उसी प्रकार टीकाकार कहना चाह रहे हैं, पुष्टिजीवों का बीजभाव भगवद्-अनुग्रह द्वारा स्थापित हुआ स्थायीभाव है। वह अनुग्रहीत जीव भगवदिच्छा से अनुग्रहप्रबलता के द्वारा दुःसंगादि से अपराजित है। अतएव कहने योग्य दृढ-स्वरुप जिसका है, उसकी तो बाधकगृहादि सभी त्याग से एवं श्रवणकीर्तन से पूर्व में कही भक्ति प्रवृद्ध अर्थात् फलरुपा होती है, उसका अन्य कोई कर्तव्य नहीं है यह भाव है। श्रवण के अन्य से सापेक्ष अर्थात् अपेक्षासहित होने से, कीर्तन को भी उस श्रवण का साधक बताने के लिए समस्तपद एवं एकवचन है अर्थात् 'श्रवणकीर्तन से' इस प्रकार है। अतएव उपसंहार में इस ग्रंथ के पाठमात्र को भी दृढरति-प्रतिपादकत्व कहेंगे। अथवा। समाहारद्वन्द्व है। इससे समुच्चय की ही हेतुता एवं समास-एकता है **बीजभावे दृढ़े** इसमें 'सतिसप्तमी' है। 'तु' शब्द इतर साधनों का निरसन करने के लिए है ॥ १ ॥

प्रथमस्य साधनान्तरमाहुः

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः॥२॥

अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, 'सार्वविभक्तिकस्तसिल्', दासधर्मेण ममायमेव धर्मः, एतदकरणे सर्वस्वहानिरेवेति स्वतन्त्रपुरुषार्थबुद्ध्या इतरव्यावृत्तिरहितः कृष्णं सदानन्दं सेवेत। पूजया भक्त्या। 'तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् । परिचर्यां सदा कुर्याद्वस्त्रप्रक्षालनादिभिः। अलंकुर्वीत सप्रेम वस्त्रैराभरणैरपि' इत्यादिस्वारस्यात् स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधेरनतिक्रमाय पूजापदम्। विधिप्रधानत्वात् तस्याः। अत एव भक्तिहंसेपि तथैवोक्तं प्रभुचरणैः 'स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव नियामक' इति। स चात्र श्रीमदाचार्यनिर्दिष्ट एव, न तु तान्त्रिक इति ज्ञेयम्। स च 'कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्। श्रीभागवतत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरा'दिति वाक्यात् तदनुसार्येवेति हृदयम्। साक्षात् श्रीमदङ्गसेवानवसरे श्रवणादिकं विधेयम्। 'सप्रेमे'ति सर्वत्रानुषज्यते। वक्तुरभावे स्वयमेव कीर्तनम्। आदिपदात् स्मरणं च सर्वदा। पादसेवनमित्युपलक्षणम्। वस्तुतस्तु भगवत्स्वरुपसेवनमेव तत्। यद्यपि 'श्रवणं कीर्तनं विष्णो' रित्यत्र श्रवणादित्रयानन्तरं पादसेवनमुक्तम्। तच्च मर्यादायां भगवद्विमुखस्य विषयासक्तस्य गुरुपदेशमात्रेण भजनमिच्छतः प्रथमप्रवृत्तौ माहात्म्यज्ञानेन श्रवणेन्द्रियमनोदोषनिवृत्त्या शुद्धिसंपादनेन 'शुद्धाश्च सुखिनश्चैव ब्रह्मविद्याविशारदाः। भगवत्सेवने योग्या नान्य' इति वाक्यात् साक्षात् भगवत्सेवने अधिकारसिद्ध्यर्थं प्रथमत एव श्रवणं, कीर्तनं स्मरणमित्युक्त्वा अग्रे पादसेवनमुच्यते। अत्र तु भगवदाज्ञया श्रीमदाचार्यैरादावेव सर्वसमर्पणेन ब्रह्मसंबन्धकरणात् तेनैव

सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकसेवाधिकारो जात इति स क्रमो न विवक्षित इति ज्ञेयम्। तदुक्तं 'ब्रह्मसंबन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः। सर्वदोषनिवृत्तिर्हि'इति सिद्धान्तरहस्ये साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुरिति। नवरत्ने चेयमेवाशङ्का समाहिता।

प्रथम अदृढ़बीजभाव के अन्य साधन कह रहे हैं।

अनुकूल गृह में रह कर स्वधर्म से (यहाँ सार्वविभक्ति में 'तसिल्' प्रत्यय है) श्रीगिरिधर जी की टीका में १०वीं कारिका के अंतर्गत विशेष देखना चाहिए ''दासधर्म द्वारा मेरा यही धर्म है, यह न करने पर सर्वस्वहानि ही है'' ऐसी स्वतंत्रपुरुषार्थबुद्धि द्वारा इतर व्यावृत्तिरहित, सदानंद कृष्ण को सेवना चाहिए। पूजा द्वारा अर्थात् भक्ति द्वारा। ''उनके अभाव में भी कहीं हरि की मूर्ति सिद्ध कर, वस्त्रप्रक्षालनादि द्वारा सदा परिचर्या करनी चाहिए। वस्त्र-आभरण द्वारा भी सप्रेम अलंकृत करना चाहिए'' (स.नि./२३०) इत्यादि वाक्यों द्वारा आनंद से स्नेहोत्पत्तिपर्यंत विधि का उल्लंघन न करने के लिए 'पूजा' पद है। उसके पूजा विधिप्रधान होने से। अतएव 'भक्तिहंस' में भी प्रभुचरणों ने वही ''स्नेहोत्पत्तिपर्यंत विधि ही नियामक है'' इत्यादि वाक्यों से कहा है। एवं वह विधि यहाँ श्रीमदाचार्यचरणों द्वारा निर्दिष्ट ही है, न कि तांत्रिक, यह समझना चाहिए। एवं वह कृष्णसेवापरायण, दंभादिरहित (एवं) श्रीभागवत्तत्वज्ञ पुरुष को देखकर जिज्ञासु को आदरपूर्वक भजना चाहिए (स.नि./२२९) इन वाक्यों से उसके अनुसार ही है, यह हार्द है। साक्षात् श्रीमदङ्गसेवा के अनवसर में श्रवणादि का विधान है। 'सप्रेम' यह सर्वत्र योजित हो रहा है। वक्ता के अभाव में स्वयं ही कीर्तन करना चाहिए। एवं 'आदि' पद से सर्वदा स्मरण लेना चाहिए 'पादसेवा' यह उपलक्षण है। वास्तव में तो भगवत्स्वरुपसेवा ही पादसेवा है । श्रीमहाप्रभुके भागवतार्थ-प्रकरण में पादसेवा के दो प्रकार से अर्थ हुए हैं। एक, 'पादयोः सेवनं इति पादसेवनं' दूसरा 'पदभ्यां सेवनं वा पादसेवनं अर्थात् चरणसेवा, पादसेवा है एवं दूसरे अर्थ में स्वयं के पैरों का सेवा में उपयोग करना भी पादसेवा है। यद्यपि 'श्रवण, कीर्तन, विष्णुस्मरण' (श्री.भा. ७/५/२३) इस श्लोक में श्रवणादित्रय के पश्चात् 'पादसेवा' कही है। एवं वह मर्यादा (मार्ग) में भगवद्विमुख विषयासक्त को, गुरुपदेश मात्र से भजन की इच्छा से, प्रथमप्रवृत्ति में महात्म्यज्ञान द्वारा, श्रवणेन्द्रिय मनोदोषनिवृत्ति से शुद्धि संपादन द्वारा ''शुद्ध, सुखी, ब्रह्मविद्याविशारद, भगवद्-सेवा योग्य होते हैं अन्य नहीं'' (सुबोधिनी) इन वाक्यों से साक्षात् भगवत्सेवा में अधिकार सिद्धि के लिए प्रथम ही श्रवण, कीर्तन, स्मरण यह कहकर आगे 'पादसेवा' कह रहे है। यहाँ तो भगवद्-आज्ञा से 'श्रीमदाचार्य' ने प्रथम ही सर्वसमर्पण द्वारा ब्रह्मसंबंध करने से, उससे ही सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वक सेवाधिकार पैदा होता है । (अतः) वह क्रम विवक्षित नहीं है, यह समझना चाहिए। मर्यादा-मार्ग में, श्रीमद्-भागवत में आई उपर्युक्त पंक्ति के अनुसार 'पादसेवन' का स्थान श्रवणकीर्तनस्मरणादि के पश्चात् है किंतु पुष्टिमार्ग में ब्रह्मसंबंध होने के पश्चात् सर्वदोषनिवृत्ति हो जाने से तत्काल ही पादसेवा का अधिकार भी पैदा हो जाता है। अतः वह मर्यादामार्गीय-क्रम यहाँ विवक्षित नहीं है, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। वह ''सभी देहजीवों की ब्रह्मसंबंध करने से सर्वदोषनिवृत्ति होती है'' (सि.र./२) इस श्लोक द्वारा सिद्धांत रहस्य में कहा है। साधनफल को एक करके सभी समाधान कह रहे हैं। एवं 'नवरत्न' में यही शंका समाहित है।

तथा च अरुणोदयात् प्रागुत्थाय स्वयं स्नानादिकं विधाय भगवन्मन्दिरे गत्वा मन्दिरपात्रादिसंशोधनं, सिंहासनसंस्कारः, बालभोगसज्जीकरणं, ततः प्रबोधस्तवैः भगवद्बोधनं, शीतादिसमयोचिततूलकञ्चुकप्रावरणादि परिधाप्य, सिंहासने उपवेश्य, बालभोगं समर्प्य, शीताधिक्ये हसन्तीमुपनिधाय, स्नानसामग्रीं सुगन्धतैलतप्तोदकादि अङ्गवस्त्रशृङ्गारवेशोचितस्नानालङ्कारादि सर्वमुपस्थाप्य, समये जाते, बालभोगमपनीय, आचमनं मुखवस्त्रताम्बूले समर्प्य, दर्पणं प्रदर्श्य, तत्सामयिकशोभामवलोकयन् मङ्गलनीराजनां कुर्यात्। एवं स्नानशृङ्गारमारभ्य श्रीमदाचार्यनिर्दिष्टप्रकारेण श्रृङ्गारभोगगोपीवल्लभगोपालराजभोगोत्थापनसन्ध्याशयनपर्यन्तं यथायथं परिचरणमेव पादसेवनमित्यर्थः। अर्चनं च पूजनम्। तद्धि पूज्ये उत्कर्षस्थापकम्, सर्वोत्कृष्ट एव पूज्यो भवतीति। प्रकृते च पूज्यो भगवान् पुरुषोत्तमः, तत्रापि श्रीयशोदोत्सङ्गलालितः, तत्रापि कोटिकन्दर्पलावण्यः श्रीगोपीजनवल्लभः, तत्रापि श्रीवल्लभाचार्यहृदयसर्वस्वरुपः, तत्र च श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहपक्षपातेन स्वरचितश्रृङ्गारादिपरिष्कारप्रकाशमानं शोभातिशयविशेषमङ्गीकारसूचकमवधार्य परमोत्साहभरेण विवशतया सूर्ये दीपदानमिव धूपदीपनैवेद्यताम्बूलागुरुसारादिसुगन्धपुष्पमालादिभिरभ्यर्च्य एतादृशे स्वसर्वस्वरुपे कस्यापि दृष्टिदोषसंक्रमो माभूदिति परमप्रेम्णा नीराजनां सर्वदोषनिवृत्त्या 'निःशेषेण राजयती'ति व्युत्पत्त्या अपूर्वशोभाप्रकाशिकां नीराजनां कुर्यादित्यर्चनम्।

एवं इस प्रकार सूर्योदय से पूर्व जागकर स्वयं स्नानादि विधि कर, भगवन्मंदिर में जाकर मंदिरपात्रादि की सफाई, सिंहासनसंस्कार, बालभोग-सजावट पश्चात् योग्य-स्तुति द्वारा भगवद्बोधन मंगला, शीतादि समय के उचित रुई-कंचुक-प्रावरणादि धराकर, सिंहासन पर पधराकर बालभोग समर्पकर, शीत की अधिकता में अंगीठी पधराकर, स्नानसामग्री सुगंध-तैल, तप्तजल आदि अंगवस्त्र, श्रृंगारवेशोचित वस्त्रालंकारादि सभी पधराकर समय होने पर बालभोग सराकर आचमन-मुखवस्त्र-तांबूल समर्पकर, आरसी दिखाकर, उस समय की शोभा का अवलोकन करते हुए मंगल आरती करनी चाहिए। इस प्रकार स्नानश्रृंगार से आरंभ कर श्रीमदाचार्यनिर्दिष्ट प्रकार से श्रृंगारभोग,

गोपीवल्लभ-भोग, राजभोग, उत्थापन, संध्या, शयनपर्यंत जैसी जो परिचर्या ही पादसेवा है, यह अर्थ है। एवं अर्चना अर्थात् पूजा है। वह अर्थात् 'पूजा'पद निश्चय ही 'पूज्य' अर्थात् 'प्रभु' में उत्कर्षख्यापक अर्थात् उत्कर्ष बतानेवाला है, सर्वोत्कृष्ट ही पूजनीय होता है। एवं प्रकृत में पूज्य, भगवान्-पुरुषोत्तम हैं, वह भी यशोदोत्संगलालित, वह भी कोटिकंदर्पलावण्य-श्रीगोपीजनवल्लभ, वह भी श्रीवल्लभाचार्यहृदयसर्वस्वरुप; एवं वहाँ श्रीमदाचार्यचरण के अनुग्रहपक्षपात से स्वरचितश्रृंगारादि सज्जीकरण-प्रकाशमान शोभातिशय विशेष-अंगीकार सूचक धारण कर परम-उत्साह से भरकर विवशतया सूर्य को दीपक दिखाने की भांति धूपदान-नैवेद्य-तांबूल-अगुरुसारादि-सुगंधपुष्पमालादि द्वारा अभ्यर्चना कर, ऐसे अपने सर्वस्वरुप में किसी की भी दृष्टिदोषसंक्रमण न हो, इस परमप्रेम से नीराजन अर्थात् आरती अर्थात् 'शोभा में कुद्द शेष न रह जाय' इस व्युत्पत्ति टीकाकार यहाँ जीव की दीनता को कहना चाह रहे हैं। जिस प्रकार सूर्य को दीपक दिखाना स्वयं की विवशता ही है, उसी प्रकार प्रभुसेवा में यथाशक्ति जो कुछ भी किया जाय, वह सूर्य को दीपक दिखाने तुल्य ही है। से सर्वदोषनिवृत्ति द्वारा अपूर्वशोभा-प्रकाशिका आरती करनी चाहिए, यह 'अर्चन' है।

ततश्च परिक्रमणेन स्वात्मानमपि प्रभोरुपरि निर्मञ्छ्य परमाणुना मया किं कर्तुं शक्यमिति परमदैन्येन दण्डवत्साष्टाङ्गं प्रणमेदिति वन्दनम्। ततो दास्यं शय्यादिरचना। तत्र चाधिशयाने प्रभौ व्यजनचरणसंवाहनादि च। ततो मुकुलितनयने प्रभावनवसरं विधाय श्रीमत्प्रभुप्रसादीकृतपुष्पमालादिभिश्चर्चितः परमाह्लादपूर्णो भगवन्मन्दिराद्बहिरुपेत्य 'उच्छिष्टभोजिनो दासाः' इति वाक्यात् साक्षादधरामृतकरम्बितं बाह्याभ्यन्तरशोधकं परमसौभाग्यसंपादकं महाप्रसादं सेवकादिभ्यो विभज्य सेवेत। ततश्च क्षणं विश्रम्योत्थाय वस्त्राभरणादिसेवया तदभावे तादृशैः कृतात्मनिवेदिभिः समानशीलव्यसनैर्भगवदीयैः शक्तितात्पर्यावधारणपूर्वकं श्रीभागवतसुबोधिन्यादिश्रवणम्। तथैव कीर्तनम्। तत्तल्लीलाशोभादीनां स्मरणं च कुर्वाणो यावदुत्थापनं दिनं वेणुगीतोक्तप्रकारेण नयेत् । ततश्चोत्थापने जाते कन्दमूलफलादि तत्तदार्तवं समर्पयेत्। अत्र च पुलिन्दीसौभाग्यं संभावयेत्। ततो भगवदुत्थापनशङ्कध्वनिवेणुनादोत्थनिजनिजाह्वानाभिधानश्रवणोत्साहसमुद्भूतलाङ्गूलसहर्षहुङ्कारोल्लसितमुखीर्धेनूः पुरस्कृत्य, साक्षिभिर्गोपवृन्दैरनुगीयमानचरितं 'तं गोरजश्छुरितेत्यादि' वर्ण्यमानस्वरुपं भावोद्गारिणीभिर्दृष्टिभिः श्रीमद्व्रजसीमन्तिनीपरितापं परिहरन्तं गोपीदृगुत्सवदृशं व्रजे प्रविशन्तं परिभाव्य, धेनूस्तत्तद्गोष्ठे निवेश्य, निजमन्दिरमलंकुर्वाणं प्रभुं वन्यपुष्पादिभिरलंकृतं पयोमोदकादिभिर्यथालब्धैर्भोगोपचारैरभ्यर्च्य, सान्ध्यनीराजनां विधाय, क्रमेण प्रेम्णा शृङ्गारं बहूत्कृत्य उन्मज्जनसायन्तनवस्त्रालङ्कारादिभिरलंकृत्य, दुग्धफेनं समर्प्य, यथालाभमिति सर्वत्र ज्ञेयम्। 'यथालब्धोपचारकै'रिति वाक्यात्। 'स्वाद्वन्नमुपलालित'मिति प्रकारकं शयनभोगमुपनीय, ताम्बूलमाल्यादिभिरलंकृत्य, शयननीराजनां कुर्यात्। ततश्च शय्यामधिशयिते प्रभौ नमस्कृत्य, अनवसरं विधाय, बहिर्निःसरेत्। इदमेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजये' दिति।

एवं इसके पश्चात परिक्रमण से स्वात्मा को भी प्रभु पर न्योछावर करके 'परमाणु' अर्थात् मैं क्या करने में शक्य हूँ? इस परमदैन्य से साष्टांगदंडवत्प्रणाम, यह 'वंदन' है। इसके पश्चात् शय्यादिरचना 'दास्य' है। एवं वहाँ प्रभु के पौढ़ जाने पर, पंखा-चरणसेवा आदि 'दास्य' है। इसके पश्चात् अधमुँदे नेत्रवाले प्रभु के अनवसर करके श्रीमत्प्रभुप्रसादीकृत-पुष्पमालादि के द्वारा सज्जित, परम-आल्हादपूर्ण भगवन्मंदिर से बाहर आकर ''आपका उच्छिष्ट खाने वाले दास हैं (श्री.भा. ११/६/४६)'' इत्यादि वाक्य से साक्षात् अधरामृत से मिश्रित बाह्याभ्यांतरशोधक परमसौभाग्यसंपादक महाप्रसाद को सेवकादि में विभाग करके सेवन करना चाहिए। एवं इसके पश्चात् कुछ क्षण विश्राम करके वस्त्र-आभरण आदि की सेवा द्वारा अथवा उसके अभाव में तादृश अर्थात् कर लिया है आत्मनिवेदन जिन्होंने; ऐसे समानशील-व्यसन भगवदीयों द्वारा, शक्तितात्पर्य - अवधारणपूर्वक श्रीभागवतसुबोधिनी आदि का 'श्रवण' करना चाहिए। उसी प्रकार 'कीर्तन' करना चाहिए। एवं उस लीलाशोभादि का स्मरण करते हुए जब तक उत्थापन हो, तब तक दिन को वेणुगीत में कहे प्रकार से व्यतीत करे। इसके पश्चात् उत्थापन होने पर कंदमूलफ़लादि, एवं उन उन के पुष्प समर्पना चाहिए। एवं यहाँ पुलिंदी सौभाग्य की भावना करनी चाहिए। ध्यातव्य है कि हमारे मार्ग में प्रभु को उत्थापनभोग पुलिंदियों के अर्थात् भीलनियों के भाव से आता है। श्रीमद्-भागवत के वेणुगीत (१०/२१/१७) में भी यह संदर्भ आया है, विशेष जानकारी के लिए देखें। यहाँ टीकाकार कह रहे हैं, कि तदनुसार उत्थापनभोग धरते समय वैसी भावना करनी चाहिए। इसके पश्चात् भगवद्-उत्थापन शंखध्वनि-वेणुनाद से उत्थित अपने अपने नाम को पुकारने के श्रवण के उत्साह से समुद्धत अर्थात् खड़ी पूँछ एवं सहर्ष हुंकार से उल्लसित-मुख-वाली गायों को आगे करके साक्षी गोपवृन्दों के द्वारा अनुगीयमान (अर्थात् जिनके पीछे साक्षीवत् गोपवृन्द हैं, ऐसे) चरित्र वाले; ''गोरज से व्याप्त मुखमंडल वाले उन प्रभु को (श्री. भा. ११/३/५०)'' इत्यादि श्लोक में वर्णित प्रभु स्वरुप को ''भाव निःसृत हो रहा है,'' ऐसी दृष्टि द्वारा श्रीमद्व्रजसीमंतिनियों के परिताप को परिहरते हुए गोपी के दृष्टिरुप उत्सव दर्शन की भाँति व्रज में प्रवेश कर रहे हैं । यह परिभावना करके गायों को वहाँ खिरक में पहुँचा कर, निजमंदिर को अलंकृत करते हुए, वन्यपुष्पादि से अलंकृत-प्रभु को दुग्ध-मोदकादि यथालब्ध भोग-उपचारों के द्वारा अभ्यर्चना

कर संध्या-आरती कर, प्रेमपूर्वक क्रम से श्रृंगार बड़े करके, साफ सायंकालीन वस्त्र-अलंकारादि से अलंकृत कर, दुग्धफेन घैया समर्पित कर, 'जैसा उपचार प्राप्त हो', ''यथालब्ध उपचारों से (श्री.भा.११/३/५०)'' इत्यादि वाक्य से जैसा प्राप्त हो (वैसा करना चाहिए) यह सर्वत्र समझना चाहिए। ''स्वादिष्ट अन्न (श्री.भा.१०/१५/४६)'' इस प्रकारक शयनभोग धराकर, तांबूल-मालादि के द्वारा अलंकृत कर शयन आरती करनी चाहिए। इसके पश्चात् शय्या में पौढ़े प्रभु को नमस्कार कर अनवसर कर बाहर निकलना चाहिए। यही 'तत्वार्थदीप' में 'एककाल', 'द्विकाल' अथवा 'त्रिकाल' भी पूजना चाहिए (स.नि. २४०) इस वाक्य द्वारा कहा है।

ततो यथोचितं प्रसादादि संसेव्य तादृशैः श्रवणकीर्तनादि कुर्वन् परमानन्दमनुभवन् विश्रमेदितिं दास्यं दिङ्मात्रं प्रदर्शितम्। यद्यपि सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव संपद्येते, तथापि 'तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे' इत्यत्र निवेदनाङ्गीकारचिन्ताऽभावनिरुपणेनैव सख्यसिद्धिरपि निरुपिता। तथापि साधनदशायां निरोधलक्षणोक्तभावनावत् तदनुकूलान्तरङ्गसेवा भावनीया। निवेदनं च ब्रह्मसंबन्धसमये समर्पितानां पदार्थानां यथायथं तत्रैव विनियोगः ॥ २ ॥

इसके पश्चात् यथोचित प्रसादादि का संसेवन करके तादृशी द्वारा श्रवणकीर्तनादि करते हुए परमानंद अनुभव करते हुए विश्राम करना चाहिए। यह 'दास्य' की दिशा-मात्र प्रदर्शित की है। यद्यपि सख्यात्मनिवेदन निश्चय ही भगवद्-अंगीकार से संपादित होते हैं, तथापि ''उस प्रकार पुरुषोत्तम में निवेदन होने पर चिंता त्याज्य है (नवरत्न/५) इस श्लोक में निवेदन-अंगीकार की चिंता का अभाव-निरुपण से ही 'सख्य' भक्ति की सिद्धि भी निरुपित की है। तथापि साधनदशा में निरोधलक्षण में कही भावना की भाँति उसके अनुकूल अंतरंगसेवा भावनीय है। देखें, नि.ल. ग्रंथ की १७ वीं एवं १८ वीं कारिका एवं निवेदन अर्थात् ब्रह्मसंबंध के समय में समर्पित पदार्थों का, जो जैसा वहीं प्रभु में विनियोग ॥ २ ॥

सर्वथा व्यावृत्तिराहित्याभावेपि प्रकारमाहुः व्यावृत्तोपीति ।
व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत्॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति।

हरौ सर्वदुःखहर्तरि चित्तं निधायेति व्यावृत्तिसमयेपि 'पानीयहारिणी यद्व'दितिवत्' हरावेव चित्तं निधाय व्यावृत्तिं कुर्यादित्यर्थः। अनन्तरं च श्रवणादौ सदा यतेत्। इदमेवाभिप्रेत्योक्तं निबन्धे 'सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नये'दिति। एवं सर्वदा भजतः फलमाहुः तत इति। एवं भजतः प्रथमं भगवति स्नेहः स्यात्, पूर्वोक्तो बीजभावोऽङ्कुरितः स्यादित्यर्थ। ततः क्रमेणासक्तिर्भवेद्, भगवत्स्वरुपे चक्षूरागो भवेत्। तदाङ्कुरो द्विपत्रितो जात इति ज्ञेयम्। ततश्च क्रमेण व्यसनम्। विशेषेण अस्यन्ते तदितरे सर्वे विषया येन, तं विना स्थातुमशक्तिरिति यावत् तद्भवेत्। ततश्च सङ्कल्पा उत्तरोत्तरं पल्लवस्थानीया भविष्यन्ति। एवं व्यसने जाते तद्बीजं भक्तिशास्त्रे दृढमुच्यते। यद्यस्मान्नाशहेतावपि यन्न नश्यति ॥ ३ १/२ ॥

· **सर्वथा** व्यावृत्तिरहित होने के अभाव में भी प्रकार **व्यावृत्तोपि** इन शब्दों से कह रहे हैं। 'व्यावृत्ति से रहित' अर्थात 'अव्यावृत्त'। एवं उसका अभाव अर्थात् पुनः 'व्यावृत्तिसहित' का प्रकार आगे कहा जा रहा है, यह समझना चाहिए। सर्वदुःखहर्ता हरि में चित्त लगाकर व्यावृत्तिसमय में भी पनिहारिणी की भाँति अर्थात् जिस प्रकार एक पनिहारिणी का चित्त एकाग्र होकर सिर्फ उसके घड़े में ही लगा रहता है, उस प्रकार हरि में ही चित्त लगाकर व्यावृत्ति करनी चाहिए, यह अर्थ है। एवं इसके पश्चात् सदा श्रवणादि का प्रयत्न करना चाहिए। इसी अभिप्राय से निबंध में ''यदि सर्वथा वृत्तिहीन हों, तो भी एक याम समय हरि में लगाना चाहिए'' (स.नि./२३४) इस श्लोक द्वारा कहा है। इस प्रकार सर्वदा भजते हुए फल ततः इन शब्दों से कह रहे हैं। उस प्रकार भजने से प्रथम भगवान में स्नेह होता है। पूर्व में कहा बीजभाव अंकुरित होता है। इसके पश्चात् क्रम से आसक्ति होती है, भगवद्-स्वरुप में चक्षुराग होता है। तब अंकुर दो-पत्तों-वाला हो जाता है, यह समझना चाहिए। इसके पश्चात् क्रम से व्यसन होता है अर्थात् ''विशेष-रुप से फेंक दिया जाता है, उन प्रभु से इतर सभी विषयों को जिसके द्वारा'' अर्थात् उनके बिना रहना अशक्य हो, वह होता है। इसके पश्चात् संकल्प अवस्थाएँ उत्तरोत्तर पल्लवरुपा हो जाएँगी । इस प्रकार व्यसन होने पर वह बीज भक्तिशास्त्र में दृढ़ कहा जाता है। जो नाश का हेतु होने पर भी नष्ट नहीं होता ॥ ३ १/२ ॥

तत्र हेतुभूतं तस्य साधारणं कार्यमाहुः स्नेहादिति।
स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्रूहारुचिः ॥ ४ ॥

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्।

भगवति स्नेहे जाते गृहादौ तदितरत्र सर्वत्रैव रागो निवर्तते, स्नेहपदार्थस्यैव तथात्वात्। तत्रासक्तौ जातायां गृहादावरुचिर्भवति, तत्प्रीतिजनकं न भवतीत्यर्थः। न केवलमरुचिमात्रम्, किन्तु एते मम बाधका अनात्मीया इति बुद्धिर्जायत इत्याहुः गृहस्थानामिति। सम्बन्धमात्रे षष्ठी। गृहस्थितेषु स्त्रीपुत्रादिषु ममताविषयेषु स्पष्टम्। तदेवमासक्त्या सेवतः यदा कृष्णे फलरुपे व्यसनं तदितरसर्वविषयनिवृत्तिपूर्वकं तं विना स्थातुमशक्तिर्भवेत्, तदा कृतः सम्पादितः अर्थः यदर्थं तनुवित्तजायां प्रवृत्तः बीजदार्ढ्यरुपः पुरुषार्थो येन तादृशः स्यात्। अत एव बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढमिति पूर्वमुक्तम्। एवकारेण अन्यथा तदभावः। तत्सत्त्वेन तत्सिद्धिनिश्चयोपि हिशब्देन सूचितः।

वहाँ उसके हेतुभूत साधारण कार्य को **स्नेहात्** इन शब्दों से कह रहे है।

भगवान में स्नेह पैदा होने पर गृहादि में अर्थात् उनके अतिरिक्त सर्वत्र ही स्नेहपदार्थ के ही वैसा अर्थात् भगवान से इतर-राग का विनाशकारी होने से सर्वत्र ही प्रेम निवर्त हो जाता है। तब आसक्ति होने पर गृहादि में अरुचि होती है अर्थात् वह प्रीतिजनक नहीं होता, यह अर्थ है। न केवल अरुचि मात्रं, किंतु 'ये मेरे बाधक-अनात्मीय हैं' ऐसी बुद्धि पैदा होती है, यह **गृहस्थानां** इन शब्दों से कह रहे हैं। संबंध-मात्र में षष्ठी विभक्ति है अर्थात् यहाँ जो 'गृहस्थानां' पद है, उससे गृह में रहते हर-एक व्यक्ति में षष्ठी-विभक्ति लगानी चाहिए अर्थात् गृह में रहते सभी से बाधकत्व/अनात्मत्व भासित होता है। गृह में स्थित स्त्रीपुत्रों में, ममताविषयों में अनात्मत्व भासित होता है यह स्पष्ट है। इस प्रकार आसक्ति द्वारा सेवा करने से जब फलरुप-कृष्ण में व्यसन होता है अर्थात् उन प्रभु से इतर सभी विषयोंकी निवृत्तिपूर्वक उन के बिना रहना अशक्य होता है, तब कर लिया है संपादित अर्थ जिसने; जिस बीजभाव दृढ़ता के लिए तनुवित्तजा में प्रवृत्त होकर; बीजदृढ़तारुपी पुरुषार्थ जिसने सिद्ध कर लिया है, वैसा होता है। अतएव वह 'बीज' शास्त्र में दृढ कहा जाता है, यह पूर्व में कहा। 'एवकार' से अन्यथा उस कृतार्थता का अभाव है। वह व्यसन होने पर उस कृतार्थता की सिद्धि भी निश्चित है, यह 'हि' शब्द से सूचित है।

एवं बीजभावे दृढे जाते यथा द्वितीयाधिकारिणस्त्यागः श्रवणकीर्तनञ्च साधनमुक्तम्, तदेवास्यापि वक्तुं हेतुमाहुः तादृशस्यापीति। गृहादावरुचिमतोपि बाधकत्वस्फूर्तिमतोपि भगवदेकव्यसनवतोपि निरन्तरं गृहस्थितिर्विशेषेण भावनाशिका। अत्रायं भावः। 'स्नेहाद्रागविनाशः स्या'दित्यादिना विरागस्योक्तत्वाद् 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुतेरवसरस्य प्राप्तत्वात् त्याग उपदिश्यत इति नानुसन्धेयम्। तस्य ज्ञानमार्गीयत्वात्। प्रकृते च पुष्टिमार्गीये बीजभावे दृढे व्यसनात्मके जाते तस्य च तं विना स्थातुमशक्तिरुपत्वात् विप्रयोग एवानुभावक इति सततं गृहस्थितौ स्वरुपासक्तस्य आसक्त्या, स्वरुपसेवां कुर्वतः, सेवारसावेशेन परमानन्दानुभवेऽस्वास्थ्याभावात् पूर्वोक्तो भावः प्रबुद्धो न स्यात्, 'भगवता सह संलाप' इत्यादि संकल्पा निद्राच्छेदादयश्च दशा न भवेयुः क फलरुपमानसीसेवासंभावनेति विमृश्य 'त्यागं कृत्वे'त्युक्तं श्रीमदाचार्यैरिति तादृशस्यापि सततमित्यादि पदसमभिव्याहारादवगम्यते। अन्यथा सततपदवैयर्थ्यं च। अत एव स्वमार्गीयत्यागस्वरुपमुक्तं सन्यासनिर्णये 'विरहानुभवार्थं हि परित्यागः प्रशस्यते। स्वीयबन्धनिवृत्यर्थं वेशः सोत्र न चान्यथे'ति। त्यागे स्वीयानां बन्धकत्वाभावे स वेशोपि न कार्य इत्याशयेन। अतो नायं वैधस्त्याग इति हृदयम्। तस्मिन् वेशस्यापि अङ्गत्वात्। एतद्यथा तथा संन्यासनिर्णये विशेषण भावनीयम्। अत एव अन्त्याधिकारिणः साधननिरुपणे 'त्यागाच्छ्रवणकीर्तना'दित्यार्थिक एव त्याग उक्तः ॥ ५ १/२ ॥

इस प्रकार बीजभाव दृढ होने पर, जिस प्रकार द्वितीय अधिकारियों का त्याग, श्रवण, कीर्तन एवं साधन कहे, वही इस व्यसनदशाप्राप्त भक्त के भी कहने के लिए **तादृशस्यापि** इन शब्दों से कह रहे हैं। 'गृहादि मे अरुचि', 'बाधकत्व की स्फूर्ति' एवं 'एक भगवान' में व्यसनवाले भक्त को भी निरंतर गृहस्थिति विशेष-रुप से भावनाशक है।

यहाँ यह भाव है कि 'स्नेह से राग का विनाश होता है' इसमें विराग को कहा होने से ''जिस दिवस वैराग्य हो, उसी दिवस गृह से निकल जाना चाहिए'' इस श्रुति से, अवसर प्राप्त होने से त्याग का उपदेश कर रहे हैं, यह अनुसंधान नहीं करना चाहिए। उसके ज्ञानमार्गीय होने से अर्थात् उस त्याग के ज्ञानमार्गीय होने से। एवं प्रकृत-ग्रंथ में पुष्टिमार्गीय बीजभाव दृढ, व्यसनात्मक होने पर एवं उस भक्त के उनके अर्थात् भगवान के बिना रहना अशक्यरुप होने से विप्रयोग ही अनुभावक है। अतः सतत गृह में रहने से स्वरुपासक्त को आसक्ति से स्वरुप-सेवा करते हुए सेवारस के आवेश से परमानंद अनुभव द्वारा, स्वस्थता से पूर्व में कहा भाव प्रवृद्ध नहीं होता । टीकाकार यहाँ विप्रयोग की बात कहना चाह रहे हैं। यदि जीव स्वरुप में आसक्त हो जाय, सेवारस के आवेश में ही रहता हुआ परमानंद

का अनुभव करने लग जाय, तब तो उसे श्री हरिरायजी के अनुसार 'वियोगस्तु महाफलं' वाला विप्रयोग तो प्राप्त न हो सकेगा। अतः व्यसनदशा के मुख्यफल 'विप्रयोग' से वह अछूता ही रह जायेगा, यह अर्थ है। 'भगवान' के संग संलाप (सुबोधिनी) इत्यादि वाक्य से संकल्प, निद्राच्छेदादि दशा न होगी, फलरुपा मानसीसेवा की संभावना कब होगी? इत्यादि विचार करके श्रीमदाचार्य ने 'त्याग करके' यह कहा। अतः तादृशी को भी 'सतत' इत्यादि पद कहा होने से, बोधित होता है। अन्यथा 'सतत' पद व्यर्थ है। अतएव स्वमार्गीय त्याग-स्वरुप संन्यासनिर्णय में ''विरहानुभव के लिए निश्चय ही परित्याग प्रशस्त है, स्वीयजनों के बंधन की निवृत्ति के लिए संन्यासी वेश है, अन्यथा नहीं'', इस वाक्य में कहा है। त्याग में स्वीयों के बंधकत्व के अभाव में वह वेश भी नहीं करना चाहिए, इस आशय से। अर्थात् जब गृहत्याग ही कर दिया, तब स्वीयजनों के बंधन से स्वतः ही निवृत्ति प्राप्त हो गई । अतः अब उसे संन्यासी-वेश की भी आवश्यकता नहीं हैं। अतः यह विधिपूर्वक त्याग नहीं है, यह हृदयंगम करना चाहिए। उस त्याग में वेश के भी अंग होने से। यह त्याग 'जैसा' है वैसा संन्यासनिर्णय में विशेषरुप से भावनीय है। अतएव अंतिम-अधिकारी अर्थात् व्यसनदशाप्राप्त के साधन निरुपण में ''त्याग से श्रवणकीर्तन से'' इस वाक्य से आर्थिक त्याग ही कहा है ॥ ५ १/२ ॥

प्रथमस्यापि व्यसने जाते बीजस्य दृढत्वात् तथाधिकारो जात इति तदेव साधनमाहुः त्यागं कृत्वेति।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम्।

बाधकत्वाद्गृहादि सर्वं त्यक्त्वा स एव फलरुपमानसीसेवारुपो योर्थः पुरुषार्थः स एवार्थः प्रयोजनं तस्मिन्नेवैकं मुख्यमेकाग्रं वा मानसं मनो यस्य एतादृशः सन् श्रवणकीर्तने यो यतेत् स सर्वतोधिकां मुक्तेरप्यधिकां परां फलरुपां सुदृढां प्रभुणाप्यनपनोद्यां भक्तिं लभते। स्वमार्गीयैः सजातीयैरेव श्रवणादिकम्, न तु विजातीयैरन्यमार्गीयैर्वेति धात्वर्थेन ज्ञापितम् ॥ ६ १/२ ॥

प्रथम अधिकारी को भी व्यसन होने पर, बीज दृढ़ होने से उस त्याग का अधिकार पैदा होता है अतः वही साधन त्यागं कृत्वा इन शब्दों से कह रहे हैं। बाधकत्व से गृहादि सभी त्याग कर, वही फलरुपमानसीसेवारुप जो अर्थ भगवान हैं वही पुरुषार्थ है, वही अर्थ अर्थात् प्रयोजन है, उनमें ही एक मुख्य या एकाग्र-मानस अर्थात् मन जिसका है, वैसा होकर श्रवणकीर्तन में जो प्रयत्न करता है, वह सर्वतोधिक अर्थात् मुक्ति से भी अधिक परा, फलरुपा, सुदृढ, प्रभु से भी नष्ट न होनेवाली भक्ति प्राप्त करता है। यहाँ पंक्ति आई है, कि ऐसा तदर्थार्थैकमानस मुक्ति से भी अधिक श्रेष्ठ फलरुपा भक्ति को प्राप्त करता है, ऐसी दृढ़ भक्ति जो प्रभु द्वारा भी नष्ट न हो सके। इसी संदर्भ में 'संन्यासनिर्णय' ग्रंथ की १९ वीं कारिका विशेष तौर पर देखें। स्वमार्गीय-सजातीयों के द्वारा ही श्रवणादि करना चाहिए, न कि विजातीय-अन्यमार्गीयों के द्वारा, यह धातु-अर्थ लभ् से समझना चाहिए ॥ ६ १/२ ॥

त्यागे बाधान्तरमाशङ्क्य परिहरन्ति त्याग इति।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःससर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥
बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

त्यागानन्तरं स्वमार्गीयत्यागस्वरुपाज्ञानात् सजातीयबुद्ध्या अन्यमार्गीयैः त्यागिभिरेव सङ्गो भवेत्, स च दुःसंसर्ग एव, भाववैजात्यात्। तदुक्तसाधनप्रवृत्तौ मार्गाच्च्युतो भविष्यतीत्यर्थः। तथान्नतोपि बाधः। तैः सह सर्वत्र भिक्षया असमर्पितभक्षणेन बाहिर्मुख्यमेव प्रतिदिनमुपचीयेत, दूरतरा भावबृद्धिः। अतस्त्यागं कृत्वा हरिस्थाने श्रीगोवर्धनादौ यत्र पूजाप्रवाहः स्यादित्याद्यूह्यम्। तदीयैर्भगवत्संबन्धिभिस्तत्परैः सर्वत्यागपूर्वकसेवाश्रवणकीर्तनपरैर्दृढबीजभावैः सजातीयैः सह स्थेयम्। एतेन दुःसंसर्गदोषो निवारितः।

त्याग में अन्य बाधाओं की आशंका कर, उसका परिहार त्याग इन शब्दों से कर रहे हैं।

त्याग के पश्चात् स्वमार्गीय त्यागस्वरुप के अज्ञान से, सजातीय-बुद्धि द्वारा अन्यमार्गीय त्यागियों का ही संग होता है एवं वह विजातीयभाववाला होने से दुःसंसर्ग ही है। उसमें कहे साधन में प्रवृत्ति होने पर मार्ग से च्युत हो जायेंगे, यह अर्थ है। उस प्रकार अन्न से

भी बाधा है। उन अन्यमार्गीयों के साथ सर्वत्र भिक्षा द्वारा असमर्पित-भक्षण करने से प्रतिदिन बहिर्मुखता ही एकत्र करता है, भाववृद्धि तो दूरतर है। अतः त्याग करके गोवर्धनादि हरिस्थान में जहाँ पूजाप्रवाह है, वहाँ रहना चाहिए इत्यादि हृदयंगम करना चाहिए। तदीय, भगवत्संबधी सर्वत्यागपूर्वक सेवाश्रवणकीर्तनपरों, दृढ़बीजभाववाले सजातीयों के संग रहना चाहिए। इससे दुःसंसर्गदोष निवारित होता है।

हरिस्थान इति। 'वस्त्रप्रक्षालनादिभि'रिति वाक्यायथासंभवं सेवापि सूचिता। प्रसादलाभादन्नदोषोपि परिहृतः। स्वमार्गीयश्रवणादिसिद्धिरप्युक्ता। तत्रापि 'अतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन बाधमाशङ्क्य परिहरन्ति अदूरे विप्रकर्षे वेति। स्पष्टम्। निर्गलितार्थमाहुः, यथा चित्तं न दुष्यति तथा स्थेयमित्यर्थः। वस्तुतस्तु सेवायामिति, सेवायां वा कथायां, वा विकल्पे समुच्चये वा, यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्, तस्य यावज्जीवं क्वापि भगवत्स्थले अन्यत्र वा, सजातीयेषु इतरेषु वा, तिष्ठतोपि नाशो न भवेदिति मे मतिः। तेन स्वानुभवस्यैव प्रामाण्यमुक्तम्। तथापि 'पक्षिकोपि दोषः परिहरणीय' इत्याहुः 'बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यत' इति। वस्तुतस्तु 'हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः'। भक्तानां सर्वदुःखहर्ता हरिः, अन्यथा तथात्वमेव न स्यात्। अत एवं भजने प्रवृत्तस्य सर्वतो रक्षामेव करिष्यति। अत्र संशयो न विधेयः। अत्र विशेषः संन्यासनिर्णये द्रष्टव्यः॥ १० ॥

हरिस्थान इन शब्दों को व्याख्या करते हैं। 'वस्त्रप्रक्षालन आदि द्वारा(स.नि./२४०) इत्यादि वाक्यों से यथासंभव सेवा भी सूचित है। प्रसादलाभ से अन्नदोष भी निवारित होता है। स्वमार्गीय श्रवणादि की सिद्धि भी कही है। वहाँ भी 'अति परिचय से अवज्ञा' इस न्याय से बाधा की आशंका कर **अदूरे विप्रकर्षे वा** इत्यादि शब्दों से परिहार कर रहे हैं। स्पष्ट है। निर्गलित अर्थ निष्कर्ष कह रहे हैं; जिस प्रकार चित्त दूषित नहीं होता, वैसे रहना चाहिए यह अर्थ है। वास्तव में तो **सेवायां** इस पद में, 'सेवा' या 'कथा' में अथवा विकल्प में अथवा समुच्चय में, जिसकी आसक्तिदृढ़ होती है, उसका जीवनपर्यंत कहीं भी भगवत्स्थल या अन्यत्र, सजातीयों में अथवा इतर (विजातियों) में रहते हुए भी नाश नहीं होता, यह मेरी मति है। इससे, स्वयं के अनुभव को ही प्रामाणिक कह रहे हैं। फिर भी ''अल्प दोष भी परिहरणीय है'' यह बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते इन वाक्यों से कह रहे हैं। वास्तव में तो ''हरि तो चहुँ ओर से रक्षा करेंगे ही'', संशय नहीं है । हरि, भक्तों के सर्वदुःखहर्ता हैं अन्यथा उनकी संज्ञा 'हरि' ही न होती। अतएव भजन में प्रवृत्त हुए की सभी ओर से रक्षा ही करेंगे। यहाँ संशय का विधान नहीं है। यहाँ विशेष संन्यासनिर्णय में देखना चाहिए ॥ १० ॥

उपसंहरन्ति।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरुपितम्।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद्दृढा रतिः ॥ ११ ॥

स्पष्टम्। अथाधुनिकेभ्यः कुटुम्बव्यावृत्तिविवशेभ्यः स्वकीयेभ्यो महाकारूणिका वरदानमिव प्रयच्छन्त आहुः य एतदिति। सेवाश्रवणाद्यसंभवे य एतद्भक्तिवर्धिनीस्तोत्रं सम्यगर्थावधारणपूर्वकं समधीयीत तस्यापि बीजभावरुपा स्थायिभावात्मिका रतिर्दृढा स्यादित्याशीर्दानम् ॥ ११ ॥

श्रीमदाचार्यकृपया तद्वाचामर्थसङ्गतिः। प्रादुरासीन्मम स्वान्ते तन्मयेत्थं निरुपितम् ॥ १ ॥
न प्रौढ्या साक्षिणस्तत्र त एव प्रभवो यदि। जीवत्वादन्यथा प्रोक्तं क्षमन्तां करुणार्णवाः ॥ २ ॥
इति श्रीमद्भक्तिवर्धिनीविवृतिः संपूर्णा॥

उपसंहार कर रहे हैं।

स्पष्ट है। अब, आधुनिक, कुटुंबव्यावृत्ति से विवश, स्वकीयों को महाकारुणिक वरदान की भाँति यह उपदेश दे रहे हैं वह **य एतत्** इन शब्दों से कह रहे हैं। सेवाश्रवणादि असंभव होने पर जो इस भक्तिवर्धिनी-स्तोत्र का भलीभाँति, अवधारणपूर्वक पाठ करता है, उसकी भी बीजभावरुपा, स्थायिभावात्मिका रति दृढ़ होती है, यह आशीर्वचन का दान है ॥ ११ ॥

श्रीमदाचार्य की कृपा से उनकी वाणी की अर्थसंगति जैसी
मेरे मन में प्रकट हुई वह मैने इस प्रकार निरुपित की ॥ १ ॥
वहाँ प्रौढ़ विद्वान साक्षी नही हैं अतः वही करुणासागर प्रभु
मुझे जीव होने से यदि अन्यथा कहा हो, तो क्षमा करें ॥ २ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतटीकासमेता ।

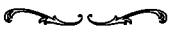

नत्वा स्वाचार्यचरणौ कृपापात्रं यतो हरेः ।
स्मृत्वा गोपीशचरणौ व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥ १ ॥
व्याख्यानरीतिरपरैर्बहुधा विभिन्ना सिद्धान्तरीतिमतिरेव च नान्यथा सा ।
तत्रापि बोधविशदाशयतानुषङ्गादर्थं विशेषमभिधातुमना भवामि ॥ २ ॥
अस्याः कृतेर्मम विनोदहृदा विचारे केचित्परे प्रतिपथीनतया विशन्तु ।
ये तु प्रमेयगतिमेव विभावयन्ति ते भावयन्तु सदयाहृदयाः प्रवीणाः ॥ ३ ॥

इह तावत् श्रीवल्लभाचार्याः स्वप्रकटितपुष्टिमार्गे साधारणकारणत्वाद्ब्रह्मसम्बन्धस्य तत्करणपूर्वमनुगृहीतानां जीवानां स्वमार्गीयालौकिकसाधनातिशयक्रमेण व्यसनावाप्तिद्वारा साक्षाद्भगवत्प्राप्तिरैकैव सर्वेषामिति ज्ञापयितुं भक्तिर्वर्धिनीनामानं प्रबन्धं व्याचख्युर्यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति ।

स्वाचार्यचरणों को नमन कर चूँकि हरि का कृपापात्र हुआ हूँ;
अतः गोपीशचरणों का स्मरण कर भक्तिवर्द्धिनी की व्याख्या करूँगा ॥ १ ॥
अन्यों द्वारा व्याख्यानरीति विभिन्न हैं एवं वे सिद्धांतरीतिक बुद्धिवाली हैं अन्यथा नहीं।
फिर भी, बोधविस्तार प्रासंगिक होने से विशेष अर्थ कहने का मन हो गया है ॥ २ ।।
मेरी इस कृति से, विनोदीजन विनोदित हों एवं कुछ अन्य इसे नवीन मार्गतया लें।
वे जो प्रमेयगति की ही भावना करने वाले हैं, ऐसे वे प्रवीण-दयालुहृदयी, प्रसन्न हों ॥ ३ ॥

यहाँ श्रीवल्लभाचार्य स्वप्रकटितपुष्टिमार्ग में ब्रह्मसंबंध के साधारण कारण होने से उसके करने से पूर्व अनुग्रहीत जीवों को स्वमार्गीय अलौकिक साधनों की बहुलता को क्रम से व्यसनप्राप्ति द्वारा ''साक्षात् भगवद्-प्राप्ति सभी को एक ही है,'' यह बताने के लिए 'भक्तिर्वर्द्धिनी' नामक प्रबंध को **यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्** इन शब्दों से व्याख्यायित कर रहे हैं। यहाँ दो बातें समझनी चाहिए। एक जो ब्रम्हसंबंध को साधारण कारण कहा एवं दूसरी जो अलौकिक साधनों की बहुलता कही। यहाँ शंका हो सकती है कि ब्रम्हसंबंध क्या केवल एक साधारण कारण है? यहाँ गूढ़ार्थ विचारने पर तो ब्रम्हसंबंध को साधारण कारण ही माना जायेगा क्योंकि यह प्रक्रिया तो जीव को स्वयं की अनुस्मृति हो जाने से, स्मरण कराने के लिए ही है अन्यथा पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद के अनुसार वे अनुग्रहीत तों पूर्व से ही हैं। यह ब्रम्हसंबंधरूपी प्रक्रिया तो जीव के प्रभु से हुए हजारों वर्ष के विछोह का स्मरण कराने मात्र ही के लिए है। एवं वैसे भी, ब्रम्हसंबंध को पुष्टिमार्ग की इतिश्री मान लेने वालों के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि केवल संप्रदाय में प्रवेश हो जाने से कुछ सिद्ध नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जैसे केवल गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो जाने से कुछ नहीं होता अपितु तात्पर्य तो तत्तत् उत्तरदायित्व निभाने से है। अतः साधारण कारण कहा है। दूसरी बात, अलौकिक साधनों की है तो यहाँ ध्यातव्य है कि वेदपुराण आदि शास्त्रों में प्रभुप्राप्ति के अनेक साधन तो कहे ही हैं किंतु यहाँ उन्हीं साधनों को क्रमबद्ध कर अंतिम व्यसनप्राप्ति द्वारा भगवत्प्राप्ति को नियोजित कर रहे हैं। मुख्य बात यहाँ टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं, कि उपर्युक्त साधन करने पर; 'उत्तममध्यमजघन्य' इनमें से चाहे कोई भी अधिकारी हो, भगवत्प्राप्ति तो सभी को ही होगी अर्थात् वह तो एक ही है। अब वह स्वाधिकारानुसार शीघ्र हो या विलंब से, यह अन्य बात है, यह अर्थ है।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥ १ ॥

यथा येन प्रकारेण भक्तिः पुष्टिमार्गीया स्यात् प्रवृद्धा स्वावस्थात्रयापन्ना च स्यात्तथा उपायः साधनं निरूप्यते । विशिष्टविधानमेतत् । अयमर्थः । साधनानि तु प्रमाणचतुष्टये प्रतिपादितानि, परं न तेषां यावत्स्वसाध्यविजातीयार्थहेतुतावधार्यते, तावत्प्रकृतोपयोगीनि भवन्ति । अतस्तद्धेतुप्रकारक उपाय उच्यत इति । यद्वा । उक्तं च साधनजातं विजातीयार्थेषु तत्प्राकरणिकमिति वाक्येनेष्टार्थे विनियुज्यते । न चात्र प्रमाणाभावो न वार्थविरोधः । इतरथा अप्रामाणिकत्वापत्तेः । न चैवं विषयव्यवस्था स्यादिति

वाच्यम् । तत्त्वतो विषयद्वैविध्यादेरप्यनंगीकारादिति । श्रीभागवतादौ उक्तान्यपि साधनान्यसंभावनाविपरीतभावनाभ्यां नार्थहेतवो भवन्तीति ते निवार्याधिकारिविशेषविषयतया तदुपयोगः कथ्यत इति भावः । अत एव तृतीये कपिलेन 'भक्तियोगो बहुविध' इत्यादिना स्वभावगुणतारतम्येन भक्तितारतम्यं व्याख्याय 'अनिमित्ता भागवती'त्यादिना निर्गुणभक्तिरेव स्तूयते । यत्तु कश्चित्प्रमाणचतुष्टये पुष्टिभक्तेस्तत्साधनानां चाभावाद्विजातीयसाधनव्याख्याप्रतिज्ञेत्याह । तन्न । तथा सति पुष्टिभक्तेरप्रामाणिकत्वापत्तेः । प्रकृतग्रन्थसाधनविरोधात् । 'कश्चिदेव हि भक्तो हि यो मद्भक्त इतीरणात् । सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय' इति प्रभुवाक्याविरोधात् । 'गीतायां स्फुटमतः पुष्टिः प्रतिपाद्यत' इति तद्व्याख्यानं च विरूध्यत इति दिक् ।

जैसे, जिस प्रकार से भक्ति पुष्टिमार्गीया हो अर्थात् प्रवृद्ध हो एवं अपनी त्रिप्रकारक अवस्था अर्थात् प्रेम-आसक्ति-व्यसन को प्राप्त हो, वैसे उपाय अर्थात् साधन निरुपित कर रहे हैं। यह विधान विशिष्ट है। इसका अर्थ यह है कि। साधन तो प्रमाणचतुष्टय अर्थात् वेद-भगवद्गीता-ब्रम्हसूत्र-श्रीभागवत में प्रतिपादित हैं किंतु जब तक उनका स्वसाध्य अर्थात् भगवत्प्राप्ति से भिन्न विजातीय-अर्थ के हेतु का अवधारण नहीं होता तब तक वे प्रकृत में उपयोगी नहीं होते। उपर वाली पंक्तियों को ध्यान से पढ़ें। पता चलेगा कि प्रमाणचतुष्टय को यहाँ विशिष्टतया कहा जा रहा है। टीकाकार कहते हैं, कि इन प्रमाणचतुष्टय में कहे साधनों द्वारा कही स्वसाध्य-भगवत्प्राप्ति तब तक विशिष्ट रूप से समझ में नही आ सकती जब तक विजातीय-अर्थ का हेतु अर्थात् पुष्टिमार्ग से भिन्न इतर मार्गों में प्राप्त होते फल से उसकी तुलना न हो जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि इन वेदपुराणों को प्रमाण तो मर्यादामार्गीयों ने भी माना है। इन पुराणों में निष्ठा तो अन्यमार्गीयों को भी है किंतु भक्तिमार्ग में प्राप्त होता फल इनको प्राप्त होते फल से भिन्न है, यह जब तक तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सिद्ध नहीं हो जाता तब तक वे प्रकृत में अर्थात् वर्तमान में उपयोगी नहीं हो सकते? यह अर्थ है। अतः उनके हेतुप्रकारक उपाय कह रहे हैं। अथवा। कहा है कि उन साधनों से उत्पन्न विजातीय-अर्थ में उसके प्रकार वाक्यद्वारा इष्ट-अर्थ में सुनियोजित होते हैं। न यहाँ प्रमाण का अभाव है न ही अर्थ विरोध। अर्थात् टीकाकार ने उपर जो बात कही, उसमें अनेक प्रमाण हैं एवं उनके कहे अर्थों में विरोध भी पैदा नहीं हो रहा है, यह अर्थ है। अन्यथा अप्रामाणिक हो जाने की आपत्ति से। एवं, इस प्रकार विषयव्यस्था है, यह नहीं कहना चाहिए। तत्वतः द्विप्रकारक विषय न स्वीकारा होने से। श्रीभागवत आदि में कहे साधन भी असंभावना एवं विपरीतभावना द्वारा अर्थहेतुक नहीं होते अतः वे निवारित कर अधिकारीविशेष का विशेषतया उसका उपयोग कह रहे हैं यह भाव है। प्रभु में शंकाहष्टि रखनी 'असंभावना' या 'विपरीतभावना' कहलाती है। जैसे यदि कोई यह शंका करे कि 'छोटे से प्रभु, कैसे इतनी सामग्री अरोग सकते हैं? तो यह असंभावना हुई। इसी प्रकार यदि कोई यह शंका करे कि क्या प्रभु में विकार नहीं आता? तो यह विपरीत भावना हुई। टीकाकार कह रहे हैं, कि उपर कहे साधन भी तब तक सिद्ध नहीं होते जब तक इन भावनाओं का निवारण न कर दिया जाय। यह अर्थ है। अतएव श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध में कपिलजी द्वारा ''भक्तियोग बहुत हैं (श्री.भा.३/२९/७) इत्यादि वाक्यों से स्वभावगुण के तारतम्य द्वारा भक्तितारतम्य व्याख्यायित कर ''भगवान की अनिमित्त (श्री.भा. ३/२५/३३)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा निर्गुणभक्ति की ही स्तुति की ग है। कोई, प्रमाणचतुष्टय में पुष्टिभक्ति एवं उसके साधनों का अभाव होने से विजातीयसाधन की व्याख्या की प्रतिज्ञा करते हैं। ऐसा नहीं है। वैसा होने पर पुष्टिभक्ति की अप्रामाणिकता की आपत्ति होने से। एवं प्रकृतग्रंथ में कहे साधन के भी विरोध हो जाने से। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि कुछ लोग कहते हैं कि प्रमाणचतुष्टय अर्थात् वेद-गीता-ब्रम्हसूत्र एवं श्रीमद्भागवत में पुष्टिभक्ति एवं उसके साधनों का उल्लेख ही नहीं है। अतः विजातीय साधन करने चाहिए अर्थात् पुष्टिमार्ग से भिन्न साधन करने चाहिए। किंतु ऐसा नहीं है, क्योंकि तब फिर ''संपूर्ण पुष्टिभक्तिमार्ग ही अप्रामाणिक है'', यह आपत्ति आ खड़ी होगी? तब तो प्रकृतग्रंथ अर्थात् इस भक्तिवर्द्धिनीग्रंथ में कहे साधन भी तो व्यर्थ ही हो जायेंगे। अतः पुष्टिमार्ग प्रामाणिक कैसे है? यह आगे स्पष्ट कर रहे हैं। ''जो मेरा भक्त हैं (भ.गी. १२/४)' इस गीतावाक्यानुसार सर्वत्र भक्ति का उत्कर्ष कहा होने से, कोई ही भक्त होता है; इससे पुष्टि भक्ति निश्चित है (पु.प्र.म.भे./४)'' इत्यादि प्रभुवाक्य से विरोध हो जाने से एवं गीता में स्पष्टतया पुष्टि प्रतिपादित है, अतः वह कथन विरोधनीय हो जाता है, यह दिशा स्पष्ट हुई।

ननु केयं भक्तिर्नाम । न तावदाराध्यत्वेन ज्ञानम् । तथा सति ज्ञानविशेषत्वेनाभेदप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य' 'ज्ञानिनामपि सर्वेषा' मित्यादिषु भेदेनाम्नानात् । न च श्रवणादितत्समुदायाद्यन्यतमत्वम् । तस्य 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये'त्यनेन कारणत्वोक्तेः । नापि वा एतेन सेवापि भक्तिः । न च श्रद्धाविशेषः । तस्याः सङ्कल्पात्मकतया निश्चयात्मकतया वा तद्भिन्नभक्तेर्भेदात् । अत एव गुरवः 'श्रद्धातः साधनप्रवृत्तिस्ततः फलं भक्ति'रित्याहुः । एतमेव श्रद्धाभक्त्योर्भेदमादाय 'श्रद्धावन्तो न भक्तास्ते ये स्वधर्मबहिर्मुखाः । सेवास्वधर्मं कुर्वाणा भक्तगोष्ठीविरोचका' इति वदन्ति । यत्तु केचित् श्रद्धासहितसेवाकृतिर्भक्तिरिति प्राहुः । तत्र । सेवाकृतेर्भक्तिसाधकत्वम्, न तु भक्तित्वमिति सिद्धान्तात् । एतेन शमादिपक्षाः प्रत्युक्ता वेदितव्याः । अत्रोच्यते । भगवति निरुपाधि प्रेम भक्तिरिति । न चाप्रसिद्धिः । आत्मनि प्रसिद्धेः । न च माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वस्य प्रधानवाक्यगतत्वादुपाधित्वं शङ्क्यम् । तस्य तत्कारणे सेवायामुपक्षीणत्वात् । अत एव माहात्म्यज्ञानं सेवायामपराधाभावायोपयुज्यते, न तु भक्तिहेतुत्वेनेति श्रीमद्गोकुलनाथचरणाः ।

यहाँ शंका करते हैं कि यह 'भक्ति क्या है? आराध्यज्ञान भक्ति नहीं है वैसा होने पर ज्ञान विशेष हो जाने से ज्ञान एवं भक्ति में अभेद प्रसंग हो जाने से। अर्थात् यदि आराध्य का ज्ञान हो जाना ही यदि भक्ति मान लिया जाय तब फिर ज्ञान एवं भक्ति में भेद ही क्या रह जायेगा? तब फिर ज्ञानमार्ग एवं भक्तिमार्ग यों ऐसे दो मार्ग मानने ही अनावश्यक हो जायेंगे, यह अर्थ है। एवं इष्ट की आपत्ति होने से भी भक्ति नहीं है। यहाँ 'इष्टापत्ति' का अर्थ समझें। जो हम चाह रहे हैं वह हमारे लिए 'इष्ट' है एवं 'आपत्ति' का अर्थ होता है 'विरोध'। यहाँ टीकाकार उपर उठी शंका का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। 'भक्ति' क्या है? यह बताने से पहले वे ये बता रहे हैं कि क्या[1] भक्ति नहीं है। तदनुसार उन्होने उपर्युक्त पंक्तियों में सिद्ध किया कि ज्ञान होना भक्ति नहीं है। इसी के बाद उन्होने कहा कि यह 'इष्टापत्ति' भी नहीं है अर्थात् केवल ज्ञान की भक्ति से गौणता सिद्ध हो जाने से वही हमने इष्ट मान लिया हो, ऐसा नहीं है अपितु शास्त्रों में भी भक्ति को ही मुख्य कहा है, ज्ञान को नहीं अतएव हम भी ज्ञान को न कह कर भक्ति को ही मुख्य मान रहे हैं। 'इष्टापत्ति' को विशेषतया समझनें के लिए गुजरातीभाषा की क कहावत स्मरण हो रही है, उस परिपेक्ष्य में समझने का प्रयास करें। यदि कोई वैद्य बीमार पडने पर पथ्य के रुप में किसी विशेष पदार्थ के सेवन को कहे एवं सौभाग्य से वह वस्तु हमें विशेषतया पसंद भी हो कहा जायेगा कि ''वैध ने मनभावन वस्तु का पथ्य बताया'' किंतु सत्य तो यह है कि यदि वह पदार्थ मनभावन न भी होता तो भी स्वस्थ होने के लिए तो उसका सेवन करना ही था। ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञान को ही भक्ति मान लेने पर जो आपत्ति उठी थी, वह निराधार हो गई एवं यही हमें भी इष्ट है; केवल इसी कारण से हम भक्ति को ज्ञान से विशेष मान रहे हैं, ऐसा नहीं है अपितु यदि ऐसा न भी होता तब भी वेदपुराणों में भी भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है इसीलिए हम भी 'भक्ति' को ही मुख्य मान रहे हैं एवं यही हमारे कथन का आधार है, यह अर्थ है। ''अतः मेरी भक्ति से युक्त को (श्री.भा. ११/२०/३१) ''सभी ज्ञानियों को भी'' इत्यादि वाक्यों में ज्ञान एवं भक्ति को भेद द्वारा कहा होने से ज्ञान भक्ति नहीं है। एवं श्रवणादि एवं उनके समुदायादि भक्ति से अन्यतम नहीं हैं। उनको अर्थात् उन समुदायों को ''भक्ति से उत्पन्न भक्ति द्वारा (श्री.भा. ११/३/३१) इस वाक्य से कारण कहा होने से। अथवा, इससे सेवा भी भक्ति नहीं है। एवं न श्रद्धाविशेष' भक्ति है। उस श्रद्धा के संकल्पात्मकतया अथवा निश्चयात्मकतया होने से उसके भक्ति से भिन्न व भेद होने के कारण। अतएव गुरूजनों ने ''श्रद्धा से साधन में प्रवृत्ति तत्पश्चात् फल 'भक्ति' है' यह कहा है। श्रद्धा एवं भक्ति का इतना ही भेद लेकर ''वे श्रद्धावान भक्त नहीं हैं जो स्वधर्म से बहिर्मुख हैं। सेवा-स्वधर्म करते हुए भक्तगोष्ठी के आभूषण होते हैं, यह कहा है। कुछ श्रद्धासहित सेवाकृति को भक्ति कहते हैं। ऐसा नहीं है। सेवाकृति भक्ति की साधक है न कि भक्ति, यह सिद्धांत होने से। इससे शमादिपक्ष भी कहे जानने चाहिए। यहाँ 'शमादिपक्ष' को समझें। इंद्रियो का निग्रह 'दम' कहलाता है एवं मन का निग्रह 'शम'। टीकाकार कह रहे हैं, कि जिस प्रकार हमने यह सिद्ध किया कि सेवाकृति भी भक्ति की साधक ही है स्वयं भक्ति नहीं, इसी प्रकार शम-दम आदि भी भक्ति के साधक ही हैं स्वयं वे भक्ति नहीं हैं, यह अर्थ है। यहाँ भक्ति क्या है? यह कह रहे हैं। भगवान में निरुपधि-प्रेम भक्ति है। एवं यह अप्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् भगवान में निष्काम प्रेम सर्वत्र ही प्रसिद्ध है, यह कह रहे हैं। आत्मा में प्रसिद्ध है। अर्थात् अनुभवजन्य होने से स्वयं जीव में भी यह बात प्रसिद्ध ही है, यह अर्थ है। एवं माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्व के प्रधानवाक्य होने से उपाधि की शंका नही करनी चाहिए। समझना चाहिए कि श्रीमहाप्रभुजी ने ''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा'' इस नारदञ्चरात्रस्मृति वाक्यानुसार प्रभु के माहात्मज्ञान को भक्ति का लक्षण कहा है। टीकाकार कह रहे हैं, कि उपर्युक्त पंक्ति में उन्होंने सिद्ध किया कि ज्ञान को भक्ति नहीं समझना चाहिए। अब यहाँ इस स्मृतिवाक्य में कहे 'माहात्म्यज्ञान' शब्द से कोई पूर्वपक्षी ज्ञान के मुख्य होने की उपाधि खड़ी करे, तो वे कह रहे हैं कि ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। इसका स्पष्टीकरण वे आगे दे रहे हैं। उस ज्ञान के भक्तिकारण में, सेवा में क्षीण हो जाने से। अर्थात् पुष्टिभक्तिमार्ग में प्रभु का माहात्मज्ञान होना आवश्यक है ही तथापि प्रभुसेवा में तो दीनतापूर्वक की जाने वाली भक्ति ही अपेक्षित है, दंभ उत्पन्न करनेवाला ज्ञान नहीं। इसी कारण से हमारे संप्रदाय में ब्रम्हसंबंध का केंद्रीयबिंदु तो अहंताममता का त्याग ही है अतः ज्ञान तो सेवा में नितांत गौण पक्ष अर्थात् क्षीण ही है, यह अर्थ है। अतएव माहात्म्यज्ञान तो सेवा में अपराध के अभाव के लिए योजित होता है, न कि भक्तिहेतु के लिए, यह श्रीमद्गोकुलनाथचरण कह रहे हैं।

नन्वेवं व्रजस्थानां कामाद्युपाधिसत्त्वेमेति चेन्न । तत्र कामाभावात् । तासां जात्यनुरूपभगवद्गुणवर्णनस्य तत्रैव विशदत्वात् । भक्तोचितस्वरूपनिष्ठतया वा तादृशगुणकथनस्यावश्यकत्वमित्यस्य सुवचत्वाच्च । अत एव भक्ताः स्वरूपनिष्ठा एव भवन्ति । न हि तेषां भगवत्स्वरूपातिरिक्तं किञ्चिद्वर्णनीयमस्ति । तदाहुर्गुरुचरणाः 'तदेव हि प्रसिद्धं भगवदङ्गीकारो नाम वस्तु यत्कायवाङ्मनसां भगवत्परत्व'मिति । यद्यपि कामानुरूपा क्रिया दृश्यते, परं न कामः । आहुश्चाचार्याः 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते' इति । यदपि 'कामाद्द्वेष्यः', 'कामं क्रोध'मित्यादिकथनं तदपि लोकप्रतीतिसापेक्षं चित्तासङ्गस्तवनम्, न तु साधनतावोधकमिति दिक् । तस्मान्निरुपाधिकं प्रेम भक्तिरिति ।

यहाँ शंका करते हैं कि व्रजवासियों को क्या कामादि-उपाधि होने पर प्रेम हुआ? ऐसा नहीं है। अर्थात् यहाँ शंका यह उठी कि क्या व्रजभक्तों को प्रभु से काम द्वारा प्रेम हुआ? क्योंकि सप्तम-स्कंध में 'गोप्यः कामात्' इस प्रकार नारदवाक्य हैं। अतः क्या उन्हें निष्काम प्रेम नहीं था? वहाँ काम का अभाव होने से। उन व्रजभक्तों के जाति-अनुरुप भगवद्-गुण वर्णन को वहीं विस्तार किया होने से। भक्तोचित स्वरुपनिष्ठतया अथवा वैसे भगवद्-गुणों का कथन आवश्यक है, इन सुवाक्यों द्वारा वहाँ काम का अभाव है। यहाँ टीकाकार यह सिद्ध कर रहे

हैं कि उन व्रजभक्तों में काम नहीं था वहाँ तो शुद्धप्रेम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। इस संदर्भ में वे कह रहे हैं, कि यदि उनमें काम होता तो उनकी वाणी में भक्तोचितं स्वरुपनिष्ठा न होती। न ही वे गोपियाँ भगवद्-गुणों का उस प्रकार वर्णन करती जैसा उन्होंने प्रभु के कठोर वाक्य सुनने पर भी किया। देखें, श्रीमद् भागवत के दशमस्कंध (१०/२९/३१.....४१) में जहाँ वे भगवान से अनुनय-विनय कर रही हैं। टीकाकार कह रहे हैं कि वह वाणी किसी कामी की नहीं हो सकती क्योंकि कामी में धैर्य नहीं होता, ठुकरा देने पर निराश हो जाता है, किंतु ये वाणी तो शुद्ध-प्रेम की ही है, यह अर्थ है। अतएव भक्त स्वरुपनिष्ठ ही होते हैं। उनको भगवद्-स्वरुप के अतिरिक्त कुछ भी वर्णनीय नहीं होता। वह गुरुचरणों ने ''निश्चय वही प्रसिद्ध भगवद्-अंगीकार नामक वस्तु है जो काया-वाणी-मन द्वारा भगवत्परत्व हो'' यह कहा है। यद्यपि कामानुरुप क्रिया दिखाई देती है, परंतु काम नहीं है। एवं आचार्यचरणों ने ''यहाँ क्रिया सभी वही है, परंतु काम नहीं है'' यह कहा है। श्रीमहाप्रभु सुबोधिनी में कहते हैं कि जहां[1] गोपियों के लिए काम शब्द प्रयुक्त हुआ है वहाँ[2] 'प्रेम' शब्द के अर्थ को लेना चाहिए। ''प्रेमैव गोपरामाणां कामेत्यगमत् प्रथाम्''। यद्यपि 'गोपियों ने काम से (श्री.भा.७/१/३०)' काम, क्रोध (श्री.भा. १०/२९/१५) इत्यादि कथन भी लोकप्रतीति-सापेक्ष चित्त-की असंगता का स्तवन है, न कि साधनता का बोधक है, यह दिशा स्पष्ट हुई। टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि अलौकिक-प्रेम का वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता, क्योंकि शुद्ध-प्रेम तो अनिर्वचनीय होता है। अतः यदि उस शुद्ध प्रेम को भी यदि समझाना है, तो लौकिक दृष्टांतों से ही समझाया जा सकेगा। वे कहते हैं कि यद्यपि उपर्युक्त श्लोकों में 'काम' शब्द का प्रयोग हुआ है तथापि वह तो केवल लोकप्रतीती अर्थात् लौकिक-अर्थ में समझाने के लिए एवं गोपियों के चित्त की लौकिक में असंगता एवं प्रभु में संगता की ही स्तुति है। इससे यहाँ, 'काम' शब्द को भक्ति की साधनता का बोधक नहीं मान लेना चाहिए। अतः निरुपाधिक प्रेम 'भक्ति' है।

सा च द्विधा । आत्ममनोधर्मभेदात् । न चाद्यायां मानाभावः । स्वरूपेण भगवल्लीलाप्रवेशे सङ्घाताभावेन तदसम्भवापत्तेः । अलौकिकसङ्घातस्वीकारे जीवे निराकारतप्रसङ्गात् । अतोन्यथानुपपत्तिरेव मानम् । न वा किञ्चिद्बाधकं पश्यामः । यतः अंशत्वादिवदैश्वर्यादिसमानाधिकरणो धर्मविशेषो भक्तिरिति युक्तमुत्पश्यामः । मनोधर्मरूपा तु श्रवणादिसादुण्योपकृतिमपेक्षते । यावत्तद्वृत्तिमिती । तया पुनः साभिव्यक्ता नेशते परोपकारं स्वात्मनि विनाभावविशेषावस्थायां दृष्टान्तीकृतानां भावानुरूपं करणम् । क्रिया हि परतन्त्रा प्रयत्नाभिलाषतो भवति यथा, साप्येवं यतः । अस्ति च नायं प्राणप्रदो धर्मो, विभिद्यन्ते यतो नानाविधा गतयः । गतिसामान्यमपि साक्षादेवेति न नियमः, किन्तु पारंपर्यतयापि, तदविरोधात् । अतो द्विधा भक्तिः । तत्राद्या विधेयताहीना वृद्धिप्रकारमपेक्षते, अतस्तदुच्यते ।

वह 'भक्ति' द्विप्रकारक है। 'आत्म-मन' धर्म के भेद से। एवं प्रथम अर्थात् आत्मधर्म के प्रकार में प्रमाण का अभाव नहीं है। 'स्वरुप' से भगवल्लीला में प्रवेश होने पर संघात-अभाव से वह असंभव होने की आपत्ति से। स्वरुप का अर्थ यहाँ 'आत्मा' से है। 'संघात' का अर्थ है 'इंद्रियों का समूह'। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि यदि आत्मा के द्वारा भगवत्-लीला में प्रविष्ट होने की बात करें तो आत्मा को तो कोई लौकिक इंद्रियों की आवश्यकता है ही नहीं। तब संघात न होने से किस प्रकार? कहाँ भगवद्-लीला में प्रवेश हुआ? वह शंका होती है। अलौकिक-संघात स्वीकार करने पर जीव में निराकारता यह अप्रासंगिक होने से। और यदि हम कोई अलौकिक संघात अर्थात् अलौकिकमन, अलौकिकबुद्धि, अलौकिकचित्त, अलौकिकअहंकार इस प्रकार से मान लें तो फिर प्रश्न तो यह उठेगा कि जीव तो निराकार है, इसमें आकार तो प्रासंगिक नहीं है। संक्षेप में, इन दोनों बातों से टीकाकार आत्मधर्म वाली भक्ति के विषय में समझाना चाह रहे हैं। वे कहते है कि आत्मधर्म वाली भक्ति से भगवद्-लीला में प्रवेशरुपी फल के मायने क्या हैं? यह जानना आवश्यक है, अतः आत्मा की चर्चा कर रहे हैं। अतः अन्यथा-अनुपपति ही प्रमाण है। अर्थात् यहाँ इसका कोई सिद्धप्रमाण न होना ही इसे प्रमाणित कर रहा है, यह अर्थ है। एवं न ही हम यहाँ कुछ बाधक देख रहे हैं। अर्थात् इस प्रकार आत्मा का अलौकिक संघात स्वीकारने में हमें किसी प्रकार की कोई बाधा दिखाई नहीं देती, यह टीकाकार कह रहे हैं। अंशत्व की भाँति ऐश्वर्यादि समानाधिकरण विशेष-धर्म भक्ति है, यह हम युक्त ही देख रहे हैं। यहाँ 'ऐश्वर्यादि का सामानाधिकरण' से तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रभु में ऐश्वर्यादि छह गुण विद्यमान हैं, उसी प्रकार जीव में भी अंश होने के कारण आंशिक रुप से तो यह गुण हैं ही। अतः 'यो यदंशः स तंम् भजेत्'' के अनुसार जीव को भगवान के साथ अंश-अंशी का ज्ञान हो जाना ही भक्ति है, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। मनोधर्मरुपा भक्ति तो श्रवणादि सद्गुण की उपकृति की अपेक्षा रखती है, जब तक वह वृत्तिमति हो। अर्थात् मनोधर्मरूपा भक्ति तो बिना श्रवणादि का उपकार लिए तो न हो सकेगी उसे इन श्रवणादि की अपेक्षा रहेगी ही, यह अर्थ है। उस वृत्ति द्वारा वह भक्ति पुनः अभिव्यक्त होने पर उस श्रवणादि के परोपकार की इच्छा नहीं रखती अर्थात् स्वयं की आत्मा में बिना किसी विशेषभावास्था में दृष्टांतरुप में किया गया भावानुरुप करना मनोधर्मरुपा भक्ति है। जैसे क्रिया निश्चय ही परतंत्र एवं प्रयत्नाभिलाषी होती है, वह मनोधर्मरुपा भक्ति भी वैसी होती है। यहाँ टीकाकार मनोधर्मरुपा भक्ति को क्रिया के उदाहरण से समझा रहे हैं। वे कहते हैं, कि जिस प्रकार क्रिया परतंत्र होती है अर्थात् किसी भी क्रिया को करने में किसी न किसी अंग की आवश्यकता या अन्य साधनों को आवश्यकता तो पड़ेगी ही, इस तरह वह परतंत्र हुई एवं प्रयत्नाभिलाषी भी होती है अर्थात् किसी भी क्रिया को कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्नशील तो होना ही पड़ेगा वह स्वतः सिद्ध नहीं तो जाती इस अर्थ में वह प्रयत्नाभिलाषी हुई। उसी प्रकार मनोधर्मरुपा भक्ति भी इंद्रियों पर निर्भर होने से परतंत्र हुई एवं प्रयत्नाभिलाषी भी हुई, यह अर्थ है। एवं यह प्राणप्रद धर्म नहीं है जिससे नाना प्रकारक गतिविधियाँ विभाजित होती हैं। गति

की समानता भी साक्षात् हो, ऐसा नियम नहीं है किंतु परंपरा से भी होती है, उसके अविरोधी होने से । अतःभक्ति द्विप्रकारक है। वहाँ प्रथम प्रकार की भक्ति विधेयताहीन होने से वृद्धिप्रकार की अपेक्षा रखती है, अतः वह कह रहे हैं।

ननु वक्ष्यमाणसाधनैः सर्वेषां भगवति कुतो न भक्तिर्वर्धत इति व्यभिचारिशङ्कायामाहुः 'बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादि'ति । परमादिसृष्टौ भगवतो रमणेच्छातो विस्फुलिङ्गन्यायेन निर्गता जीवाः । तेषां विविधगतितत्साधनानामानुपूर्वीविशिष्टानां सत्त्वासत्त्वे भगवतैव विचारिते । तत्र ये स्वप्राप्तियोग्यतया इच्छाविषयीकृतास्तेषु यत्तादृशेच्छाविषयत्वं स एव बीजभावो नाम । तत्राप्ययं जीवः कतिचिद्दिनानि साक्षान्मत्प्राप्तिसाधनकृद्भूत्वा ततो निवर्त्यान्यगतिसाधनकृत्स्यादिति चेद्भगवता विचारितं, तदा स बीजभावो दृढो न भवति । दृढे तु बीजभावे स्यादुक्तसाधनैः प्रवृद्धा स्यादित्यर्थः । अदृढे तु तस्मिन्न भवेदिति । तदुक्तं गुरूचरणैः 'न हि पदार्थगुणदोषौ वर्णयतोपि पुरुषस्य ब्रह्मादेर्भवन्ति विधेयाः प्रवृत्तिनिवृत्त्योः केचिदपि न यावद्विशिष्टेच्छाविषयताशालित्वं धर्मस्येति । अतो दृढे तु बीजभावे तथा स्यात् । तत्र साधनमाहुः त्यागादिति । ऐहिकपारलौकिकयावद्वस्तुनस्त्यागो भगवति स्वमार्गीयप्रकारेण सात्मनः समर्पणं । तस्मात् भगवत्प्राप्तीच्छुना प्रथमतो मार्गानुसारेण समर्पणं कर्तव्यम् । मुख्यमिदं साधनं भक्तिवृद्धौ । अत एवैकादशे भगवतोद्धवं प्रत्युक्तम् । 'दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम् । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इति । अन्यत्र च । 'ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तान् त्यक्तुमुत्सहे ।' 'मामुद्दिश्य हित्वे'ति तद्व्याख्यानम् । तस्मात्सर्वार्पणं भगवति कर्तव्यम् ।

यहाँ शंका करते है कि कहे गये साधनों द्वारा भगवान में सभी की भक्तिवृद्धि क्यों नहीं होती? यह व्यभिचारीशंका होने पर **''बीजभावे दृढे तु स्यात्यागच्छ्रवणकीर्तनात्''** इन शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ व्यभिचारी शंका का अर्थ समझें। व्यभिचारी लक्षण वह होता है, जो स्वयं के अलावा अन्य में भी घट जाय। एक उदा. से समझें। जैसे कह दिया जाय कि ''गाय वह होती है जिसके माथे पर सींग हों। अब यहाँ यह लक्षण व्यभिचारी हो गया क्योंकि केवल गाय के ही माथे पर सींग हों, ऐसा नहीं है अपितु भैंस-बकरी के माथे पर भी सींग होते हैं। ठीक इसी प्रकार उपर्युक्त की शंका भी व्यभिचारी शंका है क्योंकि भक्ति के उन साधनों द्वारा सभी की तो भगवान में भक्ति नहीं बढ़ती अतः कोई पूर्वपक्षी यह व्यभिचारी शंका कर सकता है कि इन लक्षणों द्वारा सार्वजनिक रुप से भक्तिवर्धन होना चाहिए, यह अर्थ है। किंतु सृष्टि के आदि में भगवान की स्मण-इच्छा से विस्फुलिंगन्याय द्वारा जीव निर्गत हुए हैं।

उनकी विविधगति, उनके आनुपूर्वी विशिष्ट साधन का होना न होना भगवान द्वारा ही विचारित किए गये हैं। वहाँ जिन्हें भगवान ने स्वप्राप्ति-योग्यतानुसार इच्छाविषयी कर लिया है, उनमें जो इच्छाविषय है, वही 'बीजभाव' है। वहाँ भी यह जीव ''कुछ दिन मेरी साक्षात्प्राप्ति के साधन करने वाला हो कर पश्चात् निवर्त होकर अन्य गतिसाधन करने वाला हो जाय'' यदि ऐसा भगवान विचार करते हैं, तब वह बीजभाव दृढ़ नहीं होता। बीजभाव दृढ़ होने पर तो कहे साधनों द्वारा भक्ति प्रवृद्ध होती है, यह अर्थ है। बीजभाव अदृढ़ होने पर तो उस जीव) में भक्ति प्रवृद्ध नहीं होती। वही गुरुचरणों ने ''निश्चय ही पदार्थ के गुणदोषों का वर्णन करने वाले पुरुष की ब्रह्मादि में कुछ भी प्रवृत्ति-निवृत्ति होती हो, ऐसा नहीं है; जब तक वह ब्रह्म स्वयं उस धर्म का विशिष्ट-इच्छा का विषयताशाली नहीं होता। अर्थात् कोई कितना भी पाप-पुण्य का उपदेश करे, किंतु स्वयं उसकी पुण्य में प्रवृत्ति या पाप में निवृत्ति स्वयं ब्रह्म की इच्छा से ही होती है। जब स्वयं ब्रह्म विशिष्ट-इच्छाशाली होता है, तब ही पुरुष की धर्म में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। विशेष जानने के लिए देखें, नायमात्मा .....(कठो.१/२/२३)। अतः दृढ़ बीजभाव होने पर तो वैसा अर्थात् भक्तिवृद्धि होगी। वहाँ साधनों को **त्यागात्** इन शब्दों से कह रहे हैं। स्वमार्गीय प्रकार से जो कुछ ऐहिकपारलौकिक वस्तुएँ हैं उनका आत्मासहित भगवान में समर्पण, 'त्याग' है। अतः भगवद्-प्राप्ति के इच्छुक को प्रथमतः मार्गानुसार समर्पण करना चाहिए। यह भक्तिवृद्धि में मुख्य साधन है। अतएव एकादशस्कंध में भगवान ने उद्धवजी से ''पत्नी-पुत्र-गृह-प्राण निवेदन कर (श्री.भा.११/३/२८)'', ''उद्धवजी! जो मनुष्य इन धर्मो का पालन करते है एवं मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं उनमें मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय होता है एवं जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गई उसके लिए और किस वस्तु का प्राप्त होना शेष रह जाता है? (श्री.भा.११/१९/२४)''। एवं अन्यत्र भी ''जो भक्त स्त्री-पुत्र-गृह-प्राण-धन-इहलोक-परलोक त्याग कर मेरी शरण आ गये हैं, उन्हें मैं कैसे छोड़ सकता हूँ (श्री.भा. ९/४/६५)'', ''मेरे उद्देश्य से त्याग कर'' यह उसका व्याख्यान है। अतः सभी भगवान में समर्पित करना चाहिए।

तदुत्तरं साधनमाहुः श्रवणकीर्तनादिति । समाहारे नपुंसकत्वम् । आत्मसमर्पणानन्तरं निबन्धोक्तलक्षणप्रकारकं गुरुमाश्रित्य यत्रात्मसमर्पणं कृतं तस्य भगवतः स्वरूपज्ञानार्थं स्वस्वरूपज्ञानार्थं भगवति स्वसम्बन्धज्ञानार्थं च भगवच्छास्त्रं श्रोतव्यम् । तेन सकलसंशयनिवृत्तौ भगवति भक्तिर्दृढा भवति । तदुत्तरं श्रुतस्यार्थस्य संरक्षणार्थं सति श्रोतरि कीर्तनं कर्तव्यम् । अत्र श्रवणकीर्तनयोः समुचित्य हेतुत्वम्, न तु पार्थक्येन । न च यत्र श्रवणमेव साक्षात्कारकं तत्र व्यभिचारः । तत्र कीर्तनस्मरणजनितार्थस्य जन्मान्तरीयतया सिद्धेः । भगवदनुग्रहो वा तत्र कारणम् । श्रवणादीनां हि दृष्टद्वारकत्वम् । तच्च दृष्टं फलं क्वचित्संशयनिवृत्त्यादि यथायथमवगन्तव्यम् । संशयनिवृत्तौ, (सति सम्भवे) स्मरणं विधेयम् । सति सम्भवे सेवा कार्या । श्रवणं तु लीलात्वेन कर्तव्यम्, तथा

कीर्तनं च । तदुक्तं गुरूचरणैः 'निरन्तरं भगवतः स्मरणमेव मुख्यमस्माकम्, श्रवणादिकं तु तदुपकारि, न तु स्वतन्त्रपुरूषार्थः । भक्त्युत्पत्तौ लीलात्वेन श्रवणं तु तनुजा सेवा यथा स्वतन्त्रपुरूषार्थ' इति । सेवा च चेतस्तत्प्रवणमेव, तनुजादिकं च तद्धेतुरिति तत्त्वम् ॥ १ ॥

इसके पश्चात् **श्रवणकीर्तनात्** इन शब्दों से साधन कह रहे हैं। समाहार में 'नंपुसकलिंग' है। आत्मसमर्पण के पश्चात् निबंध में कहे लक्षण प्रकारक गुरु का आश्रय कर, जहाँ आत्मसमर्पण किया है, उससे भगवद्-स्वरुपज्ञान के लिए, स्वस्वरुपज्ञान के लिए एवं भगवान में स्वयं के संबंध के ज्ञान के लिए, भगवत्शास्त्र सुनना चाहिए। इससे सकलसंशयनिवृत्ति होने पर भगवान में भक्ति दृढ़ होती है। इसके पश्चात् सुने हुए के अर्थ के संरक्षण के लिए श्रोता उपलब्ध होने पर कीर्तन करना चाहिए। यह श्रवणकीर्तन का समान औचित्य में हेतु है न पृथकतया। एवं, जहाँ श्रवण से ही भगवद्-साक्षात्कार हो जाय वहाँ व्यभिचार नहीं समझना चाहिए। अर्थात् यदि श्रवण से ही यदि कार्यसिद्धि हो जाय तो ''कीर्तन या स्मरण व्यर्थ है'', ऐसी व्यभिचारी शंका नहीं करनी चाहिए, यह अर्थ है। वहाँ कीर्तनस्मरणजनित अर्थ के जन्मांतर से सिद्ध होने से। अर्थात् कीर्तनस्मरण से उत्पन्न 'अर्थ' अर्थात् भगवद-प्राप्ति तो जन्मांतर से सिद्ध है, अतः यदि श्रवण से ही कार्यसिद्धि हो जाय तो भी इनका तो अपना महत्व है ही, यह अर्थ है। अथवा वहाँ श्रवण से ही भगवद्-प्राप्ति हो जाने में भगवद्-अनुग्रह कारण है। श्रवणादि निश्चय ही भक्तिमार्ग की ओर जाते हुए दिखाई पड़ने वाले द्वार हैं। एवं वह दृष्टफल कभी संशयादि की जैसे-जिसप्रकार निवृत्ति, द्वारा दिखाई देता है। अर्थात् श्रवणादि का फल हमें प्राप्त हो रहा है यह कैसे जानें? इस पर टीकाकार कहते हैं, कि यदि श्रवण करते[1] यदा-कदा हमारे मन में रहे संशय की निवृत्ति हो जाय, तब जानना चाहिए, यह अर्थ है। संशय-निवृत्ति होने पर 'स्मरण' करना चाहिए। स्मरण संभव होने पर 'सेवा' करनी चाहिए। 'श्रवण' तो लीला के अनुसंधान द्वारा करना चाहिए एवं उस प्रकार 'कीर्तन' भी। वही गुरूचरणों ने ''निरंतर भगवान का स्मरण ही हमारे लिए मुख्य है, श्रवणादि तो सहयोगी हैं न कि स्वतंत्रपुरूषार्थ। भक्ति की उत्पत्ति में लीलानुसंधान द्वारा श्रवण, तनुजासेवा हैं जैसे स्वतंत्रपुरूषार्थ'' यह कहा है। एवं सेवा, चित्त की उनमें प्रवणता ही है एवं तनुजादि उसके हेतु हैं, यह तत्व है ॥ १ ॥

ननु अनधिकारिणि कथं भागवतार्थो देयः, तदधिकारित्वं च दृढबीजभाववत्त्वमेव, स च कथं ज्ञातव्य इत्याकाङ्क्षायामाहुः सार्धेन बीजदार्ढ्येति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥ २ ॥

उक्तबीजभावदार्ढ्यस्य प्रकारस्तु क्रिया तु । यस्मिन् बीजभावो दृढस्तत्क्रिया तु इयम् । यत् गृहे स्थित्वा अनुकूले गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः आत्मधर्मोयमिति ज्ञात्वा अव्यावृत्तः सन् यथालाभसन्तुष्टः सन् कृष्णं सदानन्दं भजेत् । अनुदितमुख्यभक्तेन साधनदशापन्नेन गृहस्थाश्रमे स्थातव्यम् । तत्र स्थित्वा सन्देहमकृत्वा दृढविश्वासेन कृष्णं यथालब्धोपचारैर्भजेत् सेवेत, भज सेवायामित्यर्थकत्वात् । ननु गृहस्थाश्रमः सन्निपातरूपः कथं भगवद्भक्तिं साधयेदिति चेत्, मैवम् । 'भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यात्' 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति किञ्चित्' 'प्राप्य पुण्यकृतांल्लोका'नित्यादिवाक्यैर्भगवदर्थिनो गृहाश्रमेपि सदर्थसिद्धेः । तस्मादप्राप्तवक्ष्यमाणलक्षणभक्तिना गृहस्थाश्रमे तदुपायः कर्तव्यः । तत्राप्ययं विशेषः । गृहाश्रमावस्थानं सिद्धगृहाश्रमस्यैव, न तु सिद्धप्रणष्टतत्कस्यासिद्धतत्कस्य वा । तदपि भजनं स्वधर्मत्वेन कर्तव्यं न तु धर्मत्वेन । तथा सति अन्यशेषत्वेनाभक्तित्वं स्यात् । अत एव गुरवः 'कर्माङ्गत्वेन क्रियमाणस्मरणादेः कर्माङ्गत्वमेव, अर्थात्कर्मत्वमेव, न भक्तित्व'मिति ।

यहाँ शंका करते हैं, कि भगवानरुपी-अर्थ, अनधिकारियों को कैसे दे देना चाहिए? एवं वह अधिकारिता तो दृढ़बीजभाव ही है एवं वह कैसे जानना? यह आकांक्षा होने पर **बीजदार्ढ्य** इन डेढ़ श्लोक द्वारा कह रहे हैं।

कहे बीजभावदृढ़ता का प्रकार अर्थात् प्रक्रिया तो यह है कि अर्थात् जिसमें बीजभाव दृढ़ होता है, वह क्रिया तो यह है कि गृह में रहकर अर्थात् अनुकूल-गृह में रह कर स्वधर्म से अर्थात् ''ये आत्मा के धर्म हैं,'' यह जानकर अव्यावृत्त होकर अर्थात् जो प्राप्त हो, उससे संतुष्ट होकर संदानंद कृष्ण को भजना चाहिए। जिसमें मुख्यभक्ति उदित न हुई हो ऐसे अर्थात् साधनदशापन्न द्वारा गृहस्थाश्रम में रहना चाहिए। वहाँ रह कर संदेह न कर के दृढविश्वास से जैसा साधन प्राप्त हो, उससे कृष्ण को भजना/सेवना चाहिए; 'भज्' धातु का 'सेवा' में अर्थ होने से। देखें, श्रीपुरूषोत्तमजीटीका के अंतर्गत दूसरी संयुक्ता टीका यहाँ शंका करते हैं कि गृहस्थाश्रम तो सन्निपातरुपदोष है, कैसे भगवद्-भक्ति साधी जायेगी? ऐसा नहीं है। ''प्रमादी को वन में भी भय रहता है (श्री.भा. ५/१/१७), ''मेरे साथ सायुज्य की इच्छा नहीं रखते (श्री.भा. ३/२५/३४)'', ''पुण्यों से लोकों को प्राप्त करके'', इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवदर्थी को गृहाश्रम में भी सदर्थ की सिद्धि अर्थात् भगवद्-प्राप्ति होने से। अतः कहीं भक्ति जिसे प्राप्त नहीं हुई है उसे गृहस्थाश्रम में वह उपाय करने चाहिए। वहाँ भी यह विशेष है कि गृहस्थाश्रम में रहना अर्थात् सिद्धगृहाश्रम को ही रहने योग्य कहा है न कि नष्ट हो गई है सिद्धि जिस गृह की वहाँ रहना चाहिए। अथवा। असिद्ध गृह में नहीं रहना चाहिए। यहाँ सिद्धगृह से तात्पर्य है उस गृह से जो भगवद्-अनुकूल है एवं असिद्धगृह वह है जहाँ भगवद्-सेवाकथा की अनुकूलता नहीं है।

वहाँ भी भजन स्वधर्मतया करना चाहिए न कि धर्मतया। अर्थात् भजन तो पुष्टिभक्तिमार्ग में स्वकर्तव्य समझ कर करना चाहिए; अपना वर्णाश्रम धर्म समझ कर नहीं। वैसा होने पर अन्यशेष होने से अभक्ति हो जायेगी। अर्थात् यदि वह भक्ति पुष्टिमार्गीय कर्तव्य समझ कर न कर के वर्णाश्रय धर्म समझ कर की जाय तो वह अन्यशेष अर्थात् पुष्टिमार्ग से अन्यतया होने से पुष्टिभक्ति ही नहीं रह जायेगी, यह अर्थ है। अतएव गुरूदेव ने ''कर्म के अंगरुप द्वारा किया जाता स्मरणादि, कर्म का ही अंग है अर्थात् कर्म ही है न कि भक्ति' यह कहा है।

अत्र गृहस्थानविधानेन स्वगृहाधिष्ठितस्वरूपभजनपरित्यागेनान्यत्र तत्करणे भक्तिर्न भवतीति सूचितं भवति । तत्रापि भजने फलमुखमङ्गमुपदिशन्ति अव्यावृत्त इति । सर्वव्यावृतिं परित्यज्य कृष्णः सेव्यः । आष्टायामिकः कालो भगवद्भक्त्यैव नेयः । सेवासमये सेवा कर्तव्या, अवशिष्टकाले श्रवणादिकं ययासम्भवं कर्तव्यम् । न तु व्यावृत्त्या कालक्षेपः क्षणमपि कर्तव्यः । 'निद्रया ह्रियते नक्त'मित्यर्थः । यद्वा । व्यावृत्तिः सर्ववस्तुविषयकः सोद्यमो मनोरथः, सर्वथा तद्रहितोऽव्यावृत्तो भवेत् । सर्वेच्छां परित्यज्य निश्चितचेतसा स्वधर्मत्वेन कृष्णः सेव्यः, न तु पूज्यः । पारिभाषिकश्चायं भेदो द्रष्टव्यः । यदि अव्यावृत्तो न भवेत्, तदा भगवत्सेवनं केवलं स्वमाहात्म्येन यथासम्भवं पापादि निवर्तयेत्, न तु उक्तं फलं साधयेदित्यर्थः । नह्यन्यचेतसा कृतं कृतमित्यभिमन्तव्यम् । अतो भगवदर्थिना त्रिकालभगवत्सेवासमये तु अवश्यमव्यावृत्तेन भवितव्यम् । तत्र कामचारः । ननु सेवा कर्तव्या, न तु पूजा । सा च कथं कथं कर्तव्या । किं स्वशारीरधर्मतत्समानधर्मत्वेनोपचर्यया, आहोस्वित्ययेच्छमागमादिरीत्या बेति सन्देहे प्राहुः पूजयेति । अत्र तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीह्याश्रयणादनुक्तसिद्धोपादानत्वेपि पूजायाः पृथगुपादानमुक्तभेदतन्त्रम् । तेन सेवाप्राधान्येन श्रवणादिनवकं विधेयमित्युक्तम् ।

यहाँ गृहस्थान के विधान द्वारा स्वयं के गृह में विराजते स्वरूप का भजन त्यागने से एवं अन्यत्र भजन करने से भक्ति नहीं होती, यह सूचित होता है। वहाँ भी भजन में मुख्यफल का अंग **अव्यावृत्त** इन शब्दों से उपदेश कर रहे हैं। सभी व्यावृत्ति परित्याग कर कृष्ण सेव्य हैं। अष्टप्रहर का समय भगवद्-भक्ति में ही लगाना चाहिए। सेवासमय में सेवा करनी चाहिए, अवशिष्ट समय में यथासंभव श्रवणादि करने चाहिए। न कि व्यावृत्ति द्वारा क्षणभर भी कालक्षेप करना चाहिए। रात्रि, निद्रा में (श्री.भा. १/१६/९; २/१/३)'' यह अर्थ है। अथवा। व्यावृत्ति सर्ववस्तुविषयक उद्यमसहित मनोरथ है, उससे सर्वथा रहित 'अव्यावृत्त' होता है। सभी इच्छाओं का परित्याग कर निश्चित चित्त से स्वधर्म द्वारा 'कृष्ण' सेव्य हैं, न कि पूज्य। एवं सेवा-पूजा में यह पारिभाषिक भेद देखना चाहिए। यदि अव्यावृत्त न हो तब भगवत्सेवन केवल स्वयं के माहात्म्य अर्थात् भगवद्-माहात्म्य से यथासंभव पाप निवर्त करेगा न कि कहा फल साधेगा, यह अर्थ है। निश्चित ही भगवान से अतिरिक्त अन्य में चित्त द्वारा किये गये को किया हुआ नहीं मानना चाहिए। अतः भगवदर्थी को त्रिकालःभगवत्सेवा समय में तो अवश्य अव्यावृत्त होना चाहिए। वहाँ सेवा में आचार बता रहे हैं। यहाँ शंका करते हैं, कि सेवा करनी चाहिए न कि पूजा एवं वह कैसे? करनी चाहिए? क्या स्वयं के शरीरधर्म के समानधर्म द्वारा उपचर्या से अथवा इच्छानुसार अथवा वेदोक्तरीति द्वारा?? यह संदेह होने पर **पूजया** इस शब्द से कह रहे हैं। शरीर धर्म से तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हम शरीर में सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, क्या उस प्रकार प्रभु में भी समझ कर सेवा करें? जो प्रायः ''यथा देहे तथा देहे'' इन वाक्यों से कहा जाता है, यह अर्थ है। यहाँ ''तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीही समास'' के आश्रय से, पूजा के अनुक्त-सिद्धोपादान होने से भी पृथक उपादानकथन भेदरुप है। इससे सेवाप्रधान होने से श्रवणादि नवक का विधान किया है, यह कहा। यहाँ समझना चाहिए कि सेवा तो प्रधान है, किंतु सेवा से अतिरिक्त अनवसर काल में श्रवणादि करने चाहिए, यह अर्थ है।

अयमर्थः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां तु तान्त्रिकोपचारा उपयुक्ताः, तत्रापि यत्प्रेमविरोधि तन्न कर्तव्यम्, यथा नित्यं शीतोदकस्नानादि । प्रमाणबलाबलापेक्षया प्रमेयबलाबलस्याधिकत्वेन स्थापितत्वात् । यथासम्भवं चतुःषष्टि उपचाराः प्रत्यहं कर्तव्याः । अपरञ्च । त एवोपचारा भक्तिमार्गे तदीयत्वेन कर्तव्याः, न तु स्वीयत्वेन, धर्मवत् । तथा सति न भक्तित्वं स्यात् । भगवन्मन्त्रायुपयोगश्चाश्रयविशेषावधारणेन कर्तव्यत्वेन व्याख्यातः । यत्तु कश्चित् पञ्चरात्रादिभगवच्छास्त्रतत्त्वानभिज्ञः पूजामार्गीया उपचारास्तत्साधनानि मन्त्रादीनीति न तानि पुष्टिमार्गे उपयुज्यन्ते, कथञ्चिदपि तदुपयोगे भिन्नमार्गीयत्वं स्यात्, अन्यथा पूजापूजाभक्तिमार्गयो-रविशेषापत्तेरित्याह । तन्मतिमान्यादेव । भावविशेषात्पारिभाषिकभेदादेव तत्सिद्धेः । इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अनुपरमात् । अप्रामाणिकत्वापत्तेः । 'भगवच्छास्त्रं गीता भागवतं पञ्चरात्रं चे'ति सिद्धान्तग्रन्थविरोधात् । भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्चेति दिक् । यद्वा । पूजया श्रवणादिभिर्वेति गृहस्थविधुराद्विभेदेन पदार्थद्वयोपदेशः । 'अधिकारिभेदेनोपदेशा भिवन्त' इति सिद्धान्तात् ॥ २ १/२ ॥

यह अर्थ है..... कि क्या करना चाहिए? यह आकांक्षा होने पर तो तंत्र में कहे उपचार उपयुक्त हैं किंतु वहाँ भी जो प्रेमविरोधी हैं, वह नहीं करने चाहिए, जैसे नित्य शीतोदकस्नान आदि। प्रमाणबल-अबल की अपेक्षा प्रमेयबल-अबल, अधिकतया स्थापित होने से। अर्थात् प्रमाणबल से विशेष प्रमेयबल स्थापित है, यह अर्थ है। यथासंभव चौंसठ उपचार प्रतिदिन करने चाहिए। और। वें उपचार भक्तिमार्ग में तदीय होने से अर्थात् हम श्रीमहाप्रभु के हैं यह समझ कर करने चाहिए, स्वयं वर्णाश्रम धर्म की भाँति नहीं। वैसा होने पर भक्ति नहीं होती। एवं भगवद्-मंत्रादि का उपयोग भी श्रीमहाप्रभु के विशेष आश्रय के अवधारण से कर्तव्यतया कहा है। अर्थात् यद्यपि यह तंत्र-मंत्र का मार्ग नहीं है

तथापि शास्त्रमर्यादा को ध्यान में रखते हुए यदि सेवा में मंत्रादि का उपयोग हो भी तथापि वे मंत्र श्रीमहाप्रभु का विशेष आश्रय लेकर ही करने चाहिए, यह अर्थ है। जो कोई नारदपञ्चरात्रादि भगवद्-शास्त्र से अनभिज्ञ है उसे पूजामार्गीय उपचार, उनके साधन, उसके मंत्रों को पुष्टिमार्ग में योजित नहीं करना चाहिए, कहीं भी उसका उपयोग करने पर भिन्नमार्गीय हो जायेगा, अन्यथा 'पूजा-अपूजा' एवं 'भक्तिमार्ग में अविशेष होने की आपत्ति होने से, कहा है। अर्थात तब पूजामार्ग में एवं भक्तिमार्ग में कोई विशेषता ही न रह जायेगी, यह अर्थ है। यह मतिमंदता से ही होता है कि पूजामार्ग एवं भक्तिमार्ग को एक कर दिया जाय। भावविशेष के भेद से एवं पारिभाषिक भेद से फलसिद्धि होने से। भावविशेषभेद अर्थात् जिसमें भाव की विशेषता हो अर्थात् भक्तिमार्ग। पारिभाषिकभेद से अर्थात् पूजामार्ग द्वारा। इतिकर्तव्यता की आकांक्षा का विराम न होने से अर्थात् सेवा कोई कर्मकांड नहीं है कि संपूर्ण होने पर छोड़ दिया जाय। सेवा तो नित्यकर्तव्य है, उसमें विराम नहीं है, यह अर्थ है। अप्रामाणिकता की आपत्ति होने से। 'गीता', 'भागवत' एवं पञ्चरात्र इन भगवद्-शास्त्र सिद्धांतग्रंथों का विरोध होने से। एवं पूजामार्ग एवं भक्तिमार्ग में भेद के प्रत्यक्ष सिद्ध होने से यह दिशा स्पष्ट हुई। अथवा। पूजाद्वारा या श्रवणादि द्वारा यों क्रमशः गृहस्थ-विधुर के भेद से द्विपदार्थ का उपदेश है। ''अधिकारीभेद से उपदेशभेद हो जाता है'' इस सिद्धांत से। अर्थात् जो जैसा अधिकारी होगा उपदेश भी वैसा होता चला जायेगा यह अर्थ है ॥ २ १/२ ।।

ननु यदि व्यावृत्तः स्याद्वृत्त्यादिहानितश्चेत्यतः प्राहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥ ३ ॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यत्नापि नश्यति ।

नीचाश्रयणादिनिन्दितवृत्तिस्तु नादरणीया । अतिरिक्तवृत्त्या जीवेत । सा च दुःसाध्या यर्हि, तदा अवश्यं व्यावृत्तो भवति, तदा हरौ भगवदर्थं श्रवणादौ चित्तं निधाय यतेत् । सर्वथा याममात्रं कालो भगवति विनियोज्यः । श्रवणादिषु त्रिषु पाल्यमानमेकमादेहावसानं दृष्टार्थम् । अतस्तेषु यतेत् । तथापि 'अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते । तेपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणा' इति वाक्यात्ते भगवन्तं प्राप्स्यन्त्येव । अत एव तत्त्वदीपे भगवदाचार्यैरुक्तं 'सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरौ नये'दिति । एवं समर्थासमर्थभेदेन गृहस्थविधुरादिभेदेन च दृढबीजभावत इतिकर्तव्यता व्याख्याता ।

यहाँ शंका करते हैं कि यदि व्यावृत्त हो एवं वृत्ति आदि की हानि हो तो क्या करना चाहिए? यह **व्यावृत्तोपि** इन शब्दों से कह रहे है।

नीच का आश्रय आदि निंदित वृत्ति तो आदरणीय नहीं है। इनसे अतिरिक्त वृत्ति द्वारा जीना चाहिए। एवं यदि वह दुःसाध्य हो तब भक्त अवश्य ही व्यावृत्त होता है, तब भगवदर्थ श्रवणादि द्वारा हरि में चित्त लगाकर प्रयत्न करना चाहिए। प्रहर मात्र समय सर्वथा भगवान में योजित करना चाहिए। पालन करने योग्य श्रवणादि तीन में देहावसानपर्यंत एक का निष्ठापूर्वक पालन करे तब भी अर्थ दिखाई दे जाता है। अतः उनमें प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ 'अर्थ' शब्द का अर्थ भगवान से है। वे प्रकट हो जाते हैं। तथापि ''अन्य श्रुतिपरायण तो, इस प्रकार न जानते हुए, सुनकर अन्यों की उपासना करते हैं, वे भी मृत्यु को तर ही जाते हैं'' इन वाक्यों से वे भगवान को प्राप्त करते ही हैं। अतएव तत्वदीप में आचार्यचरणों ने ''यदि सर्वथा वृत्तिहीन हों तो भी एक प्रहर हरि में लगाना चाहिए (त.दी.नि./२३४)'' यह कहा है। इस प्रकार समर्थ-असमर्थ भेद से अर्थात् गृहस्थ-विधुर भेद से एवं दृढ़बीजभाव से इतिकर्तव्यता कही।

इदानीमवसरप्राप्तं उक्तत्यागादिसाधनफलं निरूपयन्ति ततः प्रेमेति । ततस्त्यागादिसाधनानां यथाभावप्रकारानुष्ठानानन्तरं प्रेम भवति, निरुपाधिकः स्नेहो भवति, यथा स्वहेयोपादेयवस्तूनि भगवति तथा विनियुज्यन्ते । स्वात्मवद्भगवदुपचारकारको भावविशेषः । तत्र जाते सर्वत्रौदासीन्यं स्यात् । तदुत्तरं तादृशभाववता तथैव सेवायां क्रियमाणायामासक्तिर्भवति । अत्र तादृशानुपूर्वीविशिष्टैवासक्तिर्विधीयते । न तु स्वरूपतो भेदः । अन्यथा 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव, प्रेमापि हरिणा कृत'मिति विरुध्येत । आसक्तौ हि सर्वेषु अरुचिर्भवति । यथा 'चित्तं सुखेन भवते'ति । ततो यदा पुनरासक्तिरेवावस्थातो व्यसनमपि भवेत्, तदा कृतार्थः स्यात् । परा काष्ठा भक्तेः सैव यद्व्यसनम्, यथा 'तन्मनस्कास्तदालापा' इत्यादि । अवस्थाविशेषं यावद्भावः कुतो न मध्ये कालादिभिरुपहन्यत इत्यत आहुः बीजमिति । भक्तिशास्त्रे बीजं बीजभावः एवोच्यते, तदपि दृढं यत्नापि नैव नश्यति, देशकालादिभिर्न तस्य नाशः । अनेकजन्मभिरपि न तस्य नाशः, किं पुनरन्यैरित्यर्थः ॥ ३, ३ १/२ ॥

अब, कहे समयोचित त्यागादि साधन के फल **ततः प्रेम** इन शब्दों से निरुपण कर रहे हैं। इसके पश्चात् त्यागादि साधनों के यथायोग्य भावानुरूप आचरण करने के बाद प्रेम होता है अर्थात् निरूपाधिक स्नेह होता है। जिस प्रकार स्वयं की हेय एवं उपादेय वस्तुएँ है, वैसे भगवान में विनियोजित करता है। स्वयं की आत्मा की भाँति प्रभु की सेवा करने वाला विशेष भाव 'स्नेह' है। वह होने पर सर्वत्र उदासीनता हो जाती है। इसके पश्चात् वैसे स्नेहभाव वाले के द्वारा की जाती वैसी ही सेवा में ''आसक्ति'' होती है। यहाँ वैसी आनुपूर्वी परंपरागत विशिष्ट आसक्ति कही जा रही है। स्वरूपतः तो भेद नहीं है। अन्यथा ''आसक्ति प्रेमपूर्वक ही होती है, प्रेम भी हरि द्वारा किया गया है'' यह वाक्य विरुद्ध हो

जायेगा। आसक्ति से निश्चय ही सभी में अरुचि होती है। जिस प्रकार ''आपने चित्त को (श्री.भा. १०/२९/३४)'' यह कहा है। इसके पश्चात् जब पुनः आसक्ति की अवस्था से ही व्यसन भी होगा तब वह भक्त कृतार्थ होता है। भक्ति की पराकाष्ठा वही है जो व्यसन को प्राप्त हो जाय जिस प्रकार ''उनके मन, उनकी वाणी (श्री.भा. १०/३०/४४)'' इत्यादि वाक्य हैं। यह विशेष व्यसन अवस्था का जो भाव है, वह कालादि द्वारा मध्य में क्यों नष्ट नहीं हो जाता है? यह शंका होने पर **बीजं** इन शब्दों से कह रहे हैं। भक्तिशास्त्र में बीज को 'बीजभाव' ही कह रहे हैं, वह भी दृढ़, जो नष्ट ही नहीं होता, देशकालादि द्वारा भी उसका नाश नहीं है। अनेक जन्मों से भी उसका नाश नहीं होता, फिर अन्यों द्वारा क्या? यह अर्थ है ॥ ३, ३ १/२ ॥

इदानी प्रेमासक्तिकार्यं तदनुमापकमाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गृहारुचिः ॥ ४ ॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥ ५ ॥

यदि भगवति स्नेहस्तदा पुत्रदारधनदेहादिषु योनुरागश्चित्तव्यासङ्गः स नश्यति । मनः सर्वांशेन भगवदुपयुक्तं नान्यत्र सज्जते इत्यर्थः । आसक्त्या पुनर्गृहे अरुचिः, कदा पुनरिदं गच्छेयेनाहं विमुक्तः स्याम् । गृहे इति यावदात्मीयोपलक्षणम् । सर्वं न रोचत इत्यर्थः । प्रेमासक्त्योः फलद्वयं प्रत्येकमाहुः गृहस्थानामिति । अत्र निर्धारणे षष्ठी, तत्र हेतुबाधकत्वं गुणः । गृहस्थाः स्त्रीपुत्रादयस्तेषां बाधकत्वम्, एते सर्वथा लौकिका उत्पन्नभावनाशका इति भासते । यद्वा । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । तथा च गृहस्थसम्बन्धि यद्बाधकत्वं तत्तदैव भासते, नान्यथेत्यर्थः । गृहस्थपदं प्रवृत्तिमार्गनिष्ठमात्रोपलक्षकमजहल्लक्षणयेति च सम्यक् । एषां पुनरनात्मत्वं अनात्मीयत्वं वा आगमापायित्वमित्यर्थः । तद्भासते । अत्र यावत्प्रेमासक्त्योः सम्भवं विरोधिधर्मवतस्तत्तिरोधानं सम्भवति । उत्पन्ने तु व्यसने साधनमसाधनं वा तुल्यमित्याहुः यदा स्याद्व्यसनमिति । भगवति हृदयाकाशे सर्वांशेन प्रादुर्भूते तदानन्दसम्पत्त्या व्यसनं जायते, अतः फलान्तराभावादिहैवानुभूतफलो विशिष्टेच्छावशतो देहादि विदधन् प्रतिक्षणं जायमानाद्विविधपरमानन्दसम्पर्काद्विगलितवेद्यान्तरविज्ञान-स्त्रिगुणहीनः कृतकृत्यः कर्मत्रिपुटीविहीनः परमात्मन्येव रमते ॥ ४, ५ ॥

अब, प्रेमासक्ति के कार्य के अनुमापक **स्नेहात्** इन शब्दों से कह रहे है। यदि भगवान में स्नेह है तब पुत्र-पत्नी-धन-देहादि में जो अनुराग है अर्थात् चित्तव्यासंग है, वह नष्ट होता है। मन सर्वांश से भगवान के उपयुक्त होता है, अन्यत्र नहीं बँधता, यह अर्थ है। पुनः आसक्ति से गृह में अरूचि होती है; ''कब पुनः यह गृह जाय जिससे मैं विमुक्त होऊँ ऐसा लगता है''। **गृहे** शब्द आत्मीयों का उपलक्षण है। अर्थात् 'गृह' शब्द से केवल ईट-पत्थर से निर्मित गृह वाला अर्थ नहीं अपितु 'गृहस्थजन' अर्थ लेना चाहिए। सभी रोचक नहीं लगते, यह अर्थ है। प्रेम एवं आसक्ति के दो फल में प्रत्येक को **गृहस्थानां** इन शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ निर्धारण में षष्ठी है, वहाँ हेतु 'बाधक' नामक गुण है। यहाँ समझना चाहिए कि व्यसनदशा वाले को तो गृहस्थों का बाधक लगना गुण ही है, अतः बाधक को यहाँ गुण कहा जा रहा है। गृहस्थ अर्थात् स्त्रीपुत्रादि उनके बाधक होते हैं, 'ये सर्वथा लौकिक हैं' अर्थात् ''उत्पन्न हुए भाव के नाशक हैं,'' यह भासित होता है। अथवा। सामान्यसंबंध में षष्ठी है। एवं इस प्रकार गृहसंबंधियों में जो बाधकत्व है, वह तभी भासित होता है जब व्यसन होता है अन्यथा नहीं, यह अर्थ है। 'गृहस्थ' पद प्रवृत्तिमार्ग में निष्ठामात्र का उपलक्षक है एवं अजहत्-लक्षण का सम्यकप्रकार है। यहाँ टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं, कि मूल में आए 'गृहस्थ' पद से न केवल स्वयं के गृह में रहने वालों से तात्पर्य है अपितु किंतु इतर भी, जिन-जिन को गृहस्थाश्रम में रुचि है, वे सभी विवक्षित हैं। संक्षेप में अर्थ यह हुआ कि व्यसन होने के पश्चात् न केवल स्वगृहस्थों में अनात्मत्व होता है अपितु गृहस्थाश्रम में निष्ठा रखनेवालों से सभी से अनात्मत्व हो जाता है, यह अर्थ है।

यहाँ एक 'अजहत्-लक्षण', पद आया है। 'जहाति' शब्द का अर्थ होता है 'छोड़ देना' तदनुसार 'अजहत्' का अर्थ हुआ ''जो न छोड़ा जा सके''। अर्थात् गृह-संसार में प्रवृत्ति 'अजहत्-लक्षण' है जो कठिनाई से ही छूटती है, यह अर्थ है। इन गृहस्थों का पुनः आत्मत्व अथवा अनात्मीयत्व आनेजाने वाला है, यह अर्थ हैं। वह भासित होता है। यहाँ जब तक भगवान में प्रेमासक्ति प्रकट होती है तब विरोधीधर्मवालों में अर्थात् अविवेकी गृहस्थों में उसकी अर्थात् प्रेमासक्ति का तिरोधान हो जाता है। व्यसन उत्पन्न होने पर तो साधन या असाधन समान ही हैं, यह **यदा स्याद्व्यसनं** इन शब्दों से कह रहे हैं। हृद्यरुपी आकाश में सर्वांश में भगवान प्रादुर्भूत होने पर उस आनंदसंपत्ति द्वारा व्यसन उत्पन्न होता है। अतः फलान्तर के अभाव से यहीं अर्थात् प्रभु की इच्छाके वश होकर देहादि धारण करते हुए प्रतिक्षण उत्पन्न होते विविध परमानंद के संपर्क से गलित हो गया है ज्ञान जिसका, ऐसा अंतरज्ञानी, त्रिगुणहीन, कृतकृत्य, कर्मत्रिपुटीहीन परमात्मा में ही रमण करता है ॥ ४, ५॥ टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि भक्ति में बाधाएं तभी तक होती हैं कि जब तक व्यसनावस्था प्राप्त न हुई हो। एक बार व्यसन प्राप्त होने के बाद भक्त आत्माराम हो जाता है। तब वह यदि गृह में भी रहे तब भी कोई आपत्ति नहीं है। ऐसी अवस्था में पहुँच जाने पर फिर फलान्तर का भी भय नही हैं, अतः वह परमानंद का अनुभव करता हुआ कृतकृत्य हो जाता है। यहाँ 'कर्मत्रिपुटी' शब्द आया है, इसे समझें। कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं। एक 'संचित' दूसरा 'प्रारब्ध' एवं तीसरा 'क्रियमाण'। टीकाकार

कहते हैं कि अब व्यसनदशा में पहुँचने पर उसे इन कर्मों की भी कोई अपेक्षा या आवश्यकता नहीं रह जाती। अब उसका केवल एक ही कर्म है एवं वह है 'स्वयं में ही परमानंद का अनुभव करना, यह अर्थ है। त्रिगुणहीन से तात्पर्य है सत्वरजतमादि लौकिक गुणों से रहित अलौकिक निर्गुण-भक्त हो जाता है।

ननु जातव्यसनावस्थेन गृहे स्थेयं न वेत्याकाङ्क्षायामाहुः तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।

एवं भक्तेः पराकाष्ठां विधुरगृहस्थसाधनाधिकारियोग्यतापुरःसरं निरूप्य विरक्तस्य गृहाश्रमेच्छारहितस्य ब्रह्मचारिणो भगवदर्थिनो यतेश्च साधनमाहुः त्यागं कृत्वेति ।

त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥ ६ ॥

लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोभ्यधिकां पराम् ।

तुशब्दोधिकारिविशेषव्यावृत्त्यर्थः । य इति दुर्लभाधिकारः सूचितः । सर्वस्य लौकिकस्य त्यागं कायवाङ्मनसा कृत्वा यतेत् । यत्नश्च प्राप्तमन्त्रस्मरणकीर्तनाराधनभगवल्लिङ्गादिदर्शनादिपरायणतैव । सदृष्टप्रतिबन्धस्याद्प्रतिबन्धस्य चैतन्मार्गपक्षपातिना भगवतैव निवृत्तत्वात्सुदृढां केनाप्यनपनोद्यां भक्तिं लभते । अत भगवदधीनत्वबोधायानुवादो, न तु विधानम् । तत्रापि यदि अन्यशेषत्वेन लोकान्तरापेक्षया मुक्त्याद्यपेक्षां कुर्यात्, तदा उक्तस्वरूपां तां न लभते इति अनवद्यतादशतत्प्राप्तौ अधिकारिविशेषणमाहुः तदर्थेति । भगवद्रपो योर्थस्तदर्थ एवैको मानसे यस्य स तथा । अत्र द्वितीयार्थपदेन तद्रूपस्यैव पुरूषार्थत्वेन ज्ञानं तद्धेतुर्नान्यथेति सूचितम् । सापि भक्तिर्न मनोधर्मरूपा, अपि तु आत्मधर्मरूपा, तां प्राप्नुयादित्याहुः परामिति ॥ ६, ६ १/२ ॥

यहाँ शंका करते हैं कि उत्पन्न हुई व्यसनावस्था से गृह में रहना या नहीं? इस आकांक्षा में **तादृशस्यापि** इन शब्दों से कह रहे हैं।

इस प्रकार भक्तिपराकाष्ठा, विधुरगृहस्थ साधन के अधिकारी की योग्यता आगे निरुपण कर विरक्त अर्थात् गृहस्थाश्रम की इच्छा से रहित ब्रम्हचारी के लिए एवं भगवदर्थी संन्यासी के लिए साधन **त्यागं कृत्वा** इन शब्दो से कह रहे हैं।

'तु' शब्द विशेष अधिकारी के निवारण के लिए है। यहाँ 'व्यावृत्ति' शब्द का अर्थ लौकिक व्यापार नहीं है अपितु ''विगतः आवृत्तिः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ''चली गई है आवृत्ति जहाँ से'' यह अर्थ हुआ। अर्थात् ''निराकरण हो गया'' यह भावार्थ हुआ। यहाँ टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि मूल में आया 'तु' शब्द किसी विशेष अधिकारी को सामान्य अधिकारी से पृथक बताने के लिए है। 'तु' शब्द विशेष अधिकारी को अर्थात् व्यसनदशावाले को सामान्य अधिकारियों की श्रेणी से हटा दे रहा है। संक्षेप में, 'व्यावृत्ति' शब्द से भ्रमित होकर व्यापार वाला अर्थ न लेकर 'निराकरण' वाला अर्थ पाठकों को लेना चाहिए। यः' शब्द दुर्लभ अधिकार सूचित कर कहा है। काया-वाणी-मन द्वारा सभी लौकिक का त्याग करके तदर्थार्थैकमानस होने का यत्न करना चाहिए। एवं 'यत्न' अर्थात् प्राप्त हुए ब्रह्मसंबंध मंत्र के स्मरण-कीर्तन-आराधन-भगवद्स्वरूप के दर्शन आदि में परायण होकर ही करना चाहिए। इस मार्ग के पक्षपाती अर्थात् इस मार्ग पर चलनेवाले के सदृष्टप्रतिबंध एव अदृष्टप्रतिबंध भगवान द्वारा ही निवृत्त होने से वह त्यागी एवं तदर्थार्थैकमानस सुदृढ़, किसी से भी नष्ट न होने वाली भक्ति प्राप्त करता है। ''सदृष्टप्रतिबंध' का अर्थ होता है दिखाई देते प्रतिबंध अर्थात् गृहस्थ स्त्री पुत्रादि एवं 'अदृष्टप्रतिबंध' का अर्थ होता न दिखाई देते प्रतिबंध अर्थात् काल अथवा भाग्य द्वारा होते प्रतिबंध यह अर्थ है। अतः भगवद्-अधीनत्व के बोध के लिए यह अनुवाद है न कि यह विधान है। वहाँ भी यदि अन्यशेषत्वेन लोकांतर की अपेक्षा मुक्ति आदि की अपेक्षा करता हैं तब कहे स्वरुपवाली भक्ति उसे प्राप्त नही होती, इससे वैसी अनिर्दितभक्ति की प्राप्ति में अधिकारी का विशेषण **तदर्था** इन शब्दों से कह रहे है। यहाँ 'अन्यशेष' का अर्थ होता है जो अन्यों से जो शेष रह गया हो वह।'यहाँ लौकिक कामना से यदि वह 'लोकान्तर' अर्थात् पृथ्वीलोक से इतर बम्हलोक, स्वर्गलोक, जललोक की अपेक्षा न रख कर यदि मुक्ति की भी अपेक्षा रखे तो भी उसे कही हुई उत्तम भक्ति प्राप्त नहीं होती। यह अर्थ है। ऐसी अनिंदित भक्ति को प्राप्त करने के जो अधिकारी हैं, उन्हें 'तदर्था' नामक विशेषण से कहा जा रहा है, यह अर्थ है। भगवद्रूप जो अर्थ है, वह 'तदर्थ' है। उस तदर्थ ही में एक मन जिसका है, वह 'तदर्थार्थैकमानस' है। यहाँ भक्ति में द्वितीया विभक्ति करने से उस भक्तिरूप को पुरूषार्थ द्वारा जाना जा रहा है, कोई अन्य हेतु नहीं है, यह सूचित है। अर्थात् भक्ति स्वयं में ही एक पंचम पुरूषार्थ है अतः वह धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन पुरूषार्थो के अंशरुप में नहीं की जा रही है, यह अर्थ है। वह भक्ति भी मनोधर्मरूप नहीं है अपितु आत्मधर्मरूपा है, उसे प्राप्त करता है यह **परां** शब्द से कहा है ॥ ६, ६ १/२ ॥

एवं विशिष्याधिकारं व्याख्याय साधनं अदृष्टकालादेर्भगवन्मार्गे प्रतिबन्धकत्वाभावात् दृष्टं प्रतिबन्धकं प्रदर्श्य तन्निवृत्तिप्रकारपूर्वकं गुणाधानमाहुः त्यागे बाधकेति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथान्नतः ॥ ७ ॥

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥ ८ ॥

गृहत्यागे कृते भक्तेर्बाधकानि भूयांसि संभवेयुः । दुःसंसर्गो भवति, तेन भक्तिविषयेऽसम्भावना विपरीतभावना वा उत्पद्यते, द्वयं वा । तेन भक्तिमार्गीयप्रकारकाचरणाभावाद्भक्तिर्नोत्पद्यते । दुःसंसर्गो वा एकाकिनो वनितादिसङ्गः, तेन विषयावेशे भक्तेरनुद्भवः । उक्तं च भगवता 'सङ्गात्सञ्जायते काम' इत्यादि । अथवा, दुष्टानामवैष्णवानां संसर्गातैः सर्वथा भक्तिनाशो भवेत् । यथैव दुःसंसर्गः सर्वथा बाधकः, तथा अवैष्णवानामनीदृशानामन्नतः अन्नभक्षणतः, अवैष्णवानां जलपानेन भक्तिर्नोत्पद्यते । अत एव धृतवराहरूपेण भगवता पृथ्वीं प्रत्युक्तं 'वैष्णवो यस्तु मोहेन पचेदन्नमनुत्तमम् । अवैष्णवाग्निना देवि तन्न भुञ्जे यथा विषम्'। अन्यत्र च । 'वस्तु यद्वैष्णवं किञ्चियदि पश्येदवैष्णवः । न तन्मय्युपयुञ्ज्येत पुंसि स्त्रीव रजस्वला' । तस्माद् दृष्टभेदेन प्रतिबन्धं व्याख्याय तन्निवृत्तावुपायमाहुः अतः स्थेयमिति । यत उक्तरीत्या भक्तिप्रतिबन्धो भवेत्, अतो हरिस्थाने पुरूषोत्तमस्थाने व्रजे वा श्रीरङ्गधामपुरुषोत्तमक्षेत्रद्वारावती-बदर्याश्रमवेङ्कटादिषु वा स्थेयम् । तत्रापि विविधानां समागमनात्साधनदशापन्नत्वाच्च स्वस्य न सर्वैः सह स्थातव्यम्, उक्तदोषापत्तेः, किन्तु तदीयैर्भगवदीयैर्न तु कर्मिष्ठादिभिर्वा । तत्रापि दीक्षादिकं परिगृह्य केवलं व्याख्यातारः प्रतिष्ठाप्रेक्षका लोकसङ्ग्रहार्थम्, तैर्न स्थातव्यम्, किन्तु तत्परैः कृष्णपरायणैः सेवाश्रवणकीर्तनादिना । अत्र सर्वात्मना भगवति चित्तव्यासङ्गो मुख्यं साध्यम्, तद्यथा सिध्येत्, तथा विधेयम् । तादृशस्थलेपि तत्रैव न स्थेयम्, किन्तु दूरे दूरभिन्ने दूरसदृशे । अथ विप्रकर्षे वा । विवक्षितं तात्पर्यमाहुः यथा चित्तं न दुष्यतीति तथा विधेयम् । चित्ते दोषो बाहिर्मुख्यमभगवत्परत्वमिति यावत्, तद्यथा न स्यात्, तथा यतनीयम् ॥ ७, ८ ॥

इस प्रकार विशेष अधिकार की व्याख्या कर, अदृष्टकाल के साधन अर्थात् भाग्य एवं कालादि के भगवन्मार्ग में प्रतिबंधक के अभाव से दिखाई देते प्रतिबंधक को प्रदर्शित कर, उसकी निवृत्ति प्रकार-पूर्वक गुणों का आधान **त्यागे बाधक** इन शब्दों से कह रहे है। टीकाकार कह रहे हैं, कि भगवन्मार्ग में प्रभुकृपा से भाग्य एवं काल द्वारा प्रतिबंध नहीं होते अतः यहाँ दृष्ट प्रतिबंध को इंगित कर उनकी निवृत्ति भी बताकर जो रहे गुण हैं, उन्हें सामने ला रहे हैं, यह अर्थ है। गृहत्याग करने पर भक्ति में अनेक बाधक संभवित होते हैं। दुःसंसर्ग होता है. उससे भक्तिविषय में असंभावना अथवा विपरीतभावना उत्पादित होती है अथवा दोनों ही । इससे, भक्तिमार्गीय प्रकारक आचरण के अभाव से भक्ति उत्पादित नहीं होती। दुःसंसर्ग अथवा एकांत में स्त्री के संग से विषयावेश होने पर भक्ति का उद्भव नहीं होता। एवं, भगवान द्वारा "संग से काम उत्पन्न होता है (भ.गी.२/६२)" इत्यादि वाक्य कहे ही गये हैं। अथवा, दुष्टों, अवैष्णवों के संसर्ग द्वारा सर्वथा भक्तिनाश होता है। जिस प्रकार दुःसंसर्ग सर्वथा बाधक है, उस प्रकार अवैष्णवों के अर्थात् जो स्वमार्गीय न हों ऐसों के अन्नद्वारा, अन्न के भक्षणद्वारा अवैष्णवों का जल पीने से, भक्ति उत्पादित नहीं होती। अतएवं, वराहरूपधारी भगवान द्वारा, पृथ्वी के प्रति "हे देवि ! जो वैष्णव प्रेम से अत्युत्तम अन्न पकाता है किंतु यदि अवैष्णव की अग्नि से; वह मैं भोग नहीं करता जैसे विष।" यह कहा गया है। अन्यत्र भी कहा है। "वैष्णव की जो वस्तु यदि अवैष्णव किंचित भी देखता है तो मैं वह उपभोग नहीं करता जैसे रजस्वला स्त्री पुरुष के उपयोगी नहीं होती। अतः दृष्ट भेदसे प्रतिबंध की व्याख्या कर, उसकी निवृत्ति के उपाय **अतः स्थेयं** इन शब्दों से कह रहे हैं। चूँकि कही रीति से भक्ति में प्रतिबंध होते हैं। अतः हरिस्थान, पुरूषोत्तमस्थान, व्रज अथवा श्रीरंगधाम पुरूषोत्तमक्षेत्र, द्वारका, बदरी-आश्रम, वैंकटादि में रहना चाहिए। वहाँ भी विविध लोगों का समागम होने से एवं साधनदशापन्न होने से स्वंय को सभी के संग नहीं रहना चाहिए क्योंकि कहे दुःसंसर्ग, अन्नादि के दोष की आपत्ति हैं; किंतु तदीय, भगवदीयों के संग रहना चाहिए न कि कर्मिष्ठ अर्थात कर्म में निष्ठावान आदि के संग। वहाँ भी ब्रह्मसंबंध-दीक्षादि ग्रहण कर, लोकसंग्रह के लिए केवल प्रतिष्ठा की ओर देखनेवाले व्याख्याकारों के संग नहीं रहना चाहिए किंतु तत्पर, कृष्णपरायण, सेवाश्रवणकीर्तनादि में तत्परों के संग रहना चाहिए। यहाँ सभी प्रकार से भगवान में चित्त का व्यासंग ही मुख्यरुप से साध्य है। वह जैसे सिद्ध हो वैसे करना चाहिए। यहाँ सभी प्रकार से भगवान में चित्त का व्यासंग ही मुख्यरुप से साध्य है। वह जैसे सिद्ध हो वैसे करना चाहिए। उपर कहे वैसे स्थल में भी वहीं नहीं रहना चाहिए किंतु दूर अथवा निकट अथवा दूरसदृश रहना चाहिए। विवक्षित तात्पर्य **यथा चित्तं न दुष्यति** अर्थात् जिस प्रकार चित्त दूषित नही होता इन शब्दों से कह रहे हैं, वैसे विधान कर रहे हैं। चित्त में, जहाँ तक, बहिर्मुखता-अभगवतपरत्व दोष जिस प्रकार नहीं होता है, उस प्रकार यत्न करना चाहिए ॥ ७, ८ ॥

ननु भगवत्सेवाया अभावात्तस्याधमत्वमिति चेत्तत्राहुः सेवायां वेति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न कापीति मतिर्मम ॥ ९ ॥
बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥ १० ॥

न वयं तनुजावित्तजाद्यन्यतमसेवायामेव फलत्वं ब्रूमो येन यतिप्रथमानामधमत्वं स्यात्, किन्तु भगवत्प्राप्तिं तत्साधनं च भक्तिर्निरुपाधिकप्रेमात्मिकैवेति तस्यामेव फलनान्तरीयकत्वात् । किमायातमेतावता साधनकलापमननुष्ठातॄणामुत्तमादिविभेदे

उक्तश्रद्धासाधनप्रवृत्तितारतम्यातिरिक्तं हेतुत्वेन । अतः सेवायां द्विविधायामपि गृहस्थस्य, कथायां साम्प्रदायिकगुरुकृपाकटाक्षपूर्वकगृहीत-साम्प्रदायिकगतिना कृतायां यतेर्ब्रह्मचारिणो वा यस्य कस्यचिद्भगवदनुगृहीतस्यासक्तिर्दृढा, केनापि अनपनोद्या हर्षविषादादिनाप्यनपनोद्या भवेत् । ननु इदानीन्तनानां दृश्यते सेवाद्यासक्तिः, कथं न भक्तिरुत्पद्यते इत्याशङ्क्यायामाहुः यावज्जीवमिति । भगवन्मार्गप्रवेशमारभ्य यावद्देहावसानमावर्तमानानामेव श्रवणादीनां दृष्टार्थत्वम्, न तु सकृत्कृतानामिति भावः । य एतादृशस्तस्य क्वापि देशे काले नाशो नाम स्वरूपप्रच्युतिर्न स्यात्, यत्र क्वापि निन्दिते देशादौ तिष्ठेत्सर्वथा मुक्तो भवेत्, किं पुनरुत्तमेनुकूले उक्तविधे देशादावित्याचार्याः स्वयं वदन्ति मम मतिर्मतं सिद्धान्तः । नात्र सन्देहः कर्तव्य इति तत्त्वम् ।

यहाँ यदि शंका हो कि ''भगवत्सेवा के अभाव से उस जीव का अधमत्व सिद्ध होता है? वहाँ **सेवायां वा** इन शब्दों से कह रहे हैं।

हम तनुवित्तजा आदि अन्यतम सेवा का ही फल नहीं कह रहे हैं कि जिससे, संन्यासी प्रथम हैं जिनमें ऐसे ब्रम्हचारी वानप्रस्थ-गृहस्थ का अधमत्व होता है; किंतु भगवत्प्राप्ति एवं उसके साधन भी कह रहे हैं, भक्ति के निरुपाधिक प्रेमात्मिका ही होने से एवं उसी में अंतरीयरुप से फलित होने से। इतने साधन कलापों के अनुष्ठान करने वालों को उत्तमादि विभेद में कहे श्रृद्धा-साधन-प्रवृत्ति के भेद के हेतु के अतिरिक्त क्या मिला? अतः द्विविधसेवा अर्थात् तनुवित्तजा-मानसी में भी गृहस्थ की एवं कथा में सांप्रदायिक गुरु की कृपादृष्टिपूर्वक गृहीत सांप्रदायिक गति द्वारा एवं सन्यासी-ब्रह्मचारी द्वारा की गई, अथवा जिस किसी भगवदनुग्रहीत को आसक्ति दृढ़ होती है वह किसी से भी नष्ट न होने वाली अर्थात् हर्षविषादादि से भी नष्ट न होनेवाली होती है। यहाँ शंका करते हैं, कि अधुना देहधारियों की सेवादि में आसक्ति दिखाई देती है; भक्ति क्यों उत्पादित नहीं होती? यह आकांक्षा होने पर **यावज्जीवं** इन शब्दों से कह रहे हैं। भगवद्मार्गप्रवेश से आरंभ कर देहावसान तक श्रवणादि का पूर्णरुपेणवर्तन करने वालों को भगवद्-रुपी अर्थ दिखाई देता है न कि एक बार करनेवालों को, यह भाव है। जो ऐसा है, उसका किसी भी देशकाल में नाश एवं नामस्वरुप से पतन नहीं होता, जहाँ, किसी भी निंदित देशादि में रहने पर सर्वथा मुक्ति होती है वहाँ पुनः कहे उत्तम-अनुकूल प्रकारक देशादि में रहने पर क्या कहना? इसे आचार्यचरण स्वयं **मम मतिः** इन शब्दो से कह रहे हैं, 'मत' अर्थात् 'सिद्धांत'। यहाँ संदेह नहीं करना चाहिए, यह तत्व है।

ननु विप्रकर्षे स्थेयमित्युक्तम्, तत्र च दुष्टैरन्यैर्वा जन्तुभिः सर्वथा बाधः सम्भाव्यते, तत्कथं विप्रकर्षे एकान्ते स्थेयमित्यत्राहुः बाधसम्भावनायां त्विति । तेन बाधसम्भावनं यत्र न स्यात्, तादृशं स्थलं विमृग्य स्थेयमिति सूचितम् । वस्तुतस्तु अमायया भगवदर्थमेकान्ते वसतः केनापि बाधो न सम्भवतीत्याहुः हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः । एतेन 'चीराणि किं पथि न सन्ति' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां' 'भक्तायातिप्रपन्नाय' 'तथा न ते माधव तावका' इत्यादिप्रमाणपुरःसरं सर्वथा निर्भयतया निश्चित्य स्थेयम्, विश्वस्य भगवदर्थिनेति तत्त्वमुपदिष्टमिति ज्ञेयम् ॥ ९,१० ॥

यहाँ यदि शंका हो कि ''दूर रहना चाहिए'' यह कहा, तब वहाँ दुष्टों या अन्य जीवों द्वारा सर्वथा बाधा की संभावना होती है, तब कैसे दूर एकांत में रहना? इसे **बाधसंभावनायां तु** इन शब्दों से कह रहे हैं। इससे, बाधा की संभावना जहाँ न हो वैसे स्थल को ढूँढ कर रहना चाहिए, यह सूचित कर रहे हैं। वास्तव में तो, मायारहित, भगवान के लिए एकांत में रहते हुए किसी से भी बाधा संभव नहीं होती है यह **हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः** इन शब्दों से कह रहे हैं। इससे पहनने को क्या मार्गो में चिथड़े नहीं है? (श्री.भा.२/२/५)'', ''अनन्यभाव से चिंतन करते हुए मुझे (भ.गी. ९/२२)'', ''शरणागत भक्त के लिए'', ''तथा हे माधव आपके (श्री.भा. १०/२/३३)'' इत्यादि भरपूर प्रमाण होने से सर्वथा निर्भयता से, निश्चित होकर रहना चाहिए; संपूर्ण विश्व के भगवदर्थियों को यह तत्व उपदेश किया है, यह समझना चाहिए ॥ ९,१०॥

एवं ग्रन्थमुपदिश्योपसंहरन्ति इत्येवं भगवच्छास्त्रमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढं तत्त्वं निरूपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्यादृढा रतिः ॥ ११ ॥

इति उक्त एवमनेन प्रकारेण भगवच्छास्त्रे यद्गूढं तत्त्वं तन्निरूपितम् । भगवच्छास्त्रं गीता भागवतं पञ्चरात्रं चेति त्रिकम् । तत्सिद्धान्त एतावानेवेत्यर्थः । गूढतत्त्वमिति विशेषणेप्ययमेवार्थः । उपसंहृत्यैतत्पाठकर्तुरर्थानुसन्धानपूर्वकं पठितुरपि फलमाहुः य एतत्समधीयीत तस्यापि स्यादृढा रतिः । ग्रन्थानुसन्धानात्तत्प्रवृत्यादिक्रमेणोक्तं फलं सर्वथा सेत्स्यतीति भावः ॥ ११ ॥

जिज्ञासितव्यमिदमुत्तमभक्तिचितैः सिद्धान्तरीतिमनुसृत्य मयातियत्नात् ।
क्लृप्तं निबन्धनमसौ विबुधेषु याच्ञा दूष्यं वचो यदि तदा प्रथमं विभाव्यम् ॥ १ ॥
आरब्धमर्थघिषणैरनवद्यमेव व्याख्यासु कौशलकलानिपुणत्वमेव ।
तच्चेच्चिरं भवति तत्कृतकृत्यता स्याद्गोपालपादकमलद्वयसंनिविष्टम् ॥ २ ॥

श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतटीकासमेता ।

संवत्सरे सप्तदशेतिरम्ये वर्षे शरश्रीपतिहस्तसंख्ये ।
दिने तथा श्रावणकृष्णपञ्चद्वयीकृतेसौ विवृतः प्रबन्धः ॥ ३ ॥
काहं मन्दमतिः कायं प्रबन्धस्तत्त्वसङ्ग्रहः ।
शिशूनां भासते रम्यं तथापि कलभाषणम् ॥ ४ ॥
इति श्रीवल्लभात्मजश्रीबालकृष्णकृतभक्तिवर्धिनीटीका समाप्ता ।

इस प्रकार उपदेश कर ग्रंथोपसंहार **इत्येवं भगवच्छास्त्रं** इन शब्दों से कर रहे हैं।

इस तरह, इस प्रकार से कहे भगवद्शास्त्र में जो गूढ़ तत्व है, वह निरूपित किया है। भगवद्-शास्त्र अर्थात् 'गीता', 'भागवत' एवं नारदपंचरात्रस्मृति यह तीन भगवद्-शास्त्र हैं, यह अर्थ है। वह कहा गया सिद्धांत इतना ही है, यह अर्थ है। गूढतत्व यह विशेषण होने पर भी यही अर्थ है। इसके पाठकर्ता अर्थात् अर्थानुसंधानपूर्वक पढ़नेवाले को भी फल उपसंहार कर **यः एतद् समधीयीत तस्यापि स्याद दृढ़ा रतिः** इन शब्दों से कह रहे हैं। ग्रंथ के अनुसंधान से उन भगवान में प्रवृत्ति आदि क्रम से कहे फल, सर्वथा प्राप्त होंगे, यह भाव है।

सिद्धांतरीति का अनुसरण कर, मेरे द्वारा अति यत्न से किए इस संपूर्ण निबंध की जिज्ञासा, उत्तमभक्तिचित्त वालों को करनी चाहिए।
बुद्धिमानों को याचना करता हूँ कि यदि इसमें दूषित वचन हों तो प्रथम निबंध होने से क्षमा करें ॥ १ ॥
अर्थज्ञानियों द्वारा व्याख्यानों में कौशलकलानिपुणता निर्दुष्ट ही है।
किंतु यदि वह गोपालचरणकमलों में संनिविष्ट हो तो उसकी कृतकृत्यता चिरकालीन हो जाती है ॥ २ ॥
संवत १७४५ के इस अतिरमणीय वर्ष में।
तथा 'श्रावण' मास की दशमी के दिन, इस ग्रंथ को विवृत किया ॥ ३ ॥
कहाँ मैं मंदबुद्धि, कहाँ यह तत्वसंग्रहरूप प्रबंध
तथापि शिशु का मधुरभाषण प्रिय ही लगता है ॥ ४ ॥
यह श्रीवल्लभात्मज श्रीबालकृष्णकृत भक्तिवर्द्धिनीटीका समाप्त हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीगिरिधरकृतविवृतिसमेता ।

श्रीविट्ठलपदाब्जत्वा सर्वाभीष्टप्रदान् स्वतः ।
शब्दैः संक्षेपतोर्थैस्तु व्याख्यास्ये भक्तिवर्धिनीम् ॥१॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः परमकृपालवो भगवद्भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वात् तत्त्वमेव वदन्तः स्वीयानां स्वमार्गीयभक्तिकल्पतरोर्बीजावापमारभ्य फलपरिपाकपर्यन्तं प्रवृद्ध्युपायं प्रतिजानते यथेति ।

स्वतः सर्व-अभीष्ट प्रदान करने वाले श्रीविट्ठल के चरणकमलों को प्रणाम कर संक्षेप-अर्थ वाले शब्दों द्वारा भक्तिवर्धिनी की व्याख्या करुँगा ॥१॥

अथ, परमकृपालु श्रीवल्लभाचार्यचरण भगवद्-भक्ति के कल्पतरु स्वभाव से तत्व ही कहते हुए स्वीयों के लिए स्वमार्गीय भक्तिकल्पतरु के बीजभाव-प्राप्ति से आरंभ कर फलपरिपाकपर्यंत प्रवृद्धि के उपायों की प्रतिज्ञा **यथा** इन शब्दों से कर रहे हैं ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरुप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥१॥

येन प्रकारेण भक्तिः प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता स्यात्, तत्प्रकारकोपायो निरुप्यत इत्यर्थः । अत्रोपायत्वाविशेषात् जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । तेन क्रमेणोत्तरोत्तरं दृढतरतमास्त्रिप्रकारका उपायाः सन्तीति तानाहुः । तत्र प्रथमं बीजस्य दृढत्वे सत्येवाग्रे तरोरप्यविनाशित्वं भवति, नो चेद्वातादिवशान्महानपि तरुर्नश्यत्येव । अतस्तमुपायमाहुः बीजेति । बीजभावः श्रीमदाचार्यकृतभगवन्निवेदनानन्तरं तन्मार्गानुसारेण भगवत्स्वरूपनिष्ठारूपः, स यदा दृढो भवति, तदा भक्तिः प्रवृद्धा स्यादिति प्रथमः । तदनन्तरं त्यागात् गृहादिसर्ववस्तुनस्त्यागे कृते सा दृढतरा स्यादिति द्वितीयः । ततः श्रवणकीर्तनात् भगवद्गुणरूपलीलादीनां स्वदेहादिसर्वविस्मरणपूर्वकं तद्रसपरवशतया श्रवणकीर्तने सिद्धे सा दृढतमा स्यादिति तृतीयः ॥१॥

जिस प्रकार से भक्ति भलीभाँति वृद्धि को प्राप्त होती है, वैसे प्रकार के उपाय निरुपित कर रहे हैं, यह अर्थ है । यहाँ उपायत्व विशेष न होने से, जाति-अभिप्राय से एकवचन है । यहाँ "उपाय विशेष नहीं है" यह कहने का तात्पर्य यह है, कि वे उपाय कहे जा रहे हैं, जो कि शास्त्रों में पुराणों में वर्णित ही हैं, कोई नवीन उपाय नहीं कहे जा रहे हैं । दूसरी बात, यहाँ 'उपाय' शब्द में एकवचन दिया गया है, इसका अर्थ यह नहीं है, कि भक्तिकी वृद्धि में सिर्फ एक ही उपाय है, परंतु व्याकरण के नियमानुसार जाति में हमेशा एकवचन होता है । अतः 'उपाय' शब्द जातिविशिष्ट होने से एकवचन में है । इससे, क्रम से उत्तरोत्तर 'दृढ़', 'दृढ़तर', 'दृढ़तम' तीन प्रकार के उपाय हैं, उन्हें कह रहे हैं । वहाँ प्रथम-बीज की दृढ़ता होने पर, आगे तरु की भी अविनाशिता होती है, अन्यथा वातादि के वश से महान्-तरु भी नष्ट होते ही हैं । अतः उनके उपाय **बीज** इन शब्दों से कह रहे हैं । बीजभाव, भगवद्-निवेदन पश्चात् उस मार्गानुसार भगवद्-निष्ठारुप है । वह जब दृढ़ होता है, तब भक्ति प्रवृद्ध होती है, यह प्रथम उपाय है । इसके पश्चात् त्याग से अर्थात् गृहादि सर्ववस्तुओं का त्याग करने पर वह भक्ति दृढ़तर होती है, यह द्वितीय उपाय है । इसके पश्चात् **श्रवणकीर्तनात्** इस शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । भगवद्गुणरुपलीला आदि की स्वयं के देहादि सभी विस्मरणपूर्वक, उस भगवद्-रस के परवशतया श्रवणकीर्तन सिद्ध होने पर, वह भक्ति दृढ़तम होती है, यह तृतीय प्रकार है ।

ननु दृढबीजभावः को वा तस्य दार्ढ्ये प्रकारश्च को वेत्याशंक्य पूर्वं सोद्देशं बीजदार्ढ्यप्रकारं ततो बीजभावस्वरूपं चाहुः बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥२॥

त्वन्तत्वादेतत्प्रकारप्रवृद्धभावस्य विधातकोपि वक्ष्यमाणपदार्थास्तीत्यस्याप्रौढत्वमुक्तं भवति । तथाचायमप्येकः प्रकारो भवतीति तं पूर्वमुद्दिश्याग्रे प्रकारमाहुः गृहेति । स्वगृह एव स्थितः सन् स्वधर्मतः जीवस्य ये वैधा वर्णाश्रमधर्मास्तेभ्योऽव्यावृत्तस्तेषु व्यावृत्तिरहितः सन् विशेषेणावृत्तिः सततं तद्धर्मेष्वेवासक्तिपूर्वकं वाक्कायमनसां परिभ्रमणं तद्रहितः पुष्करपत्रवत् तत्र स्थितोऽपि तान् लोकसंग्रहार्थं यथाकथञ्चित् कुर्वन्नपि तेष्वसक्तः सन्, पूजया तनुवित्तजया सेवया श्रवणादिभिरष्टप्रकारैश्च कृत्वा कृष्णं सदानन्दं पुरुषोत्तमं भजेत् सेवेत । एतेन

लौकिकधर्मव्यावृत्तिं विहाय पूजाश्रवणादिभगवद्धर्मेष्वेव व्यावृत्तः स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीभागवते 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावते'-त्यर्धेन मर्यादामार्गीयस्य कर्माचरणमर्यादामुक्त्वा, अग्रे व्यवस्थया भक्तिमार्गीयस्यापि तामाहुः 'मत्कथाश्रवणादौ वा यावच्छ्रद्धा न जायत' इति । अतो भगवद्धर्मेषु व्यावृत्तस्य लौकिकधर्माव्यावृत्तिर्युक्तैव । अथवा स्वधर्मतः अव्यावृत्तः अनिवृत्तः सन् । पूर्वदशायां चित्तशोधकत्वेन तेषामुपयोगात् । तदुक्तमेकादशे 'अस्मिंल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः । ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया'ति ॥२॥

यहाँ दृढ़ बीजभाव क्या है एवं/अथवा उसकी दृढ़ता में प्रकार क्या है ? ऐसी आशंका कर पहले उद्देश्यसहित बीजदृढ़ता का प्रकार एवं तत्पश्चात् बीजभाव का स्वरुप **बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

अंत में 'तु' शब्द होने से, इस प्रकारक प्रवृद्धिभाव का विघातक भी कहने योग्य पदार्थ है; इससे इस भक्ति की अप्रौढ़ता कही जा रही है यह समझना चाहिए मूलपंक्ति बीजदार्ढ्यप्रकास्तु में अंत में 'तु' शब्द आया है । जिसका अर्थ होता है 'तो' । पूरा अनुवाद करने पर वाक्य बनेगा, 'बीज की दृढ़ता का प्रकार **तो**' । टीकाकार यहाँ कहना चाह रहे हैं, कि 'तु' शब्द किसी विघातक पदार्थ को बता रहा है । क्योंकि 'तु' शब्द से बीजदृढ़ता में कोई अन्य वस्तु अपेक्षित है, अतः अभी वह बीजभाव अप्रौढ़ अर्थात् कमजोर ही है । एवं यह भी एक प्रकार स्वधर्म से गृह में रहना है, इसे पूर्व में उद्दिश्य कर आगे प्रकारों को **गृहे** इन शब्दों से कह रहे हैं । स्वगृह में ही स्थित होकर स्वधर्म से जीव के जो वैधानिक वर्णाश्रमधर्म हैं, उनसे अव्यावृत्त अर्थात् उनमें व्यावृत्तिरहित होकर टीकाकार 'व्यावृत' शब्द का अर्थ कर रहे हैं । अर्थात् विशेषरुप से आवृत्ति सतत उन धर्मों में ही वाणी-काया-मन से, परिभ्रमणरहित होकर, पुष्करपत्रवत् वहाँ रहकर भी उन्हें लोकसंग्रहार्थ यथाकथञ्चित् करते हुए भी उनमें असक्त होकर, पूजा-तनुवित्तजा सेवा द्वारा एवं श्रवणादि अष्टप्रकारों द्वारा कर के सदानंद-पुरुषोत्तम-कृष्ण को भजना-सेवना चाहिए । 'पुष्करपत्र' का अर्थ होता है 'कमल का पत्ता' । कमल के पत्ते की एक विशेषता यह होती है, कि वह जल में रहते हुए भी गीला नहीं होता । टीकाकार इसी का उदा. देते हुए कह रहे हैं, कि जीव को लौकिक वर्णाश्रमधर्म करते हुए भी उनमें आसक्त नहीं होना चाहिए, यह अर्थ है । **इससे लौकिकधर्म अर्थात् व्यावृत्ति छोड़कर पूजाश्रवणादि भगवद्-धर्मों में व्यावृत्त हो, यह अर्थ है ।** अतएव श्रीभागवत में "तभी तक कर्म करने चाहिए, जब तक (श्री.भा.११/२०/९)" इस अर्धश्लोक से मर्यादामार्गीय की कर्माचरणमर्यादा को कहकर, आगे व्यवस्था से भक्तिमार्गीय को भी "अथवा जब तक मेरी कथा-श्रवणादि में श्रद्धा न हो जाय (श्री.भा. ११/२०/९)" इत्यादि वाक्यों से कहा है । अतः भगवद् धर्मों में व्यावृत्त की लौकिक धर्मों में अव्यावृत्ति युक्त ही है । अथवा, स्वधर्मतः अव्यावृत्तः अर्थात् स्वधर्म से अव्यावृत्त, अनिवृत्त होकर कृष्ण को भजना चाहिए । पूर्वदशा में चित्तशोधकता द्वारा उनका उपयोग होने से । स्वधर्म द्वारा अव्यावृत्त अथवा अनिवृत्त होकर कृष्ण को भजना चाहिए । क्योंकि पूर्वदशा अर्थात् बीजदृढ़ता के पहले, स्वधर्म से चित्त शुद्ध होता है । वह एकादश-स्कंध में "इस लोक में स्वधर्म से रहने वाला निष्पाप, विशुद्ध हो जाता है एवं विशुद्ध-ज्ञान प्राप्त करता है या मेरी भक्ति" (श्री.भा. ११/२०/११) इत्यादि वचनों में कहा है ।"

किञ्च, न केवलं भगवद्धर्मस्थितिमात्रेणाहं कृतार्थोस्मि, नातः परमधिकं किञ्चिदस्तीति मन्तव्यम्, किन्त्वग्रे धर्मिसम्बन्ध्यपि किञ्चित् कर्तव्यमेवेत्याहुः व्यावृत्तोपीति ।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यसेत्सदा ।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥३॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।

श्रवणादौ व्यावृत्तोपि हरौ सर्वदुःस्वहर्तरि चित्तं यसेत् प्रयतेत । तथा कुर्वन्नपि प्रेमसेवामपि कुर्यादित्यर्थः । यद्वा । ननु 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुया'दिति न्यायेन देहाध्यासवैधा धर्माः सहसा कथं त्यक्तुं शक्यन्त इत्याशङ्क्याहुः व्यावृत्तोपीति । स्वधर्मेषु व्यावृत्तोपि यथाविधि यावच्छक्यं तान् कुर्वन्नपि श्रवणादिषु भवगद्धर्मेषु हरौ भगवति धर्मिणि च चित्तं यसेत् प्रयतेत । कायिकप्रवृत्त्यां तत्र व्यापृतायामपि वाचिकमानस्यौ ते भगवत्येव प्रयोक्तव्ये सर्वथेत्यर्थः । तावतापि कार्यं सिध्यतीत्यर्थः । एवं बीजदार्ढ्यप्रकारमुक्त्वा क्रमेण वर्धमानं पूर्णं च बीजभावमाहुः ततः प्रेम इति । ततस्तदनन्तरम् ।

और "केवल भगवद्-धर्म में स्थिति-मात्र से मैं कृतार्थ हूँ, न अब कुछ इससे परमधिक है" यह नहीं मानना चाहिए, किंतु आगे धर्मि-संबंधी भी कुछ कर्तव्य हैं ही, यह **व्यावृत्तोपि** इन शब्दों से कह रहे हैं । 'धर्मि' शब्द का यहाँ अर्थ है 'भगवान' । देखें हरिरायजी कृत पुष्टिमार्गलक्षणानि /३ ।

व्यावृत्त होने पर भी सर्वदुःस्वहर्ता हरि में, श्रवणादि में चित्त को लगाने का प्रयत्न करना चाहिए । उस प्रकार करते हुए भी प्रेमसेवा भी करनी चाहिए, यह अर्थ है । अथवा, यहाँ शंका करते हैं, कि "जीवनपर्यंत अग्निहोत्र करे", इस न्याय से देहाध्यास वैधानिक धर्म सहसा कैसे त्यागे जा सकते हैं ? ऐसी शंका होने पर व्यावृत्तोपि इन शब्दों से कह रहे हैं । स्वधर्मों में व्यावृत्त होने पर भी, विधिपूर्वक जहाँ तक संभव हो, उन्हें करता हुआ भी श्रवणादि में, भगवद्धर्मों में, हरि में, भगवान में एवं धर्मि में चित्त को लगाने का प्रयत्न करना

चाहिए। वहाँ कायिक-प्रवृत्ति में व्यावृत्त होने पर भी, वाचिक, मानसिक रुप से वे सर्वथा भगवान में ही प्रयुक्त करने योग्य हैं, यह अर्थ है। उससे भी कार्य सिद्ध होता है, यह अर्थ है। इस प्रकार बीजदृढ़ता के प्रकार को कहकर क्रम से बढ़ता हुआ एवं पूर्ण बीजभाव ततः प्रेम इन शब्दों से कह रहे हैं। ततः अर्थात् उसके पश्चात्।

एवं क्रियमाणेभ्यः श्रवणादिभ्यः पूर्वं भगवद्विषयकं प्रेम उत्पद्यते, ततः क्रमेण भगवत्यासक्तिर्भवति। ततोग्रे व्यसनं भवति। व्यसने जाते तदेव दृढबीजभावपदवाच्यमित्याहुः बीजमिति। भक्तिशास्त्रे तदेव दृढं बीजमित्युच्यते। यद्बीजमुक्तप्रकारेण स्थितौ दृढं सत् कदापि न नश्यति ॥३१/२॥

इस प्रकार किए गये श्रवणादि द्वारा पहले भगवद्-विषयक प्रेम उत्पादित होता है, उसके पश्चात् क्रम से भगवान में आसक्ति होती है। उसके पश्चात् आगे व्यसन होता है। व्यसन होने पर वही बीज 'दृढ़बीजभावपद' वाचक है, इसे बीजं इन शब्दों से कह रहे हैं। तब ही भक्तिशास्त्र में 'दृढ़बीज' कहा जाता है। जो बीज कहे प्रकार से स्थित होकर, दृढ़ होकर कभी भी नष्ट नहीं होता है ॥३१/२॥

ननु प्रेमाद्यवस्थास्तु मानस्यो भवन्ति, ताः कथं पृथक् पृथक् ज्ञायन्त इत्याशङ्क्य तासां व्यावर्तकधर्मानाहुः स्नेहादिति।

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्यादृहारुचिः ॥४॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदां स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥५॥

भगवति स्नेहे उत्पन्ने तत्पूर्वं स्थितस्येतरविषयकानुरागस्य विशेषेण नाशः स्यात्। ततो यदा भगवत्यासक्तिर्जायते, तदा गृहे गृह्यपदार्थेषु चारुचिर्भवति। तत्र स्थितबन्धुकलत्रादिषु किञ्चिद्विशेषमाहुः गृहस्थानामिति। गृहस्थिता ये बन्धुकलत्रादयस्तेषां स्वस्मिन्स्थितभगवद्भावे बाधकत्वमत एवानात्मत्वं च स्वस्य भासते। अयमाशयः। गृहे ये बन्धुकलत्रादयस्ते सर्वे नैकजातीयभावाः, किन्तु विजातीयभावाश्चान्योन्यम्। तत्र केचन लौकिका दैहिकधर्मपराः, केचन वैष्णवा अपि नानाविधभगवद्धर्मपराश्च भवन्ति। तथा च भगवदासक्तिपूर्णानां मनसि तेषु सम्यक्त्वेनोपादेयत्वं न स्फुरति। एकेषु स्वभावविघातकत्वेनैतत्सङ्गः सर्वात्मना न कर्तव्य एवेति भासते। अपरेषु वैष्णवत्वेपि विजातीयभाववत्त्वेन नैते मद्भावस्य पोषकाः, किन्तु विक्षेपका इति नात्मीया भवन्त्यतः समुपेक्ष्या एवेति भासत इति।

यहाँ शंका करते हैं, कि प्रेमादि अवस्था तो मन की होती हैं ।उन्हें पृथक् पृथक् कैसे जाना जाता है ? उनके व्यावर्तक बतानेवाले धर्मो को स्नेहात् इन शब्दों से कह रहे हैं।

भगवान में स्नेह-उत्पन्न होने के पूर्व इतरविषयक-स्थित अनुराग का विशेष-रूप से नाश होता है। इससे जब भगवान में आसक्ति पैदा होती है, तब गृह में एवं गृहपदार्थों में अरुचि होती है। वहाँ रह रहे बंधु-पत्नी आदि में कुछ विशेष **गृहस्थानाम्** इन शब्दों से कह रहे हैं। गृहस्थित जो बंधु-पत्नी आदि हैं, उनके स्वयं में स्थित भगवद्-भाव में बाधकत्व होने से अतएव अनात्मत्व ही स्वयं को भासित होता है। यह आशय है, कि गृह में जो पत्नी-बंधु हैं, वे एकजातीय भाववाले नहीं, किंतु परस्पर विजातीय-भाव वाले होते हैं। वहाँ कुछ लौकिक, दैहिकधर्मपर एवं कुछ वैष्णव होते हुए भी नानाविध-भगवद्-धर्मपर होते हैं। एवं भगवदासक्तिपूर्णों के मन में उनकी भलीभाँति उपादेयता स्फुरित नहीं होती है। एक एक में स्वभाव-विघातक होने से इनका संग सभी प्रकार से नहीं करना चाहिए, यही भासित होता है। दूसरे में वैष्णवता होने पर भी, विजातीय-भाव-वाले होने से "वे मेरे भाव के पोषक नहीं, किंतु विक्षेपक हैं" अतः आत्मीय नहीं होते हैं। अतः समुपेक्षा ही भासित होती है।

अग्रिमावस्थामाहुः यदेति। यदैव कृष्णे सदानन्दे व्यसनं तस्योत्पद्यते, तदैव कृतार्थः साधितः सम्यगर्थः भक्तिपदार्थो येन तादृशः स्यात्। व्यसनस्वरुपं तु 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत्' इत्यादि। व्यसनपदेन यथा द्यूतकामादिव्यसनिनः ऐहिकपारलौकिकेभ्यो लज्जाभयादिकं सहसा परित्यज्य तत्तत्परतयैवेतरानुसन्धानरहिताः सन्तस्तिष्ठन्ति, तथैतेपि सर्वं परित्यज्य भगवदेकपराः सन्तस्तिष्ठन्तीति ज्ञाप्यते। परमेतावान् विशेषः, तत्र वैषयिकत्वादसद्रूपं सर्वम्, अत्र तद्रहितत्वात्परमकाष्ठापन्नं सर्वमिति। अन्यथा 'विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वदा हरे'रित्याचार्या न वदेयुः। तथा चैवं व्यसनावस्थायां जातायामेव बीजभावस्य पूर्णं दृढत्वं स्यादित्यर्थः। एवं पुष्टिभक्तिकल्पतरोः सर्वथाऽविनाशिदृढतमबीजभावो निरुपितः। ततोऽग्रे शास्त्रापन्नादिस्थानीयभावानां वृद्धिरनुक्तसिद्धैवेति हृदयम् ॥४,५॥

अग्रिम व्यवस्था **यदा** इन शब्दों से कह रहे हैं। जब सदानंद-कृष्ण में ही उनका व्यसन उत्पादित होता है, तब ही कृतार्थ अर्थात् "साध लिया गया है, सही अर्थ अर्थात् भक्तिपदार्थ जिसने" वैसा होता है। व्यसनस्वरुप तो "जिनके बिना एक क्षण जिनका सौ युग की भाँति हुआ (श्री.भा. १०/१९/१६)" इत्यादि श्लोक से समझना चाहिए। 'व्यसन' पद से, जिस प्रकार जुआ, कामादि के व्यसनी ऐहिकपारलौकिक से लज्जाभयादि सहसा परित्याग कर उसमें तत्परतया अर्थात् इतर अनुसंधान से रहित होकर रहते हैं, उसी प्रकार इससे व्यसन से भी सभी परित्याग कर, भगवदेकपर होकर रहना चाहिए, यह ज्ञापित होता है। परंतु इतना विशेष है, कि वहाँ गृह में वैषयिक अर्थात् विषयसंबंधित होने से सभी असद्-रुप है, यहाँ उससे रहित होने से सभी परम-काष्ठापन्न है। अन्यथा "सर्वदा विषयाक्रांत देहों का

हरि में आवेश नहीं होता (सं.नि./६)'' यह आचार्यचरण न कहते । एवं, इस प्रकार व्यसनावस्था होने पर ही बीजभाव का पूर्ण दृढ़त्व होता है, यह अर्थ है । इस प्रकार पुष्टिभक्तिकल्पतरु का सर्वथा अविनाशी दृढ़तम बीजभाव निरुपित हुआ । इससे आगे शास्त्रापत्रादि स्थानीय भावों की वृद्धि अनुक्त ही सिद्ध है, यह हृदयंगम करना चाहिए ।।४,५।।

नन्वतिदृढत्वाद्बीजभावस्य नाशो मास्तु, परन्तु तदुत्पन्नकोमलशास्त्रापल्लवादीनां पक्षिमृगादिकृतकृन्तनवदिहापि बीजोत्पन्नावान्तरभावनाशस्तु सम्भाव्यत एवेत्याशङ्क्य पूर्वं नाशकपदार्थमुद्दिशन्ति तादृशस्यापीति ।

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशनम् ।
त्यागं कृत्वा यसेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ।।६।।
लभते सुदृढ़ां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।

सञ्जातव्यसनस्यापि सततं गृहस्थानं गृहे स्थितिर्विनाशनं बीजोत्पन्नकोमलभावानां विघातकमित्यर्थः । एवमुद्दिश्यैतत्प्रतीकारमपि वदन्तः पूर्वोक्तभक्तिप्रवर्धकोपायेषु द्वितीयमुपायमाहुः त्यागमिति । गृहादिसकलवस्तुनस्त्यागं कृत्वा यसेत्, व्यसनदार्ढ्यप्रयत्नं कुर्यादित्यर्थः । अयं त्यागस्तु संन्यासनिर्णयोक्तभक्तिमार्गीयतुरीयाश्रमग्रहणरुपः । तत्र त्यागेपि प्रकारविशेषेण स्थितिं वदन्तस्तृतीयं भक्तिप्रवृद्ध्युपायमाहुः यस्तु तदर्थार्थैकमानस इति । तु पुनः यः तदर्थार्थैकमानसः स भगवानेवार्थः सकलपदार्थरुपो येषां ते तदर्थाः स्वतन्त्रभक्तास्तेषामप्यर्थः मुख्यः पदार्थस्तादृशभक्तैः सह मिथो गुणगानरुपान्तररमणात्मिका केवला वा विप्रयोगावस्था । तत्रैवैकं केवलं मुख्यं च मानसं यस्य तादृशः सन् यसेत्, तत्तद्भावानुभवं कुर्यात्, सः सुदृढ़ां कालादिभिरपि चालयितुमप्यशक्यां सर्वतः मुक्त्यादिभ्योपि अधिकां परां परमकाष्ठापन्नां स्वतन्त्रफलरुपां भक्तिं लभते प्राप्नोति । एतेन पूर्वोक्तैस्त्रिभिर्भक्तिप्रवर्धकोपायैः क्रमेणोत्तरोत्तरमधिका सुदृढा, सर्वतोऽधिका, परा चेति त्रिविधापि भक्तिप्रवृद्धिरुक्ता ।

यहाँ शंका करते हैं, कि अतिदृढ़बीज भाव का नाश न हो, परंतु उससे उत्पन्न कोमल शास्त्रा-पल्लव आदि का पक्षिमृगादिकृत कुतरने की भाँति, बीज उत्पन्न होने के पश्चात् भावनाश तो संभावित ही है ? इस आशंका से, प्रथमतया नाशकपदार्थ को **तादृशस्यापि** इन शब्दों से उद्देशित कर रहे हैं । टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि बीज दृढ़ हो गया हो, उसका नाश भले ही न हो, परंतु उस बीज से उत्पन्न पल्लव एवं शास्त्रा आदि तो कोमल ही होते हैं एवं पक्षियों के कुतरने से वे नष्ट हो ही जाते हैं । उसी प्रकार भक्ति का बीजभाव भले ही दृढ़ हो गया हो, परंतु तत्पश्चात् उससे उत्पन्न पल्लवरुपी प्रेमासक्तिव्यसन तो प्रारंभिक दशा में कोमल अर्थात् अदृढ़ ही होते हैं । अतः नष्ट हो सकते हैं । वे नष्ट किससे होते हैं, ये आगे कह रहे हैं । हुए व्यसन को भी गृहस्थान अर्थात् गृह में स्थिति विनाशक है, अर्थात् बीज से उत्पन्न कोमल भावों की विघातक है, यह अर्थ है । इस प्रकार उद्देशित कर इनके प्रतीकार भी कह रहे हैं । पूर्व में कहे भक्तिप्रवर्धक उपायों में द्वितीय-उपाय **त्यागं** इन शब्दों से कह रहे हैं । गृहादि सभी वस्तुओं का त्याग कर, व्यसनदृढ़ता का प्रयत्न करना चाहिए, यह अर्थ है । यह त्याग तो संन्यासनिर्णय में कहा भक्तिमार्गीय चतुर्थाश्रमग्रहणरुप है । वहाँ त्याग में भी विशेष प्रकार से स्थिति कहते हुए **यस्तु तदर्थार्थैकमानस** इन शब्दों द्वारा भक्तिवृद्धि का तीसरा उपाय कह रहे हैं । 'तु' शब्द पुनः जो **तदर्थार्थैकमानस** अर्थात् वह भगवान ही हैं सकलपदार्थरुप अर्थ जिनके, वे तदर्थ हैं अर्थात् स्वतंत्रभक्त हैं । उनके भी अर्थ अर्थात् मुख्यपदार्थ अर्थात् वैसे ही भक्तों के संग परस्पर गुणगानरुपा, अथवा आंतररमणात्मिका- केवला - विप्रयोगावस्था में है मन जिनका ऐसे होते हैं । केवल वहीं एवं मुख्य, एकमन जिसका है, वैसा होकर प्रयत्न करना चाहिए, उन उन भावों का अनुभव करना चाहिए । वह सुदृढ़, कालादि से भी चलायमान होने में अशक्य, सभी से अर्थात् मुक्ति से भी अधिक, परा, परमकाष्ठापन्न-स्वतंत्रफलरुपा-भक्ति प्राप्त करता है । इससे, पूर्व में कहे तीन भक्तिप्रवर्धक उपायों द्वारा क्रम से उत्तरोत्तर अधिक, 'सुदृढ़', 'सर्वतोऽधिक' एवं 'परा' यह त्रिप्रकारक भक्तिप्रवृद्धि कही ।

ननु 'ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधका' इत्युक्तेः कथं गुणगानस्य परमफलत्वमुच्यत इति चेत् । मैवम् । ते तु मार्यादिका एव बाधकाः, नैतन्मार्गीयाः । अन्यथा तत्रैवाग्रे 'गुणास्तु सङ्गरहित्याज्जीवनार्थं भवन्ति ही' त्याचार्या न वदेयुः । न'न्वधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्ज्ञानि'रिति न्यायेन विरहे जीवनाशा तदर्थं यत्नश्चोभौ सुतरां न युक्ततराविति चेत् । न । जीवन्मृते विरहजदुःस्वस्यानुभवासम्भवात् । अन्यथा घातपातादिनापि जीवनमपहातुं शक्यत एवेति तथैवोक्तं स्यात् । अतो नेह तथा, यतो विरहस्य सम्यगनुभवार्थमेव परित्यागस्य बोधनमस्तीति दिक् । एवं फलपर्यन्तं भक्तिः सोपाया निरुपिता ।।६$^{1}/_{2}$।।

यहाँ शंका करते हैं, कि ''ज्ञान एवं गुण, इस प्रकार वर्तन करने वाले के बाधक हैं'' (सं.नि./९) इस उक्ति में कैसे गुणगान को परम फल कह रहे हैं ? ऐसा नहीं है । वे तो मर्यादामार्गीयों को ही बाधक हैं, एतन्मार्गीय को नहीं । अन्यथा वहीं आगे ''भगवद्गुण तो भगवदीयों का संग न होने से जीवन के लिए उपयोगी है'' (१२) यह आचार्यचरण न कहते । यहाँ शंका करते हैं, कि ''वहाँ अधिक प्रवेश, उसकी हानि नहीं है'' इस न्याय से, 'विरह में जीवनाश' एवं 'उन भगवान के लिए यत्न' दोनों भलीभाँति युक्ततर नहीं हैं ? नहीं । जीवन-मरण होने पर विरहजनित दुस्व का अनुभव असंभव होने से । अन्यथा आत्मघात आदि के द्वारा भी जीवन-नाश शक्य ही है, अतः उस प्रकार कहा है । अतः ऐसा विरह में जीवनाश नहीं है, क्योंकि विरह का भलीभाँति अनुभव के लिए ही परित्याग का बोधन है; यह दिशा स्पष्ट हुई । इस प्रकार फलपर्यन्त-भक्ति उपायसहित निरुपित की गई ।।६$^{1}/_{2}$।।

ननु सञ्जातव्यसनस्यापि यतस्त्यागमृते न फलसिद्धिस्ततोऽसंजातप्रेमाद्यवस्थ एव येनकेनापि हेतुना यथाकथञ्चित्संजातस्पृहादिविराग एव कथं न सर्वत्यागं कुर्याद्यतस्तदनन्तरं फलाऽवश्यंभावो भवतैवोच्यत इत्याशङ्क्याहुः त्याग इति ।

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाव्रतः ॥७॥

साधनदशायामेव त्यागे कृते तत्र भूयांसो बाधकाः सम्भवन्तीत्यर्थः । ननु ते किंमूलमादाय सम्भवन्तीत्याशङ्क्यायामाहुः दुःसंसर्गादिति । दुष्टैः सह संसर्गेण दुष्टानां दुष्टे वा अन्ने भुक्ते बाधका उत्पद्यन्ते । अयमर्थः । सर्वं त्यक्त्वा यत्र कुत्रचित्स्थितेनापि यतिना नैकाकिना नापि क्षुत्पिपासार्दितेन कथञ्चित्स्थातुं शक्यते, अपक्वदशापन्नत्वात्, तथा च तदर्थं दुष्टैः सङ्गे दुष्टान्नभोजने च कृते सर्वं कृतमप्यकृतप्रायं भवतीति तथा । तदुक्तं श्रीमदाचार्यैः संन्यासनिर्णये 'गृहादेर्बाधकत्वेने'त्यारभ्य 'अतोत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुस्वावह' इत्यन्तेन । अतोस्मिन् भक्तिमार्गे साधनदशायां परित्यागो न कर्तव्य इत्युक्तं भवति ॥७॥

यहाँ शंका करते हैं, कि हुए व्यसन की भी, चूँकि त्याग के अतिरिक्त अन्य कोई फलसिद्धि नहीं है, अतः इससे अनुत्पन्न प्रेमादि ही जिस किसी हेतु से जनित सांसारिक इच्छा से विराग होने पर ही क्यों न सभी त्याग करना चाहिए ? क्योंकि उसके पश्चात् फल अवश्यंभावी होगा ही, यह कह रहे हैं । ऐसी आशंका से **त्याग** इन शब्दों से कह रहे हैं । टीकाकार पूर्वपक्षी की शंका उठा रहे हैं, कि यदि व्यसन हो भी जाय तथापि त्याग के अतिरिक्त कोई अन्य फलसिद्धि नहीं है । अतः जब प्रेम, आसक्ति एवं व्यसन ये तीन अवस्थाएँ हुई ही न हों, ऐसी पूर्वदशा में ही किसी सांसारिक विराग हो जाने पर ही क्यों न त्याग कर देना चाहिए ? त्याग के लिए व्यसनावस्था तक राह देखने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि सांसारिक मोह छूट जाने पर किया त्याग भी तो त्याग ही है । भले ही फिर वह प्रभु के लिया किया गया न भी हो । इस त्याग का फल भी तो प्राप्त होगा ही । साधन-दशा में ही त्याग करने पर वहाँ बहुत बाधक संभव होते हैं, यह अर्थ है । यहाँ शंका करते हैं, कि वे क्या मूल लेकर संभव होते हैं । अर्थात् मूल में वे बाधक क्या हैं एवं वे कैसे संभव होते हैं ? यह अर्थ है ।

यह आशंका में **दुःसंसर्गात्** इन शब्दों से कह रहे हैं । दुष्टों के साथ संसर्ग द्वारा अथवा दुष्टों के दुष्टान्न खाने पर बाधक उत्पन्न होते हैं । यह अर्थ है । सभी त्याग कर, यहाँ वहाँ रहने पर भी, एकाकी न रहने पर भी सन्यासी द्वारा भूख-प्यास आदि से दुःखी न होने पर भी किसी प्रकार रहा जा सकता है । अपक्वदशा होने के कारण एवं भगवान के लिए दुःसंग एवं दुष्टान्न भोजन करने से किया सभी कुछ व्यर्थ ही हो जाता है, ऐसा होता है । वह श्रीमदाचार्य ने संन्यास-निर्णय में "गृहादि बाधक होने से (सं.नि./४)" यहाँ आरंभ कर "अतः यहाँ भक्तिमार्ग में साधन-दशा में त्याग सुस्वकारी नहीं है (सं.नि./६)" यहाँ तक कहा है । अतः इस भक्तिमार्ग में साधनदशा में परित्याग नहीं करना चाहिए, यह युक्त है ॥७॥

नन्वेवं च सति साधनदशापन्नैः स्वभार्यादिकृतसेवादिप्रातिकूल्यसम्भवे कुत्र कथं च स्थेयमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत इति ।

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरविप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥८॥

यतः साधनदशायां त्यागे कृते बाधकभूयस्त्वमत एव हरेर्भगवतः स्थाने निबन्धोक्तेषु पुरुषोत्तमादिषु व्रजादिषु वा स्थेयं स्थितिः कर्तव्येत्यर्थः । अत एव निबन्धेपि स्वभार्यादि प्रातिकूल्येन गृहे स्थातुमशक्तस्य गृहादित्यागप्रकारमुक्तवन्तः श्रीमदाचार्याः, 'भार्यादिरनुकूलश्चेत्कारयेद्भ गवत्क्रियाम् । उदासीने स्वयं कुर्यात्प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति । अयं त्यागस्तु न तुरीयाश्रमग्रहणरुपः, किन्तु गृहस्थेषु कलत्रादिषु मध्ये एकः द्वौ बहवो वा ये एव प्रातिकूल्यं सेवादौ कुर्वन्ति, तानेव यावच्छक्यं त्यजेदित्येवंबोधकः । अत एव 'गृहं त्यजे'दित्यस्य विवरणं 'गृहं भार्यादिक'मित्युक्तम् । दैवात्पुनः सर्वप्रातिकूल्ये तु सेवाद्यनिर्वाहात् स्वस्य स्थातुमशक्तेर्वा गृहमेव परित्यज्य सेवादिसामग्रीमपि स्वसार्थं एव नीत्वा पूर्वोक्तभगवत्स्थानेषु यत्र कुत्रापि स्थितः सन् तत्परतया सेवादिकं कुर्यादित्याशयः । एवं च सति पूर्वोक्तत्यागनिषेधस्तु तुरीयाश्रमीणत्यागपर एव । यतस्तत्र सेवाद्यवलम्बासम्भवेनापक्वत्वेन च दुःसङ्गदुष्टान्नभोजनादिकं भवत्येव । तत्तु सर्वथा बाधकम् । अत एवैकादशस्कन्धे दुःसङ्गस्य बाधकत्वमुक्तम् । 'सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरनृणां क्वचित् । तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धव'दित्यादिभिः । दुष्टान्नस्य तु बाधकत्वमुक्तं पद्मपुराणे । 'अवैष्णवानामन्नं च पतितानां तथैव च । अनर्पितं च यद्विष्णोः श्वमांससदृशं विदु'रित्यादिभिः । पक्वदशापन्नानां तु 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेद'मित्यादिना स्वरुपनिरुपणात्स्वात्मादिसर्वानुसन्धानापगमादेव तत्तद्विषयाभावानां दुर्वारगर्वग्रहत्वमिति दिक् ।

यहाँ शंका करते हैं, कि एवं ऐसा होने पर साधनदशापन्न होने से, स्वपत्नी आदि द्वारा किए सेवादि में प्रतिकूलता संभव होने पर कहाँ एवं कैसे रहना चाहिए ? इस आकांक्षा में **अतः** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

चूँकि साधनदशा में त्याग करने पर बाधकों की बहुलता है । अतएव हरि के स्थान में, भगवद्-स्थान में या निबंध में कहे पुरुषोत्तम आदि के व्रजादि में रहना कर्तव्य है । अतएव निबंध में भी स्वपत्नी आदि के प्रतिकूल होने पर, गृह में रहने के लिए अशक्त जीव को गृहादि का त्याग प्रकार श्रीमदाचार्य ने "यदि पत्नी आदि अनुकूल हों, तो भगवद्-क्रिया करवानी चाहिए । उदासीन होने पर स्वयं करनी

चाहिए; प्रतिकूल होने पर गृह त्याग करना चाहिए (स.नि./२३३)'' यह कहा है । यह त्याग तो चतुर्थाश्रमग्रहणरुप नहीं, किंतु गृहस्थ-पत्नी आदि के मध्य में एक, दो या बहुत जो भी सेवादि मे प्रतिकूलता करते हैं, उन्हें ही जहाँ तक शक्य हो, त्यागना चाहिए, इस प्रकार का बोधक है । अतएव ''गृह त्यागना चाहिए'' इसका विवरण 'गृह, पत्नी आदि हैं' यह है । दुरभाग्य से सभी प्रतिकूल होने पर तो सेवादि का निर्वाह न होने से अथवा स्वयं का रहना अशक्य होने से गृह ही परित्याग कर, सेवादि सामग्री भी स्वयं ही लेकर, पूर्व में कहे भगवत्-स्थानों में जहाँ-तहाँ भी रहते हुए तत्परतया सेवादि करनी चाहिए, यह आशय है । एवं, इस प्रकार पूर्व में कहा त्यागनिषेध तो चतुर्थाश्रमपरक त्याग ही है । क्योंकि सेवा में अवलंब मदद असंभव होने से एवं अपक्व होते से दुःसंग-दुष्टान्नभोजनादि होता ही है । वह तो सर्वथा बाधक है । अतएव एकादश-स्कंध में दुःसंग को बाधकत्व कहा है । ''विषयसेवन एवं उदरपोषण में ही लगे असद्-पुरुषों का संग नहीं करना चाहिए (श्री.भा. १/२६/३)'' इत्यादि श्लोक द्वारा । दुष्टान्न को तो पद्मपुराण में ''अवैष्णवों का अन्न एवं पतितों का अन्न एवं उसी प्रकार विष्णु को न अर्पित किया अन्न, श्वमांस के सदृश जानना चाहिए'' इत्यादी वाक्य द्वारा बाधकत्व कहा है । परि पक्वदशापन्नों को तो ''वे प्रेम-तन्मयता से सबकी सुधबुध भूल गई थी (श्री.भा.११/१२/१२)'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा स्वरुपनिरुपण से स्वात्मा आदि सभी अनुसंधान (भगवान में) लगाने से उन[२] (सांसारिक) विषयों के अभाव से (पैदा हुआ) गर्व दूर होना कठिन है । यहाँ समझना चाहिए, कि भक्ति की परिपक्व दशा में पहुँचे जीव, आत्मासहित सभी कुछ भगवान को समर्पित कर देते हैं अर्थात् सांसारिक वस्तुओं से उनकी अहंताममता निवृत्त हो जाती है एवं उनके जीवन में सांसारिक समस्त विषयों का अभाव हो जाता है । टीकाकार कह रहे हैं, कि ऐसा होने पर उसे भक्ति का गर्व पैदा होता है । वे इसकी प्रशंसा करते हुए कह रहे हैं, कि वह गर्व दूर होना कठिन है । विशेष देखें (सुबोधिनी : १०/६०/२९) यह दिशा स्पष्ट हुई ।

एवमेषां वासस्थलमुक्त्वा स्थितौ प्रकारमाहुः तदीयैरिति । भगवदेकपरा ये भगवदीयास्तैः सह मिलित्वा तन्निकट एव अर्थात् तैः सहैव वसन् सेवाश्रवणकीर्तनादिपरतया स्थेयम् । एतेन दुःसङ्गदुष्टान्नप्रभवा दोषा निवारिताः । न'न्वतिपरिचयादवज्ञे'ति न्यायेन कथं सततं निकट एव स्थातुं शक्यत इत्याशङ्क्य प्रकारान्तरमप्याहुः अदूरेति । वा अथवा अदूरो दूरत्वाभावः तद्वान् यो विप्रकर्षो दूरदेशस्तत्र स्थेयमित्यर्थः । अर्थात् नातिदूरे नातिनिकटे परं ततः किञ्चिद्देशव्यवधानेन स्थेयम् । मिलनादिकं तु तैः सह नित्यं सर्वथा कर्तव्यमेव । अन्यथा तदैवासुरभावप्रवेशः स्यात् । अदूरमिति पाठेऽदूरमिति क्रियाविशेषणम् । अग्रे पूर्ववत् ।

इस प्रकार उनका वासस्थल कहकर रहने का प्रकार **तदीयै** इन शब्दों से कह रहे हैं । भगवदेकपर जो भगवदीय हैं उनके संग मिलकर उनके निकट ही अर्थात् उनके संग ही रहते हुए, सेवाश्रवणकीर्तनादिपरतया रहना चाहिए । इससे दुःसंग, दुष्टान्न अनेक दोष निवारित होते हैं । यहाँ शंका करते हैं, कि ''अति परिचय से अवज्ञा'' इस न्याय से कैसे सतत, निकट ही रहना शक्य है ? ऐसी आशंका कर दूसरा प्रकार **अदूरे** इन शब्दों से कह रहे हैं । 'वा' अर्थात् अथवा **अदूर** अर्थात् दूरत्व का अभाव; उस जैसा जो विप्रकर्ष अर्थात् दूरदेश है, वहाँ रहना चाहिए, यह अर्थ है । अर्थात् न अति दूर, न अति निकट, परंतु उनसे कुछ स्थान के व्यवधान द्वारा रहना चाहिए । मिलना-जुलना तो उनके संग नित्य, सर्वथा करना ही चाहिए । अन्यथा उसी समय आसुरभावप्रवेश होता है । **अदूरं** इस पाठ में 'अदूर' यह क्रिया विशेषण है । आगे पूर्व की भाँति ।

नन्वेवं चेत् किमिति व्यवधानेन स्थितिर्बोध्यत इत्याशङ्क्यायामाहुः यथेति । यथा यत्प्रकारकस्थितौ स्वस्यान्येषां च चित्तं कदापि न दुष्टं भवति तथा स्थेयमित्यर्थः । अत्रायं समुदायार्थः । भार्यादीनां सेवादावानुकूल्ये सति तैः सहैव सेवां कुर्वन् तैश्च कारयन्स्वगृहे स्थेयम् । उदासीनेषु तेषु सत्सु गृह एव स्वयमेव सेवादिकं कुर्यात् । तदभावे तु तेषु प्रातिकूल्यं परित्यजेत् । सर्वप्रातिकूल्ये गृहमेव त्यक्त्वा भगवत्स्थाने स्थितः भगवदीयैर्मिलित्वा सेवा कथादिपरतया तिष्ठेत् । अथ तत्सहवासे चेत्स्वमनसि तद्विषयकं दोषादिकमाभाति, अथवा स्वादृष्टवशात्तेषामेव मनसि स्वविषयकं तदायातीति मनसि सम्भाव्य तेभ्यः किञ्चिद्दूरदेशे स्थित्वा तत्रैव सेवादिकं कुर्यात्, तदनवसरे तत्र गत्वा तैः सह श्रवणकीर्तनादि परतया तिष्ठेदित्यर्थः सम्पन्नः । यद्वा । अदूरेति । भगवत्स्थानादेवादूरविप्रकर्षे स्थेयम् । तत्रैव स्थितौ तु अतिपरिचयाद्भगवतो भगवदीयानां वा विषयका अपराधाः सम्भवन्ति, तेन तु स्वस्य चित्तं दुष्यत्येवेत्यत आहुः यथेति । यथैव स्थिते चित्तं न दुष्यति तथैव स्थेयमित्यर्थः ॥८॥

यहाँ शंका करते हैं, कि यदि ऐसा है, तो क्या यह स्थिति व्यवधान के कारण बोधित कर रहे हैं ? अर्थात् उपर जो दूर रहने को कहा एवं तत्पश्चात् निकट भी रहने को कहा, तो क्या कोई व्यवधान होने के कारण ऐसा कहा ? यह टीकाकार शंका उठा रहे हैं । इस आशंका में **यथा** इन शब्दों से कह रहे हैं । जैसे, जिस प्रकारक स्थिति में स्वयं या अन्य का चित्त कदापि दुष्ट नहीं होता, वैसे रहना चाहिए, यह अर्थ है । यहाँ यह समुदाय अर्थात् 'अतः स्थेयं' से लेकर 'न दुष्यति' तक का अर्थ है । पत्नी आदि के सेवादि में अनुकूल होने पर उनके संग ही सेवा करते हुए एवं उनके द्वारा सेवा कराते हुए स्वगृह में रहना चाहिए । उदासीन होने पर गृह में ही स्वयं ही सेवादि करनी चाहिए । उस अभाव में तो उनमें अर्थात् पत्नी आदिमें अनुकूलता न होने पर प्रतिकूलता होने पर परित्याग करना चाहिए । सभी के प्रतिकूल होने पर गृह ही त्याग कर, भगवत्स्थान में रहकर भगवदीयों से मिलकर सेवाकथादिपरतया रहना चाहिए । अब उनके संग रहने में यदि स्वमन में उनके विषयक दोषादि आभासित होते हैं, अथवा स्वयं भाग्यवश होने से उनके ही मन में स्वयं के विषयक वे दोष आते हैं; यह मन में संभावना कर उनसे कुछ दूरदेश में रहकर वहीं सेवादि करनी चाहिए । सेवा के अनवसर में वहाँ जाकर उनके

संग श्रवणकीर्तनादिपरतया रहना चाहिए, यह अर्थ संपन्न हुआ । अथवा । **अदूरे** इस शब्द की व्याख्या करते हैं । भगवत्-स्थान से ही अदूर एवं **विप्रकर्षे** अर्थात् दूर रहना चाहिए । वहीं रहने से तो अतिपरिचय से भगवान या भगवदीयों के विषयक अपराध संभव होते हैं । इससे तो स्वयं का चित्त दूषित होता ही है, अतः **यथा** इन शब्दों से कह रहे हैं । जहाँ रहने पर चित्त दूषित नहीं होता, वहीं रहना चाहिए, यह अर्थ है ।।९।।

ननु व्यसनानन्तरमपि फलदशायामेव चेद्बाधकसम्भवना, तदा सुतरामेव साधनदशायां सेति कथं सुस्वेन सेवादिनिर्वाह इत्याशङ्क्यायामाहुः सेवायामिति ।

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ।।९।।

सेवायां तनुवित्तजायाम् । अत्र वाशब्दः स्मरणस्यापि सङ्ग्राहकः । सेवाया अशक्तावनवसरे वा श्रोतृवक्त्राद्यभावे स्मर्त्रापि वा भवितव्यम्, नान्यपरतया स्थातव्यमिति बोधकः । अत एवोक्तं नवरत्नप्रकाशे 'अन्यथा तदैवासुरभावप्रवेशः स्या'दिति । कथायां श्रीभागवतादिश्रवणकथनादौ । अत्र वाशब्दः श्रवणकथनयोरन्यतरेणापि कार्यसिद्धिर्भवत्येवेति सूचकः । परमुभयोरपि तत्र तत्र दृढासक्तिरपेक्षिता । ततो यावज्जीवं तस्यां स्थितायां तस्य भक्तस्य नाशस्तद्भावात् च्युतिस्तस्य भावस्य वा च्युतिः क्वापि इहास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वाऽमुत्र च नास्त्येव इत्येव मे मतिः सम्मतिर्निश्चयात्मिका बुद्धिर्वा । तथा य सेवायां श्रवणकीर्तनयोर्वा यस्य दृढासक्तिर्भवति, तस्य तावद्भावात् च्युतिः कदापि न भवति, परमग्रे भाववृद्धिस्तु स्वभाग्योन्नतिसमये भगवतस्तद्भक्तानां च कृपया भवित्र्येवेति परमार्थः ।।९।।

यहाँ शंका करते हैं, कि व्यसन के पश्चात् भी यदि फलदशा में बाधकसंभावना है, तब उसकी अपेक्षा साधनदशा में ही कैसे सुख से सेवादि का निर्वाह होगा ? यह शंका होने पर **सेवायां** इन शब्दों से कह रहे हैं । टीकाकार उपर्युक्त पंक्तियों में कह आए हैं, कि इस प्रकार भक्ति की परिपक्वदशा में पहुँचने पर, गृहत्याग करके हरिस्थानों पर रहना चाहिए । वहाँ भी दूर या निकट, जिस प्रकार चित्त दूषित न हो, वैसे रहना चाहिए अन्यथा बाधकों की संभावना है । यहाँ शंका होती है, कि यदि परिपक्वदशा प्राप्त होने के बाद भी भक्ति में बाधाएँ हो सकती हैं, तब तो जो जीव अभी साधनदशा अर्थात् अपरिपक्वदशा में ही हैं, वह कैसे सुख से सेवा का निर्वाह कर सकेगा ? यह अर्थ है । सेवा में अर्थात् तनुवित्तजा में । यहाँ 'वा' शब्द स्मरण का भी संग्राहक है । सेवा में अशक्त या अनवसर में या श्रोता-वक्तादि के अभाव में स्मरण भी होना चाहिए, अन्यपरतया नहीं रहना चाहिए, इसका बोधक है । अतएव नवरत्नप्रकाश में ''अन्यथा तभी आसुरभावप्रवेश होता है'' श्रीमत्प्रभुचरण नवरत्न टीका यह कहा है । कथा में अर्थात् श्रीभागवतादि के श्रवणकथनादि में । यहाँ 'वा' शब्द, ''श्रवणकीर्तन से अन्यतर अर्थात् स्मरण से भी कार्यसिद्धि होती है'' इसका सूचक है । परंतु दोनों में वहाँ वहाँ दृढ़ासक्ति अपेक्षित है । इससे, यावज्जीवन उस स्थिति में, उस भक्त का नाश अर्थात् उस भाव से च्युति अथवा उसके भाव की च्युति कभी भी, जन्म या जन्मान्तर में अथवा इस लोक में नहीं ही है, यह मेरी मति है अर्थात् सम्मति है अथवा निश्चयात्मिका बुद्धि है । एवं, सेवा में अथवा श्रवणकीर्तन में जिसकी दृढ़ आसक्ति होती है, उसकी तब तक भाव से च्युति कदापि नहीं होती है परंतु आगे स्वभाग्योन्नति समय होने पर भगवान एवं भगवद्-भक्तों की कृपा द्वारा, भाववृद्धि तो होगी ही, यह परमार्थ है ।।९।।

नन्वेवं सर्वं त्यक्त्वा स्थितस्य तत्रापि चेत् कश्चनोपद्रावकः पदार्थः सम्पेद्येत, तदा तेन किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः बाधेति ।

बाधसंभावनाया तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ।।१०।।

एकान्तेपि चेद्बाधकसम्भावना स्यात्तदा पुष्टिमार्गीयैर्ग्रहिलतया तत्रैव स्थित्वा भगवति भारो न देयः । अतस्तत्र तस्य वासो नेष्यते, इष्टसाधको न भवतीत्यर्थः । ननु पुनस्तत्रापि चेत्तत्सम्भवस्तदा 'त्वितो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' इति न्यायेन कांदिशीकस्य तस्य का वा गतिरित्याशङ्क्यायामाहुः हरिस्त्विति । यतो हरिः सर्वदुःस्वहर्ता, अतः सर्वतः । तसिलः सार्वविभक्तिकत्वात्सर्वेषां स्वीयानां सर्वेभ्यः प्रतिबन्धकेभ्यः सर्वेषु देशेषु सर्वैर्लौकिकालौकिकोपायैः सर्वप्रकारैश्च रक्षां निःसन्दिग्धं भगवान् करिष्यत्येवेति नात्र संशयात्मभिर्भीवितव्यमित्यनवद्यं सर्वम् । अन्यथा 'अनन्या' इति 'न मे भक्त' इति 'मां हि पार्थ' इति 'द्वि स्थापयती'त्यादीनि भगवद्व्रतानि विरुदानि च विफलीभवेयुः ।।१०।।

यहाँ शंका करते हैं, कि इस प्रकार सभी त्यागकर रहने वाले को, यदि वहाँ कुछ भी उपद्रवकारी पदार्थ संपादित हो तब, क्या करना चाहिए ? ऐसी आशंका में **बाधा** इन शब्दों से कह रहे हैं ।

एकांत में भी यदि बाधक संभावना हो, तब पुष्टिमार्गीयों को आग्रहपूर्वक वहीं रह कर भगवान पर भार नहीं देना चाहिए । अतः वहाँ उसका वास इष्ट नहीं है अर्थात् इष्टसाधक नहीं होता, यह अर्थ है । यहाँ शंका करते हैं, कि पुनः वहाँ वहाँ भी यदि वह बाधक संभव हो, तब तो 'यहाँ भ्रष्ट वहाँ भ्रष्ट' इस न्याय से उस दिग्भ्रांत की क्या गति है ? इस आशंका में **हरिस्तु** इन शब्दों से कह रहे हैं । क्योंकि हरि सर्वदुःस्वहर्ता हैं, अतः सभी ओर से रक्षा करेंगे । 'तसिल्' प्रत्यय सार्वविभक्ति अर्थ में होने से सभी की, स्वीयों की, सभी प्रतिबंधकों

से, सभी जगह, सभी लौकिकालौकिक उपायों द्वारा एवं सभी प्रकारों से निःसंदिग्ध रुप से भगवान रक्षा करेंगे ही, यहाँ संशयात्मा नहीं होना चाहिए, यह सभी अनिर्दित है। अन्यथा, 'अनन्या (भ.गी.७/२२) मेरा भक्त कभी नहीं' (भ.गी. ७/३१), 'हे पार्थ, निःसंदेह मेरे (भ.गी. ७/३२)' ''दो (प्रकार से) स्थापित करते हैं'' इत्यादि भगवद्-व्रत एवं प्रशंसा विफल होतीं ।।१०।।

एवं भक्तिसाधनदशायामपि स्थित्यादिप्रकारमुक्त्वा उपसंहरन्त एतत्स्तोत्रपाठस्य फलमप्याहुः इतीति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरुपितम् ।
य एतत्समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढ़ा रतिः ।।११।।

इतीति परिसमाप्तौ । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवद्धास्त्र भगवद्धर्मशिक्षकं शास्त्रम्, अत एव गूढं तत्त्वं स्वरूपात्मकं यस्मिन्निति तादृशम् । स्वतत्त्वायितपुष्टिपुरुषोत्तमस्य सत्वरमेव साक्षात्सम्बन्धजनकत्वमिति यावत् । तन्निरुपितं नितरामुक्तम् । एतन्मार्गीयो यः कोपि वा एतच्छास्त्रं सम्यगर्थानुसन्धानपूर्वकं श्रीमदाचार्यचरणेषु श्रद्धाविश्वासादिपूर्वकं चाधीयीत पाठं कुर्यात्, तस्यापि भगवति रतिर्दृढा स्यात् । दृढत्वं तु क्रमेणासक्तिव्यसनयोरनन्तरायं नियतपूर्वभाववृत्तित्वम् । अत्रायमाशयः । पूर्वं स्नेहोत्पत्त्यर्थं ये उपाया निरुपितास्तान्विनैवैतत्पाठमात्रेणापि भगवति प्रेम उत्पद्यते । तदनन्तरं यथोक्तरीत्या स्थितौ तदग्रिमावस्थास्त्ववश्यभाविन्य एवेति परमार्थः ।।११।।

अत्र युक्तमयुक्तं वा लिस्वितं यन्मयाज्ञतः । तद्विट्ठलः कृपासिन्धुरज्ञस्य क्षम्यतां मुदा ।।१।।

इति श्रीविट्ठलनाथचरणैकतानश्रीव्रजभूषणात्मजश्रीगिरिधरविरचितभक्तिवर्धिनीविवृतिः समाप्ता ।।

इस प्रकार भक्ति की साधनदशा में भी रहने आदि के प्रकार कहकर उपसंहार कर रहे हैं एवं इस स्तोत्रपाठ का फल भी **इति** इन वाक्यों से कह रहे हैं ।

'इति' अर्थात् परिसमाप्ति में । इस प्रकार पूर्व में कहे प्रकार द्वारा भगवद्-शास्त्र अर्थात् भगवद्धर्मशिक्षक शास्त्र को, अतएव स्वरुपात्मक गूढतत्व जिसमें है वैसा निरुपित किया । स्वतत्व अर्थात् पुष्टिमार्ग से युक्त पुष्टिपुरुषोत्तम का शीघ्र ही साक्षात् संबंधजनकत्व होता है, वह निरुपित किया अर्थात् पूर्ण रुप से कहा । जो एतन्मार्गीय अर्थात् पुष्टिमार्गीय अथवा कोई भी इस शास्त्र को सम्यक्-अर्थानुसंधान-पूर्वक एवं श्रीमदाचार्यचरणों में श्रद्धाविश्वासपूर्वक पाठ करता है, उसकी भी भगवान में रति दृढ़ होती है । दृढ़त्व तो क्रमशः आसक्तिव्यसन के विघ्नरहित होने पर पूर्वनिश्चित भाववृत्ति वाला है । यहाँ यह आशय है, कि पूर्व में स्नेहोत्पत्ति के लिए जो उपाय निरुपित हैं, उनके बिना ही, इसके पाठ मात्र से भी भगवान में प्रेम उत्पादित होता है । इसके पश्चात् कही रीति अनुसार रहने से उस प्रेम की अग्रिम अवस्था अर्थात् आसक्ति, व्यसन तो अवश्यंभावी ही हैं, यह परमार्थ है ।।११।।

यहाँ मैंने अज्ञान से उचित या अनुचित जो लिस्वा । वह विट्ठलकृपासिंधु मुझ अज्ञ को प्रसन्नता से क्षमा करें ।।१।।

।। यह, एक श्रीविट्ठलनाथचरणों में ध्यानमग्न श्रीव्रजभूषणात्मज श्रीगिरिधरविरचित भक्तिवर्धिनीविवृति समाप्त हुई ।।

श्रीकृष्णाय नमः ।

भक्तिवर्धिनी ।

श्रीद्वारकेशविरचितप्रकाशसमेता ।

श्रीमद्वल्लभपादपद्मरजसः संस्मारणेनैव मे
ज्ञातुं सर्वमशक्यमत्र सदसद्वैवेकिकं यत्परम् ।।
ज्ञातं शक्यमसाध्यमेव नितरां साध्यं तदुक्तार्थत-
स्तद्विश्वासबलाश्रयैकनिरतो वक्तुं प्रवृत्तोस्म्यहम् ।।१।।
श्रीमदाचार्यवर्याणां चरणानुग्रहादहम् ।
तदुक्तवाक्यसन्दर्भं विमृशामि यथामति ।।२।।

श्रीमद् वल्लभ की चरणकमलरेणु के संस्मारण से ही मैं
सद्-असद् परमविवेक जो यहाँ जानने में अशक्य है वह ।।
उनके कहे अर्थद्वारा अत्यंत असाध्य जो साध्य हुआ है, जानने में शक्य हुआ हूँ ।
उसी एक विश्वासबल के आश्रय में रत, मैं कहने को प्रवृत्त हुआ हूँ ।।१।।

श्रीमदाचार्यवर्यों के चरणानुग्रह से मैं; उनके कहे वाक्यसंदर्भ को यथामति विमर्श करता हूँ ।।२।।

तत्र पूर्वं यथा भगवान(न)न्यपूर्वाभ्यस्तादृशरसोपयोगिदशाविरहादनधिकारित्वमाशंक्य तदग्रिमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं साधनत्वेन त्यागात्यागहेतुकीं भक्तिं ताभ्यः प्रयच्छतीति भावफलोपकारावधि तदुत्पादकबीजभावत्वेन तादृशरसात्मकं स्वरुपं भावरुपत्वेनैतद्भावनया तत्तदन्तःस्थापितमिति ततो भक्तिस्तयाग्रे च रमणं फलमिति राद्धान्तसम्मतः पन्थाः ।

वहाँ, पहले जिस प्रकार भगवान अनन्यपूर्वा अर्थात् ऋषिरुपा गोपी एवं श्रुतिरुपा गोपीयों के लिए, वैसी रसोपयोगीदशा अर्थात् विरह से अनधिकारिता की आशंका कर, उस विरह दशा की अग्रिम प्रयोजन सिद्धि के लिए साधनत्व द्वारा त्याग-अत्याग-हेतुकी-भक्ति उनके लिए दे रहे हैं । अतः भावफलोपकारावधि तक, उसमें उत्पादक 'बीजभाव' द्वारा वैसा रसात्मक-स्वरुप भावरुप द्वारा, इस भावना से उन उन जीवों के अन्तःकरण में स्थापित किया है । अतः इसके पश्चात् 'भक्ति' एवं इस भक्ति के आगे 'रमणफल' यह सिद्धांतसंमत पन्थ है । भगवान ने जिन गोपियों के साथ रमण किया था, उनमें 'श्रुतिरुपा' एवं 'ऋषिरुपा' ऐसे दो प्रकार की गोपियाँ थीं । यहाँ टीकाकार कह रहे हैं, कि वे गोपियाँ पूर्व में रसोपयोगिदशा अर्थात् विरह की अधिकारी नहीं थीं । अतः भगवान ने उस विरह के प्रयोजन की सिद्धि के लिए साधनत्व द्वारा त्यागवाली भक्ति एवं अत्यागभक्ति उन्हें दी अर्थात् भक्ति की दृढ़ता के लिए किसका त्याग करें ? किसका त्याग न करें, यह बताया । अतः उन्हें भावफलोपकार अर्थात् भाव का फल उनके अंतःकरण में बीजभाव द्वारा स्थापित किया । क्योंकि वहीं बीजभाव उस फल का उत्पादककारण है । उसी बीजभाव से भक्ति का रसात्मक स्वरुप प्रकट होता है । इस प्रकार पहले 'बीजभाव' फिर 'भक्ति' एवं तत्पश्चात् भगवान के साथ रमण का फल प्राप्त होता हैं । यह सिद्धांत है । हमारे संप्रदाय में प्रभु के मुख्य-रुप से चार यूथ बताए गये हैं । 'नित्यसिद्धा', 'अन्यपूर्वा', 'अनन्यपूर्वा', एवं शेष रही अन्य सभी 'पुष्टिसृष्टि' का यूथ यों इस प्रकार गोपीजन के चार मुख्य यूथ हैं । 'नित्यसिद्धा' वे हैं, जिन्हें नित्य-रास में संयोग सुख है । अन्यपूर्वा वे गोपीजन हैं, जो प्रभु के प्रादुर्भाव होने से पहले अन्य की हो चुकीं हैं एवं तत्पश्चात् प्रभु को समर्पित हुई हैं । अनन्यपूर्वा, कुमारिकाएँ हैं एवं यूथ, इन तीनों से भिन्न समस्त पुष्टिसृष्टि का है । नित्यसिद्धा की यूथेश्वरी श्रीस्वामिनीजी हैं । अन्यपूर्वा की श्रीराधासहचरी एवं चौथे यूथ की यूथेश्वरी श्रीयमुनाजी हैं ।

यद्यप्येतदतिरिक्तानां भक्तानां 'व्रजे गोप्यो भविष्यथे'ति वरप्राप्तत्वात्साम्प्रतमधिकारित्वं वर्तत एव, तथापि, 'प्रथमातिक्रमे कारणाभावा'दिति न्यायेनैतत्सहकार्यत्व एव फलदानम्, यत एतासामेव वरप्राप्तत्वेनात्र रमणविशिष्टाः क्षपा दत्तास्तद्व्यतिरेकेण नास्य सम्भावनमिति नैतत्पूर्वं तासां रमणमिति भावः । अत एवाग्रे भगवदाकारणं तु तावदेतद्विषयकमेव स्पष्टीकृतं श्रीमदाचार्यैः । तथा सत्युभयोर्भगवतः प्राथमिकसंबन्ध एव बीजम्, तदाचाद्बानम् । भक्तिश्चरणारविन्दरुपा । तस्या नैरन्तर्यभावनेनावसरे प्राप्ते बीजपरिपाकदशायां फलं साक्षात्स्वरुपानन्दानुभव इति यावत् । तत्र कुमारिकाणामत्यागः, तद्व्यतिरिक्तानां त्याग इति स्थापितत्वात् । अत एव व्रताध्याये श्रीमदाचार्यैरुक्त'मत्यागस्त्यागादुत्तम' इति ।

यद्यपि इनसे अतिरिक्त भक्तों को "व्रज में गोपियाँ होओगे" (वामन पुराण) यह वर प्राप्त होने से, वर्तमान में अधिकारित्व है ही, तथापि "प्रथम के अतिक्रम में कारण के अभाव से" इस न्याय से इनका रमण में सहकार्य ही फलदान है । क्योंकि इन को ही वरप्राप्त होने से यहाँ रमणविशिष्ट रात्रि दी, उसके बिना इस रसोपयोगिदशा की संभावना नहीं है । अतः इससे पूर्व उनको रमण नहीं है, यह भाव है । टीकाकार कह रहे हैं, कि इन ऋषिरुपा एवं श्रुतिरुपा गोपियों के अतिरिक्त गोपीजनों को वह अधिकार प्राप्त है ही । क्योंकि उन्हें भगवान ने रमणविशिष्ट रात्रि प्रदान की थी, यह अर्थ है । अतएव, आगे भगवान का आवाहन तो, उतना अर्थात् तद्विषयक ही आचार्यचरणों ने स्पष्ट किया है । वैसा आवाहन होने पर दोनों गोपियाँ एवं अन्य का भगवान से प्राथमिक संबंध ही बीज है एवं तब आवाहन किया है । 'भक्ति' भगवद्-चरणारविंदरुपा है । उस भक्ति के निरंतर भाव से, अवसर प्राप्त होने पर बीजपरिपाक दशा में साक्षात्स्वरुपानंदानुभव, फल है । वहाँ कुमारिकाओं का अत्याग; एवं उनसे अतिरिक्तों का त्याग, यह स्थापित होने से । अतएव व्रताध्याय में अर्थात् चीरहरणलीला में श्रीमदाचार्य ने "अत्याग, त्याग से उत्तम है सुबोधिनी" यह कहा ।

तथात्राप्याधुनिकदैवीसृष्टयुत्पन्नानां जीवानां सर्वदोषदूरीकणार्थं तादृशरसात्मकभजनानन्ददानार्थं च तादृक्सेवनानुकरणोपदिष्टत्वेन श्रीमदाचार्यवर्यास्तदुभयपक्षमाश्रित्य साक्षात्फलप्राप्त्यर्थं नामस्मरणानन्तरं फलपरिचयावधि साधनत्वेन भक्तिवृद्धिप्रकारं निरुपयन्ति यथेति ।

उस प्रकार यहाँ भी आधुनिकदैवीसृष्टि में उत्पन्न जीवों के सर्वदोष दूर करने के लिए एवं वैसा रसात्मक भजनानंद देने के लिए वैसा सेवानुकरण उपदिष्ट होने से, श्रीमदाचार्यवर्य वह त्याग एवं अत्याग दोनों पक्षों पर आश्रित होकर साक्षात्फलप्राप्ति के लिए नामस्मरण के पश्चात् फलपरिचय तक, साधनत्व द्वारा भक्तिवृद्धिप्रकार **यथा** इन शब्दों से निरुपण कर रहे हैं ।

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात्तथोपायो निरुप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात्त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ॥१॥

'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोप्यधिकः स्नेहो भक्ति'रिति । यत्र वरप्राप्तत्वेन पूर्वकालिनकसंस्कारकरणानन्तरमेव भक्तेः प्रक्षिप्तबीजत्वम्, तत्र स्मरणबाहुल्यादङ्कुरितत्वम्, ततस्तथात्वे पल्लवितत्वम्, तथैव कुसुमितत्वम्, एतावन्मात्रकं फलीकरणावधि वर्धकत्वमग्रे कुतो न स्यादित्यनुसन्धेयम् । सा प्रवृद्धा स्यादिति । प्रकृष्टेन वृद्धिःप्रतिक्षणं तादृगार्तिपूर्वकस्मरणबाहुल्येन । तथोपायस्तत्प्रकारकाचरणोपायो निरुप्यते, उत्तरवाक्य एव विशदीक्रियत इत्यर्थः । बीजभावे दृढ़ीकरणापेक्षकत्वम्, अन्यथा तुशब्दस्य पूर्वपक्षव्यावर्तकत्वानापत्तिः स्यात् । किञ्च, बीजभावे दृढे सत्येवाग्रेङ्कुरभावमारभ्य फलपर्यन्तं तदुद्भावनपूर्वकं वर्धकत्वम् । अन्यथा कृतोपि संस्कारो व्यर्थ एव स्यात् । एत एव 'भावैरङ्कुरित'मित्याद्युक्तयस्तु तादृग्बीजभावफलीकरणत्वमेवाभिव्यञ्जयन्ति । तत्र विषयव्यवस्थाभेदेन हेतुत्रयमुच्यते त्यागाच्छ्रवणकीर्तनादिति । अत्र तामसानां त्यागादेव तथात्वम् । सात्त्विकराजसानां तु श्रवणकीर्तनादिति योजनोभयत्रैव वेदितव्या । तथा सति पक्षद्वयविशिष्टविभागसमानाधिकरणत्वेन हेतुनिरुपणप्रस्तावेपि सामानाधिकरण्यात्तद्धित्रत्वं स्वीकर्तव्यम् । अत एव त्यागादिति पृथगुक्तिः, न तत्र समाहारे योजना । श्रवणकीर्तनयोस्त्वेकवद्भावत्वेन तथात्वादत्यागपक्षमाश्रित्य श्रवणकीर्तने एव हेतुत्वेन निरुपिते, नतु त्यागः । तस्माद्यथायोग्यतया हेतुनिरुपणं ज्ञेयम् । अत एव 'श्रवणा'दित्यारभ्य'प्रतियातु ततो गृहा'नित्यन्तेन तद्दृढ़ीकरणार्थमेव भगवता यद्यप्युक्तम्, तथापि नाङ्गीकृतमेताभिः, किन्तु 'स्वपक्ष एवादरणीय' इति न्यायात्त्याग एव तासां दार्ढ्यसम्पादकत्वम् ॥१॥

माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़, सभी से भी अधिक स्नेह, 'भक्ति' है । जहाँ वर प्राप्त होने से पूर्वकालीन-संस्कार करने के पश्चात् ही भक्ति का बीज पड़ जाता है । अर्थात् जो वामनपुराण में "व्रज में गोपियाँ होओगे" यह कहा, वह उन जीवों का पूर्वसंस्कार है एवं तभी भक्ति का बीज भी उनमें पड़ चुका है । वहाँ स्मरण की बहुलता से वह अंकुरित होता है, पश्चात् वैसा होने पर वह पल्लवित होता है । उसी प्रकार कुसुमित होता है, मात्र इतने से फलीकरण तक वर्धकत्व आगे क्यों नहीं होता ? यह अनुसंधेय है । यहाँ टीकाकार शंका कर रहे हैं, कि जब पूर्वसंस्कार हो चुका है, भक्ति का बीज भी पड़ चुका है, वह बीज पल्लवित-कुसुमित भी हो रहा है, तो फिर फलप्राप्ति होने तक उसका वर्धन स्वतः ही क्यों नहीं हो जाता ? इसका विचार आवश्यक है । **सा प्रवृद्धा स्यात्** इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । प्रतिक्षण वैसी अर्तिपूर्वक स्मरणबहुलता से प्रकृष्ट-रुप से भक्ति-वृद्धि होती है । अर्थात् प्रतिक्षण जीव को प्रभु की आर्ति रहे, वह निरंतर स्मरण करता रहे तब उस भक्ति की भलीभाँति वृद्धि होती है । **तथोपायः** अर्थात् उस प्रकारक आचरण के उपाय निरुपण कर रहे हैं अर्थात् आने वाले वाक्य में ही विस्तार कर रहे हैं, यह अर्थ है । बीजभाव में दृढ़ीकरण अपेक्षित है अन्यथा 'तु' शब्द की पूर्वपक्ष से व्यावर्तन अर्थात् हटाना, निकालना की अनापत्ति हो जायेगी । टीकाकार कह रहे हैं, कि मूलपंक्ति "बीजभावे दृढ़े तु स्यात्" में 'तु' शब्द आया है । इस पंक्ति में 'तु' शब्द का अर्थ होता है "बीजभाव दृढ़ तो होता है त्याग से, श्रवणकीर्तन से" । इससे ज्ञात होता है, कि अदृढ़बीज यदि दृढ़ होगा, तो वह त्याग से एवं श्रवणकीर्तन से ही होगा । अतः ध्यान से विचारने पर पता चलता है, कि 'तु' शब्द अदृढ़ बीजभाव को हटाकर दृढ़बीज भाव के लिए उपयोग किया गया है । अतः यह सिद्ध होता है, कि भक्तिवृद्धि के लिए पहले (बीजभाव का) दृढ़ीकरण होना आवश्यक है । यदि वही न हो, तब आचार्यचरण भारपूर्वक 'तु' शब्द का प्रयोग क्यों करते ? अन्यथा उसकी अनुपयोगिता सिद्ध हो जायेगी, यह अर्थ है । और बीजभाव दृढ़ होने पर आगे अंकुरभाव से आरंभ कर फलपर्यंत उसका उद्भावन अर्थात् उत्पत्ति-पूर्वक, 'वर्धकत्व' है । अन्यथा

किए हुए संस्कार भी व्यर्थ ही हो जायेंगे । अतएव ''भाव द्वारा अंकुरित श्रीगुसाईंजी द्वारा रचित'' इत्यादि उक्तियाँ तो उस प्रकारक बीजभाव का फलीकरण ही प्रकट कर रही हैं । वहाँ विषयव्यवस्थाभेद से **त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्** इन शब्दों से तीन हेतु कह रहे हैं । यहाँ तामसी को त्याग से ही वैसा बीजभावदृढ़ होता है । सात्विक-राजस को तो श्रवणकीर्तन से यह योजना दोनों जगह अर्थात् सात्विक भी श्रवणकीर्तन से एवं राजस भी श्रवणकीर्तन से समझनी चाहिए । वैसा होने पर, दोनो पक्षों के विशिष्ट विभाग का समानाधिकरण करने से हेतु-निरुपण का प्रस्ताव होने पर भी, सामानाधिकरण से भिन्नता स्वीकार करनी चाहिए । समानाधिकरण का अर्थ होता है, दो भिन्न वस्तुओं के भिन्न अंशों को हटा कर एक कर देना । एक उदाहरण से समझें । एक वाक्य है ''यह वही देवदत्त है'' । ध्यान से विचार करने पर पता चलेगा कि इस वाक्य में ही विरोध है क्योंकि पहले कहा, 'यह' अर्थात् 'एतद्कालविशिष्ट' अर्थात् इस समय जो सामने है, वह देवदत्त । इसके बाद कह रहे हैं 'वही' अर्थात् 'तत्कालविशिष्ट' अर्थात् कोई पहले का देवदत्त । हम समझ सकते हैं, कि आज का देवदत्त वह तो नहीं है जो १०-१५ वर्ष पहले था, तथापि है भी । अतः उसे देवदत्त सिद्ध करने के लिए इन १०-१५ वर्ष के विरुद्ध अंशों को निकाल देना पड़ेगा एवं निकालने के पश्चात् सिद्ध हो जायेगा, कि दोनों देवदत्त एक ही हैं भिन्न नहीं है । संक्षेप में दो पक्षों के विरुद्ध अंशों को निकाल कर समान कर देना 'समानाधिकरण' कहलाता है । उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए । यहाँ टीकाकार 'त्याग' एवं 'अत्याग' ऐसे दो पक्षों में, तामस भक्तों को त्याग-पक्ष में समाहित कर रहे हैं एवं सात्विकराजस को अत्याग पक्ष में । अब यहाँ 'त्याग-राजस' एवं 'अत्याग-सात्विकराजस' ऐसे दो भिन्न पक्ष तो हो गये परंतु उन दोनों का फल भिन्न नहीं है अर्थात् दोनों पक्षों को समान फल प्राप्त होगा, एवं यही समानाधिकरण है, यह कहना चाह रहे हैं । **अतएव त्यागात् यह पृथक् कहा है, वहाँ समाहार में योजना नहीं है । श्रवणकीर्तन का तो एकवत्-भाव होने से वैसा श्रवणकीर्तन दोनों का एक जैसा भाव होने से अत्यागपक्ष पर आश्रित होकर श्रवणकीर्तन दोनों का ही हेतुद्वारा निरुपण है, न कि दोनों में से किसी एक को त्याग ।** टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि मूलपंक्ति में 'त्यागात्' एवं 'श्रवणकीर्तनात्' इस प्रकार बीजभावदृढ़ करने के लिए ये दो पक्ष बताए गये हैं । दूसरे-पक्ष अर्थात् 'श्रवणकीर्तनात्' में श्रवण एवं कीर्तन को आपस में जोड़ कर एक कर दिया गया है, नहीं तो श्रीमहाप्रभु 'श्रवणात्', 'कीर्तनात्' यों भी कह सकते थे । इससे सिद्ध होता है, कि जो श्रवण का फल है, वही कीर्तन का भी है । दोनों में परस्पर न्यूनाधिक्यता नहीं है अर्थात् कोई एक मुख्य एवं दूसरा गौण हो, ऐसा नहीं है । दोनों में से किसी को भी त्यागना नहीं है, दोनों ही मुख्य हैं । अतः यथायोग्यतया हेतुनिरुपण समझना चाहिए । ''अतएव श्रवण से.....(श्री.भा. १०/२९/२७)'' इन शब्दों से आरंभ कर ''अतः घर लौट जाओ'' (श्री.भा. १०/२९/२७) यहाँ तक के वाक्य द्वारा उस बीज के दृढ़ीकरण के लिए ही यद्यपि भगवान द्वारा त्याग कहा गया है तथापि गोपिकाओं ने उसे स्वीकार नहीं किया । किंतु 'स्वपक्ष ही आदरणीय है' इस न्याय से गृह त्याग ही उनका संपादकत्व है ।।१।। यह एक न्याय है, जिसका अर्थ होता है, हमेशा अपने द्वारा कहे पक्ष की बात रखनी चाहिए । टीकाकार कह रहे हैं, कि यद्यपि गोपिकाओं ने प्रभु की आज्ञा नहीं मानी एवं गृहत्याग करके रात्रि के समय भी (देखें श्री.भा. १०/२१/३१) वहीं पर रहीं । अतः उनका गृहत्याग करना ही बीजदृढ़ता का कारण सिद्ध हुआ, प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन, बाधक नहीं । अतः स्वपक्ष... इस न्याय से जो त्याग की बात हम कह रहे हैं वही गुणरुप होने से ठीक है ।

अतः परमेतावन्मात्रकं बीजदार्ढ्यमुपपाद्य तत्प्रकारमप्यग्रे प्रकाशयन्ति बीजदार्ढ्यप्रकारस्त्विति ।

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ।।२।।

अत्र कुमारिकावरप्राप्तसाधननिरुपणत्वेन प्रथमतस्तत्प्रकारमेव प्रचारयन्ति । अतस्तुशब्देन तत्प्रकारकातिरिक्तप्रकारं व्यावर्तयन्ति । तद्यथा । गृहे स्थित्वा स्वधर्मत इत्यत्र स्वेत्यात्मा भगवान् तद्धर्मतः षड्गुणैश्वर्यादिकमनुभवन् तादृशरसभोक्त्रीणामाचरणं ज्ञात्वा भजेदित्यन्वयः । अथवा, यथैताः स्वस्य पूर्वं भगवद्गृहीतपुंस्त्वाख्यधर्ममधुना प्राप्य पूर्वकालीनोपदेशजनितसंस्कारस्मरणपूर्वकं तद्भजनं कुर्वन्ति, तथैतन्मार्गीया अपि 'स्वधर्मत' इति नामस्मरणपूर्वकसंस्काररुपवरणप्राप्तौ तदनुकरणत्वेनैतद्भजनं कुर्वन्त्वित्याशयेन श्रीमदाचार्यवर्या आहुः स्वधर्मत इति । एतत्प्रकारानुसारेण स्वयमव्यावृत्तः सर्वदा । व्यावृत्तिर्व्यवहारः । स तु सन्निपातः, तद्रहितः सन् कृष्णं फलात्मकं सदानन्दवाचकं पूजया श्रवणादिभिरित्यत्र, तया पुष्टिमार्गीयया 'धन्यास्त्वि'ति वाक्यषट्कनिरुपितया, तथा श्रवणादिनवप्रकारकभक्तिभिरपि तत्तद्भावसमाश्रितमेव भजेत्सेवनं कुर्यात्, तदप्यान्तरिकम्, नतु बाह्यमित्यर्थः ।

अतः आगे, इतना मात्र बीजदृढ़ता उपपादित कर, उसके प्रकार को भी आगे **बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु** इन शब्दों से प्रकाशित कर रहे हैं ।

यहाँ कुमारिकाओं को वरप्राप्त रुपी साधननिरुपण द्वारा प्रथमतः वह प्रकार ही विमर्श कर रहे हैं । अतः 'तु' शब्द से उस स्वधर्म से गृह में रहने के प्रकार से अतिरिक्त प्रकार का निरसन रहे हैं । वह इस प्रकार । **गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः** इस पद में **स्व** अर्थात् आत्मा अर्थात् भगवान; उनके धर्म-द्वारा ऐश्वर्यादि छह धर्मो का अनुभव करते हुए, वैसे रस को भोगनेवाली गोपिकाओं का आचरण जानकर भजना चाहिए यह अन्वय है । अथवा, जिस प्रकार ये गोपिकाएँ स्वयं का पूर्व में भगवान द्वारा गृहीत 'पुंस्त्वनामरुपी-धर्म' वर्तमान में प्राप्त कर

पूर्वकालीनउपदेशजनितसंस्कार के स्मरणपूर्वक उन भगवान का भजन कर रही हैं, उस प्रकार पुष्टिमार्गीय भी स्वधर्मतः अर्थात् नामस्मरणपूर्वक 'संस्काररुप-वरण' प्राप्त होने पर उनके अनुकरण द्वारा यह भजन कर रहे हैं, इस आशय से श्रीमदाचार्य ने 'स्वधर्मतः' यह पद कहा है। इस प्रकारानुसार स्वयं अव्यावृत्त होकर सर्वदा कृष्ण को भजना चाहिए। व्यावृत्ति अर्थात् लोक-व्यवहार। वह व्यावृत्ति तो सन्निपात रुपदोष है। अतः उस व्यावृत्ति से रहित होकर संदानंदवाचक-फलात्मक-कृष्ण को श्रवणादि द्वारा एवं "धन्य हैं (श्री.भा. १०/२१/११)" इत्यादी छह-वाक्यों द्वारा पुष्टिमार्गीय गोपियों द्वारा एवं श्रवणादि नवप्रकारक भक्ति द्वारा भी उन उन भावों से समाश्रित ही भजन (अर्थात्) सेवन करना चाहिए, वह भी आंतरिक न कि बाह्य, यह अर्थ है। ये भाव हैं, एवं भाव गुप्त रहने चाहिए उनका प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, इसी तात्पर्य से आंतरिक एवं बाह्य कहा है।

अथवा। तासां कामरुपाणि वस्त्राणि गृहीत्वा पूर्वं नीपमारुह्य पश्चात्तत्रैव दानत्वेन तासु यथा भगवत्पूजनत्वम्, तथैवाग्रे स्वातिप्रियोत्तरीयकल्पितासनदानत्वेन ताभिरपि भगवान् पूजित इति लक्ष्यते। अत एव 'तत्रोपविष्टो भगवान्स ईश्वर' इत्यत्र तच्छब्दपरामर्शस्यैवतदुद्घाटकत्वमेत्प्रकारकाचरणं कर्तव्यमित्यर्थः। सर्वदा भावनीय इति संक्षेपः। अतएव व्रतचर्यायां 'प्राग्जन्मपुरुषत्वास्यधर्मा अपि वयस्यतां। प्राप्ता ये तैः सहागच्छन् संबन्धं सूचयन् हरि'रित्यत्र श्रीमत्प्रभुभिस्तथैवोक्तमिति प्राथमिकसंबन्धस्यैव बीजभावत्वम्।

अथवा। उनके कामरुपी-वस्त्रों को ग्रहण कर पहले वृक्ष पर आरुढ़ होकर पश्चात् वहीं दान द्वारा उनमें जिस प्रकार भगवत्पूजन आ गया। टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि भगवान ने जब गोपिकाओं के वस्त्र-हरण किए तब उस वस्त्रहरण द्वारा उनके काम-ग्रहण कर लिए, इससे गोपिकाओं का काम निवृत्त हो गया एवं वस्त्र वापस देने पर उनमें भगवान के प्रति पूजा का भाव आ गया। उसी प्रकार आगे, स्वयं के अतिप्रिय दुपट्टे से बनाए आसन के दान द्वारा, उनके द्वारा, भी भगवान पूजित हुए यह लक्षित होता है। अतएव "वहाँ, वह ईश्वर भगवान बिराजे (श्री.भा. १०/३२/४४)" इस वाक्य में 'तत्' वह शब्द का परामर्श ही उस अर्थ का उद्घाटक है, इस प्रकारक आचरण करना चाहिए यह अर्थ है। उपर्युक्त श्रीमद्-भागवत् की पंक्ति में आया है, कि जिस भगवान को बड़े बड़े तपस्वी, योगी अपने हृदयरुपी-सिंहासन पर न विराजमान कर सके, ऐसे ईश्वर गोपिकाओं के दुपट्टे द्वारा बनाए आसन पर विराजमान हो गये। अर्थ यह, कि भगवान तप या योग से इतने शीघ्र प्राप्त नहीं होते, जितने गोपिकाओं जैसे की गई निष्काम-भक्ति द्वारा प्राप्त होते हैं। अतः ऐसी भावना करनी चाहिए, यह अर्थ है। अर्थात् वह आचरण सर्वदा भावनीय है, यह संक्षेप में कहा। अतएव व्रतचर्या श्री.भा. दशम स्कंध में "पूर्व-जन्म के पुरुषत्व नामरुपी धर्म वाले जो वयस्यता को प्राप्त हुए, उनके साथ संबंध सूचित करते हुए हरि चले गये" इस वाक्य में श्रीप्रभुचरणों द्वारा वही कहा गया है। अतः प्राथमिकसंबंध का ही बीजभाव है।

ननु ते तु ऋषयो मननशील्ला मंत्रद्रष्टारः सर्वात्मना भवगदुक्तसाधनकरणत्वेनैव प्रत्यहं गृहस्थितमेवादृत्य तदाज्ञापालनपूर्वकं भजनं कुर्वन्ति, अयं तु प्राकृतः, कथं तत्साधनाचरणं कर्तुं शक्यत इत्याहुः व्यावृत्तोपीति।

व्यावृत्तोपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ॥३॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति।

वस्तुतस्त्वयमप्येको बीजदार्ढ्यप्रकारान्तरः, तस्मात्स्वयं व्यावृत्तोपि संसारासक्तः सन्नपि हरौ सर्वदुःस्वरहणशीले भगवति गजराजप्रास्ताविकतादृक्पराक्रमानुस्मरणपूर्वकं चित्तं संस्थाप्येति शेषः। सदेति कालापरिच्छेदकत्वेनैव श्रवणादिषु नवप्रकारकभक्तिषु तद्बुद्धिप्रकारस्फूर्त्या यतेत्। तद्विषयकं यत्नं कुर्यादित्येतत्प्रकारेणापि सा प्रवृद्धा स्यादिति पूर्वेणान्वयः। ननु पूर्वोक्तप्रकाराचरणेनाग्रे किं साधितमिति प्रेमादीनां प्राप्तिमपि सूचयन्ति ततःप्रेमेति। ततः तद्बुद्यनन्तरं पूर्वोक्ताधिकरणक एव तथात्वेन पल्लवरचनारुपं प्रेमोत्पद्यते, येन भक्तिवल्ली प्रत्यहं प्रतिक्षणं सिञ्चनविषयीक्रियते। तथा आसक्तिर्भावविशेषः। स तु पुष्पागमरुपः। अत्र'शास्त्रार्थस्य परिज्ञानात् भावस्य कलिका भवे'दिति वाक्योक्तोर्थानुसन्धेयः। तथा सत्येतत्प्रकारकासक्तेः प्रेमोत्तरभावित्वं युक्तमेव। अत एव श्रीमदाचार्यैरपि तथैवोक्तम्। 'आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृत'मिति। तथा व्यसनं च येन विना क्षणमपि स्थातुं न शक्यते, तत्तु बीजादारभ्य फलाविष्कारावधि सर्वत्र भावनीयम्। एवं यदा भवेत्तदा न काप्यनुपपत्तिः।

यहाँ शंका करते हैं, कि वे ऋषि तो मननशील मंत्रदृष्टा हैं, सभी प्रकार से भगवदुक्त साधन करने से ही प्रतिदिन गृहस्थिति का ही आदर कर उनकी आज्ञा-पालन पूर्वक भजन करते हैं। यह आधुनिक जीवतो प्राकृत हैं, कैसे उन साधनों का आचरण करने में शक्य हैं ? यह **व्यावृत्तोपि** इस शब्दों से कह रहे हैं।

वास्तव में तो यह भी एक बीजदृढ़ता का अन्य प्रकार है। अतः स्वयं व्यावृत होने पर भी अर्थात्संसारासक्त होने पर भी सर्वदुःस्वहरणशील भगवान हरि में गजराज द्वारा की स्तुति जैसी है वैसे पराक्रम का अनुस्मरणपूर्वक चित्त को संस्थापित कर श्रवणादि के लिए प्रयत्न करना चाहिएयह शेष रह जाता है। श्रीमद् भागवत में वर्णित है, कि भगवान ने गजेन्द्र के प्राण बचाए थे। गजेन्द्र ने

अपने प्राणों के लिए भगवान की स्तुति की थी । विशेष (श्री.भा. ८/३/२...२९) में देखें । टीकाकार कह रहे हैं, कि भगवान के वैसे पराक्रम का स्मरण करना चाहिए । यहाँ ध्यातव्य है, कि प्रभु का 'हरि' नाम 'गजेन्द्र-मोक्ष' के संदर्भ में ही पड़ा है । यहाँ मूल-श्लोक में भी 'हरि' शब्द आया है । अतः टीकाकार इसी का संदर्भ देकर दोनों पंक्तियों का समन्वय कर रहे हैं । सदा अर्थात् काल से अपरिछिन्न होकर ही श्रवणादि नवप्रकारक भक्ति में उस भक्ति की वृद्धिप्रकार की स्फूर्ति द्वारा प्रयत्न करना चाहिए । उन भगवान के विषयक यत्न करना चाहिए; इस प्रकार से भी वह भक्ति प्रवृद्ध होती है, यह पूर्व से अन्वय है । यहां शंका करते हैं, कि पूर्व में कहे प्रकार के आचरण करने से आगे क्या सिद्ध होगा ? वहाँ प्रेमादि की प्राप्ति भी **ततः प्रेम** इन शब्दों से सूचित कर रहे हैं । इससे उस भक्ति की वृद्धि के पश्चात् पूर्वोक्त अधिकारियों के समान ही उस प्रकार से पल्लवरचनारुप प्रेमोत्पत्ति होती है । जिसके द्वारा भक्तिलता का प्रतिदिन, प्रतिक्षण सिंचनविषय किया जाता है । उसी प्रकार 'आसक्ति' विशेष भाव है । वह तो पुष्प-आगमन रुप है । यहाँ ''शास्त्रार्थ के परिज्ञान से भाव की कलिका होती है इस वाक्य में कहा अर्थ अनुसंधेय है । वैसा होने पर इस प्रकारक आसक्ति का, प्रेम के पश्चात् होना युक्त ही है । अतएव श्रीमदाचार्यचरणों ने भी यही ''आसक्ति प्रेमपूर्वक होती है एवं प्रेम भी हरि के द्वारा किया होता है ।'' इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा है । एवं, उसी प्रकार 'व्यसन' अर्थात् जिसके बिना क्षण भर भी रहा नहीं जा सकता, वह तो बीज से आरंभ कर फल-आविष्कार तक सर्वत्र भावनीय है । इस प्रकार जब होता है, तब कोई भी अनुपपत्ति नहीं है । अनुपपत्ति का अर्थ होता है आपत्तिरहित या शंकारहित ।

अथवा । अत्र चकारः समुच्चयार्थकः । तथा सति प्राथमिकसंबन्धो बीजभावः । तस्मात्स्वभावतो वृद्धिं प्राप्ता भक्तिर्वल्ली, तदुद्भूतं प्रेम पल्लवस्थानापन्नम्, तज्जनितासक्तिः पुष्पागमः । ततो व्यसनं च फलत्वेन स्वरुपैकनिष्ठत्वम् । एतेषां बीजत्वजातिविशिष्टसमानाधिकरणत्वेनैकजातीयत्वम् । तथा सति मूलदृढीकरणत्वेनैव सर्वत्र तथात्वमिति भावनीयम् । तदेवाग्रे निरुप्यते बीजं तदुच्यते,शास्त्रे भगवच्छास्त्रे, श्रीभागवतगीतानारदपञ्चरात्रादावपि, यद् दृढं नापि नश्यति, तत्तु प्राथमिकसंबन्धकालीनमित्यध्यवसेयम् ।

अथवा । यहाँ चकार समुच्चय अर्थ में है, यह कहने का तात्पर्य यह है, कि प्रेम-आसक्ति-व्यसन में सभी क्रमबद्ध हैं अर्थात् एक होने पर दूसरी वस्तु होगी ही । अतः 'च' शब्द इनके 'समुच्चय-अर्थ' को बता रहा है । वैसा होने पर प्राथमिकसंबंध बीजभाव है । अतः स्वभावतः वृद्धि प्राप्त हुई भक्ति, 'लता' हुई, उससे पल्लवस्थानापन्नरुपी 'प्रेम' उद्भूत हुआ उससे पुष्पागमनरुपी 'आसक्ति' पैदा हुई । एवं इससे एकस्वरुप में निष्ठारूपी 'व्यसन' फल हुआ । इन (प्रेम-आसक्ति-व्यसन) का बीज जातिविशिष्ट समानाधिकरण करने से एकजातीय है । यहाँ 'बीज' शब्द विशेष जाति का वाचक है । बीज चाहे किसी भी फल का हो, कहा तो उसे बीज ही जायेगा । क्योंकि वह कोई एक जातिविशिष्ट है । वह बीज किसी का भी हो, अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर अवश्य ही फलेगा-फूलेगा । वही बात यहाँ भी टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि यदि भक्ति का बीज है, तब तो वह प्रेम-आसक्ति-व्यसन के रुप में अवश्य विकसित होगा । वैसा होने पर मूलदृढ़ीकरण से ही सर्वत्र वैसा अर्थात् प्रेमासक्तिव्यसन होता है यह भावनीय है । वही आगे **बीजं तदुच्यते** इस पद से निरुपण कर रहे हैं । शास्त्र में अर्थात् भगवद्-शास्त्र में अर्थात् श्रीभागवत-गीता-नारदपञ्चरात्रि-आदि में भी जो दृढ़ है, कभी नष्ट नहीं होता, वह तो प्राथमिकसंबंध कालीन है, यह जानना चाहिए ।

अतः परं प्रेमासक्तिभ्यां यज्ञातं तदाहुः स्नेहादिति ।

स्नेहाद्रगविनाशः स्यादासक्त्या स्यादृहारुचिः ॥४॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥५॥
तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम् ।
त्यागं कृत्वा यतेद्यस्तु तदर्थार्थैकमानसः ॥६॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोप्यधिकां पराम् ।
त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात्तथाऽनृतः ॥७॥
अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥८॥
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् ।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम ॥९॥
बाधसंभावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ।
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥१०॥

अत्र स्नेहपदेन भक्तिरुच्यते । तत्र धात्वर्थः सेवा, प्रत्ययार्थः 'प्रेमे'ति । तेन रागविनाशः स्यात्, भगवत्स्वरुपातिरिक्तवस्तुमात्रेषु

यो रागः अनुरञ्जनं तस्य विशेषेण नश्वरत्वेन नाशः अप्रतीतिः स्यात् । तथा आसक्त्यापि गृहारुचिः स्यात् । तत्र 'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यत' इति वाक्यात्तादृशासक्त्या परिग्रहाद्यरुचिस्तूचिततरा ।

इसके पश्चात् प्रेमासक्ति द्वारा जो हुआ वह **स्नेहात्** इस शब्द से कह रहे हैं ।

यहाँ 'स्नेह' पद से भक्ति कही जा रही है । वहाँ धातु अर्थ 'सेवा', प्रत्यय अर्थ 'प्रेम' है । इस स्नेह से विषयों में राग का विनाश होता है अर्थात् भगवत्स्वरुप के अतिरिक्त वस्तुमात्र में जो राग अर्थात् अनुरञ्जन है, उस विशेषरुप से नश्वरता से नाश अर्थात् अप्रतीति होती है । उसी प्रकार आसक्ति से गृह में अरुचि होती है । वहाँ 'गृह', गृह नहीं, गृहिणी ''गृह' कही जाती है' इन वाक्यों से वैसी आसक्ति द्वारा परिग्रह से अरुचि तो उचिततर है ।

अथवा । नैते आत्मसंबन्धिनः, किन्तु देहादिनाम्, प्रत्युत तादृशभावनिरतस्यालौकिकभावविघातका एव, नतु साधकाः, इतोपि तदनासक्तौ तस्य न किमपि बाधकम्, प्रत्युत तथात्वे । तथात्वमिति । अग्रिमवाक्ये तथैव निरुप्यते गृहस्थानां बाधकत्वमिति । भगवद्विषयकसंस्कारानुभूतकर्तृणां तु स्त्रीपुत्रादिष्वनात्मत्वं भासत एव । चकाराद्बाधकत्वमपि । तथा सति तत्सङ्गो न विधेय इति तात्पर्यार्थः । अन्यथा व्यसनभावत्त्वानुपपत्तिः स्यात् । अतस्तस्यैवाग्रे सर्वत्र साधकत्वेनाधिकारी विषयीक्रियते यदा स्यादिति । यस्मिन्काले कृष्णे फलात्मके षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ने भगवति व्यसनं तदेकनिष्ठत्वं पूर्वोक्तविधिना स्यात्तदैव कृतार्थः स्यात्, नात्र सन्देहः कार्य इति सिद्धम् । हिशब्दस्तु प्रसिद्धावेव । तथा सति व्यसनं वरणकालीनमेवाभिव्यज्यते । अत एवाग्रे तादृशस्यापि व्यसनभावप्राप्तस्य सततं निरन्तरं गेहस्थानं गृहस्थितिर्विनाशकं विशेषेणोक्तसंस्कारविघातिकेति यावत् । अतस्त्यागपक्षमप्याश्रित्य तत्प्राप्तिप्रकारमाहुः त्यागं कृत्वेति । यत्तु परमकृपाशीलः सर्वात्मना निरुद्धः सन्, अत एव तदर्थार्थैकमानस इति विधेयविशेषणम् । तत्र भगवतो योर्थः प्रयोजनं तदर्थमेव तन्निष्ठमेकं मानसं यस्य । अथवा । भगवदर्थमेव यत्प्रयोजनं तत्रैव मानसिकी प्रवृत्तिर्यस्येति त्यागसांमुख्यम् । अत एवात्र तुशब्दस्तूत्कर्षाधायकः । तद्यथा । व्रजसीमन्तिन्योन्यपूर्वाः सर्वथा त्यक्तुमशक्यानित्येतादृशानपि पदार्थांस्त्यक्त्वा बीजभावरुपां भक्तिम्, तथैवाग्रे स्वरुपदर्शनस्पर्शनभाषणमिल्नादिकमेतासां जातमिति, तथात्रापि य इति सामान्यनिर्देशात् कोपि तदर्थार्थैकमानसः पूर्वोक्ताचरणशीलस्तादृशासक्तिभरेण गृहादित्यागं कृत्वा यतेत्, भगवत्प्राप्तिविषयकमेव यत्नं कुर्यात्, स पूर्वोक्तसामानाधिकरण्येनैव सुदृढां स्नेहरुपाम्, तत्रापि सर्वतोप्यधिकां नवप्रकारकभक्त्यपेक्षयोत्कृष्टत्वेन तादृक्प्रकारकाम् । अत एव 'सुदृढ सर्वतोधिकः स्नेहो भक्ति'रिति लक्षणत्वेन प्राप्ताम्, अत एव परामुत्कृष्टाम्, यतः साक्षाद्भ गवच्चरणारविन्दानुग्रहनिष्ठैकशीला तां लभते, प्राप्नोति, तत्कृताचरणं करोतीत्यर्थः ।

अथवा । ये आत्मसंबंधी नहीं हैं, किंतु देहादि के हैं, बल्कि वैसे भगवद् भाव में युक्त जीव के अलौकिकभाव के विघातक ही हैं, साधन नहीं । एक यह भी कि) उनमें अनासक्ति करने पर उस जीव के कुछ भी बाधक नही हैं, बल्कि वैसी आसक्ति करने पर वैसे बाधक होते हैं । अग्रिम वाक्य में वही **गृहस्थानां बाधकत्वं** इन शब्दों से निरुपण कर रहे हैं । भगवद्-विषयक संस्कार को अनुभूत करनेवालों को तो स्त्रीपुत्रादि में अनात्मत्व भासित होता ही हैं । 'चकार' से बाधकत्व भी भासित होते हैं । वैसा होने पर ''उनका संग नहीं करना चाहिए'' यह तात्पर्यार्थ है । अन्यथा व्यसन भाववाले की अनुपपत्ति हो जायेगी । अतः उसका ही आगे उस व्यसन का ही सर्वत्र साधकत्व द्वारा अधिकारविषयी कर रहे हैं । जिस काल में फलात्मक, षड्गुणैश्वर्यसपन्न, भगवानकृष्ण में व्यसन अर्थात् पूर्वोक्तविधि द्वारा एक उन भगवान में निष्ठा होती है, तब ही जीव कृतार्थ होता है, यहाँ संदेह नहीं करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ । 'हि' शब्द तो प्रसिद्धि में ही है । वैसा होने पर व्यसन वरणकालीन में ही प्रकट हो रहा है । अतएव व्यसनभावप्राप्त तादृशी को भी सतत, निरंतर गृहस्थान अर्थात् गृह में रहना विनाशक अर्थात् विशेषरुप से कहा संस्कारविघातक है । अतः त्यागपक्ष पर आश्रित होकर उसकी प्राप्ति का प्रकार **त्यागं कृत्वा** इन शब्दों से कह रहे हैं । जो परमकृपाशील प्रभु में सभी तरह से निरुद्ध होते हुए; अतएव 'तदर्थार्थैकमानस' यह विधेय विशेषण है । विधेय का अर्थ होता है जिसका विधान किया गया हो अर्थात् जो करना हो । इस अर्थ में यहाँ हमें 'तदर्थार्थैकमानस' होना है । अतः यह विधेय हुआ । वहाँ भगवान जो अर्थ अर्थात् प्रयोजन हैं, उनके लिए ही, उनमें ही एकनिष्ठ मन जिसका है वह तदर्थार्थैकमानस है । अथवा । भगवान के लिए ही जो प्रयोजन है, वहीं मानसिकी प्रवृत्ति जिसकी है, यह त्याग की मुख्यता हुई । अर्थात् भगवान ही प्रयोजन है, भगवान में ही मानसिक प्रवृत्ति है एवं मानसिकप्रवृत्ति होने से शारिरिक प्रवृत्ति भी भगवान में ही है । अतः भगवान से अतिरिक्त सभी विषयों का त्याग सिद्ध हुआ । इसी को कह रहे हैं, कि त्याग की प्रमुखता है । अतएव यहाँ 'तु' शब्द तो उत्कर्षाधायक है । वह इस प्रकार कि व्रजसीमन्तिनी - अन्यपूर्वा गोपिकाएँ, सर्वथा त्याग करने में अशक्य, ऐसी भी पदार्थों को त्याग कर बीजभावरुपा भक्ति, वही आगे स्वरुपदर्शन-स्पर्श-भाषण-मिलन आदि इनको हुआ, वह यहाँ भी 'यः' इस शब्द के सामान्य-निर्देश से कोई भी तदर्थार्थैकमानस-पूर्वोक्त आचरणशील वैसी आसक्तिपूर्ण गृहादि त्याग करके प्रयत्न करता है, एवं/अथवा भगवत्प्राप्तिविषयक ही यत्न करता है वह पूर्व में कहे सामानाधिकरण से ही 'सुदृढस्नेहरुपा', ''वह भी सभी से अधिक, नव-प्रकारक भक्ति की अपेक्षा भी उत्कृष्ट होने से वैसे प्रकार की''; अतएव ''सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहो भक्ति'' इस लक्षण द्वारा प्राप्त, अतएव 'परम-उत्कृष्ट' जो साक्षात् भगवच्चरणारविंद के अनुग्रह से एकनिष्ठ स्वभाववाली जो भक्ति है उसे प्राप्त करता है उनके गोपिकाओं द्वारा किया आचरण करता है, यह अर्थ है ।

तथापि त्यागक्रियानौचित्यमेवादृत्याग्रे तद्विषयकबाधमाहुः त्यागे बाधकभूयस्त्वमिति । अत्र साधनदशापन्नत्वेनाधुनिकजीवानां तदपेक्षया न्यूनत्वम्, 'संत्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूल'मिति प्रकारस्य तत्रैव सिद्धत्वादत्रत्यानां तथाकरणे बाधकबाहुल्यमेव । तत्र हेतुद्वयं निरुप्यते दुःसंसर्गात्तथान्नतः । स्वापेक्षया विरुद्धधर्माचरणशीला एव दुष्टाः । तेषां संसर्गात्सहवासकरणत्वात्स्वस्य तदुपार्जितान्नभक्षणाद्वा तथात्वम् । यत एवं बाधकापत्तिस्तत एवाग्रे स्थितिप्रकारः प्रकाश्यते । अतः स्थेयमिति । अस्मात्कारणादेव तद्रहिते देशे हरिस्थाने सर्वदुःखहरणशीलस्य तत्तल्लीलास्थाने तदीयैर्भगवत्परैर्भगवदीयैः सह स्थेयम् । अथवा । भगवदुपदिष्टस्थाने वृन्दावनादौ स्थितिः कर्तव्या । तत्र तादृशैः सह वासकरणे पूर्वोक्तहेतुद्वयप्रतिबन्धोत्पादकानामनवसरपराहतत्वम् । तत्रापि अदूरे विप्रकर्षे वेति । यथोपक्रमे प्रकारद्वयं तथोपसंहारेपि तथात्वं बोध्यते । अत्यागपक्षे तावददूरत्वेनैव स्थितिः कर्तव्या, त्यागपक्षे तु विप्रकर्षेणैवेति योजना । अत एव श्रीमदाचार्यैरपि पूर्वोक्तव्यवस्थापूर्वकवाक्यद्वयमुक्तम् ।

तथापि 'त्यागक्रिया उचित नहीं ही है' इसका आदर कर आगे उस त्याग के विषयक बाधक **त्यागे बाधकभूयस्त्वं** इन शब्दों से कह रहे हैं । यहाँ साधनदशापन्न होने से आधुनिक जीव का उन तादृशी जीवोंसे न्यूनत्व है, "सभी विषयों को त्यागकर आपके चरण (श्री.भा. १०/२९/३१)" इस प्रकार का त्याग वहीं सिद्ध होने से, यहाँ आधुनिक जीवों को वह त्याग करने पर बाधकों की बहुलता ही है । वहाँ बाधकों को बहुलता के दो हेतु **दुःसंसर्गात्तथान्नतः** इन शब्दों से कह रहे हैं । स्वयं से विरुद्धधर्माचरणशील ही दुष्ट हैं । उनके संसर्ग से, सहवास करने से अथवा स्वयं के उनसे उपार्जित अन्नभक्षण करने से वैसी बाधकों की बहुलता होती है । चूँकि इस प्रकार बाधकों की आपत्ति है, अतः आगे, रहने का प्रकार प्रकाशित कर रहे हैं । **अतः स्थेयं** इन शब्दों के द्वारा । इस कारण से ही बाधकरहित देश हरिस्थान में, सर्वदुःखहरणशील (प्रभु के) उन उन लीलास्थलों पर तदीय, भगवत्पर, भगवदीयों के संग रहना चाहिए । अथवा । भगवदुपदिष्टस्थान वृंदावन आदि में रहना कर्तव्य है । वहाँ तादृशीयों के संग रहने पर पूर्व में कहे द्विहेतुक प्रतिबंध के उत्पादकों को अवसर न मिलने से उनकी पराजय हो जाती है । वहाँ भी **अदूरे** निकट में **विप्रकर्षे** (दूर) **वा** । जिस प्रकार <u>उपक्रम</u> आरंभ में दो प्रकार कहे, उसी प्रकार <u>उपसंहार</u> समाप्ति में भी वही दुःससर्ग एवं दुष्टान्न बोधित कर रहे हैं । उपक्रम का अर्थ है आरंभ एवं उपसंहार का अर्थ होता है समाप्ति । कहा गया है, कि 'उपक्रमोपसंहाराभ्यासार्थं पुनः पुनः' । अर्थात् किसी ग्रंथको समझने के लिए उपक्रम एवं उपसंहार दोनों पुनः पुनः देखने चाहिए, तभी उसका तात्पर्यार्थ समझ में आता है । अत्यागपक्ष में हरिस्थान में निकटता से ही रहना कर्तव्य है, त्यागपक्ष में तो दूर ही, यह योजना है । अतएव श्रीमदाचार्य द्वारा भी पूर्व में कही अवस्थापूर्वक दो वाक्य कहे गये हैं ।

अथवा । अदूर इति वाक्यद्वयं प्रतिपक्षे भिन्नतया योजनीयम् । एतत्प्रकारेणैव तत्र स्थेयमित्यग्रे सूच्यते । यथा चित्तं न दुष्यति । एतत्प्रकारकस्थितावेव चित्तं न दूषितं भवतीत्यर्थः । अतःपरं पूर्वोक्तरीत्या यावज्जन्मसफलीकरणार्थे भिन्नत्वेन व्यवस्थापूर्वकं साधनद्वयमुच्यते । 'सेवायां वा कथायां वे'त्युक्तौ यथाक्रमानुरोधेनासपूर्वाणां सेवायामिति धात्वर्थस्यानुकूलत्वेन भगवद्भजन एवासक्तिः । सपूर्वाणां तु भगवद्गुणानुवादत्वेन कथायामेव सा । 'तव कथामृतमि'त्यादिवाक्येषु तथा निरुपितत्वात् । उभयत्र वाशब्दो विकल्पत्वेन तन्मात्रकं बोधयति, अन्यथा एकेनैव तेन चारितार्थ्ये सति द्वित्वनिरुपणत्वानतिप्रयोजनत्वात् । अतः श्रीमदाचार्यवर्याः स्वकीयान्प्रति निरुपधिकरुणावत्त्वेन स्वानुभवपूर्वकोभयपक्षीयासक्तिर्निरोधस्तं फलत्वेन प्रतिपादयन्ति सेवायां वा कथायां वेति । अनेन सेवाकथयोः स्वरुपात्मकत्वं सूचितम् । आसक्तिभ्रमन्यायेन तथोक्तिः । अथवा विकल्पत्वेन यस्येति सामान्यनिर्देशात्परमभाग्यवतस्तत्कृतावरणशीलस्य आसक्तिर्निरोधे दृढ़ इति प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकत्वेन संभवेत्तस्य यावज्जीवं शरीरस्थितिपर्यन्तं पूर्वोक्तरीत्या नाशः क्वापि कस्मिन्नपि देशे समये वा न दृश्यत इति शेषः । 'स्वानुभूतप्रकारज्ञापनाय मे मतिरि'त्युक्तवन्तः । अतः परमेतत्प्रकारकाचरणकर्तुः कदापि स्थितिपक्षे बाधसंभावनायां जातायामपि स्वबुद्ध्यान्यत्रैव मया स्थेयमिति पक्षो निराक्रियते । बाधसम्भावनायां तु एकान्ते वासो नोचितः । वैराग्यवशान्महारण्यादौ स्थितिर्न कर्तव्या । किन्तु यत्र साक्षाद्भगवदाविर्भावः स्वहृदये स्वानुभूतो भवति, तत्रैव स्थेयमित्येकान्तपदतात्पर्यम् । अत एव नेष्यते नेच्छाविषयीक्रियते । कुतस्तत्र हेतुरुच्यते हरिस्त्विति । यथा व्रजरत्नाः सर्वतो भगवता रक्षिताः, 'विषजलाप्यया'दितिवाक्यषट्कथनात्, तथात्मविषयिणी या रक्षा तां सर्वतः पूर्वोक्तदुष्टसमूहादपि करिष्यत्येव । अत्रापि स्वमत्यैवोक्तं न संशय इति । संशयः सर्वथा न कर्तव्य इत्यर्थः । हरिस्त्वस्यान्यथानुपपत्त्यैव तथा निश्चीयते । तुशब्दस्यापि तथैवोद्घाटकत्वम् ।

अथवा **अदूर** इन दो वाक्यों को <u>प्रत्येक</u> पक्ष द्वारा <u>भिन्नता</u> से <u>योजित</u> करना चाहिए । टीकाकार कह रहे हैं, कि मूलपंक्ति में 'अदूरे विप्रकर्षे वा' इस प्रकार 'निकट' एवं 'दूर' ऐसे दो पक्ष आये हैं । वे कह रहे हैं, कि जीव को अपनी परिस्थिति अनुसार प्रतिपक्ष अर्थात् दोनों पक्षों को भिन्न-भिन्न रुप से योजित करके रहना चाहिए । अर्थात् किसके निकट एवं किससे दूर रहना चाहिए, यह योजित करना चाहिए । इस प्रकार से ही वहाँ रहना चाहिए, यह आगे सूचित कर रहे हैं । **यथा चित्तं न दुष्यति** इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इस प्रकार निकट या दूर जैसे सौकर्य हो वैसे रहने पर ही चित्त दूषित नहीं होता, यह अर्थ है । अतः पूर्व में कही रीतिनुसार यावज्जन्म सफल करने के लिए भिन्नतया व्यवस्थापूर्वक दो साधन कह रहे हैं । **सेवायां वा कथायां वा** यह कहने में, जिस प्रकार क्रमानुरोध हो, उससे, असपूर्वों जो अज्ञान हैं उन को धातु-अर्थ की अनुकूलता से, सेवा में भगवद्-भजन ही आसक्ति है । सपूर्वों जो ज्ञानी हैं को तो भगवद्गुणानुवाद होने से कथामें ही वो आसक्ति है । "आप के कथारुपी अमृत (श्री.भा.१०/३१/९)" इत्यादि वाक्यों में निरुपित होने के कारण । दोनों

तरफ विकल्प से 'वा' शब्द सेवामात्र का बोध करा रहा है अन्यथा एक के द्वारा ही उसके चरितार्थ होने पर द्वित्व दो निरुपण से प्रयोजनरहित हो जाने से । अतः श्रीमदाचार्यवर्य स्वकीयों के प्रति निरुपधि करुणा से स्वानुभवपूर्वक उभयपक्षी आसक्ति एवं निरोध को फलत्व से **सेवायां वा कथायां वा** इन शब्दों से प्रतिपादन कर रहे हैं । इससे सेवा-कथा का स्वरुपात्मकत्व सूचित किया है । आसक्ति-भ्रमन्याय से ऐसा कहा गया है । अथवा विकल्प से 'यस्य' यह सामान्यनिर्देश से अर्थात् परमभाग्यशाली - तत्कृत आचरणशील को प्रपंचविस्मृतिपूर्वक आसक्ति निरोध दृढ़ होता है । उस का जीवनपर्यंत शरीर रहने तक पूर्वोक्त रीति से कोई भी, किसी भी, देश या समय में नाश दिखाई नहीं देता, यह शेष रह जाता है । स्वानुभूत प्रकार बताने के लिए 'मेरी मति है' यह कहा । इसके बाद इस प्रकारक आचरण करनेवाले का कदापि गृह स्थिति पक्ष में बाधसंभावना होने पर भी । स्वबुद्धि से ''अन्यत्र ही मुझे रहना चाहिए'' इस पक्ष का निराकरण हो जाता है । बाधसंभावना में तो एकांतवास उचित नहीं है वैराग्य-वश होकर महान अरण्यादि में रहना कर्तव्य नहीं है । किंतु जहाँ साक्षात् भगवदाविर्भाव स्वहदय में स्वानुभूत होता है, वहीं रहना चाहिए, यह 'एकांत' पद का तात्पर्य है । अतएव इष्ट नहीं हैं अर्थात् इच्छा का विषय नही हैं । क्यों ? वहाँ **हरिस्तु** इस शब्द से हेतु कह रहे हैं । जिस प्रकार व्रजरत्ना गोपिकाएँ सभी ओर से भगवान द्वारा रक्षित थीं, 'विषजल से होने वाली मृत्यु (श्री.भा. १०/३१/३)' इत्यादी छह वाक्यों से उसी प्रकार आत्मविषयिणी जो रक्षा है, उसे सभी ओर से, पूर्व में कहे दुष्टसमूह से भी करते ही हैं । यहां भी **न संशय** इन शब्दों से स्वमति ही कही है । संशय सर्वथा नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है । अन्यथा 'हरि' शब्द की अनुपपत्ति अप्रामाणिकता निश्चित हो जाएगी । 'तु' शब्द भी उसी प्रकार स्पष्टार्थक है ।

अतः परमपुसंहरन्ति इत्येवमिति ।

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरुपितम् ।

य एतत्समधीयीत तस्यापि स्यादृढा रतिः ॥१९॥

पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं श्रीभागवतभगवद्वाक्यनारदपञ्चरात्रादिकं तत्तु भगवत्कथितमुपदिष्टमपि गूढत्वेन यत्तत्वं 'एवं मदर्थोज्झितलोकवेदं' त्यत्र यथोक्तं तन्मया तदुक्तप्रकारेणैव निरुपितम् । ब्रह्मसंबन्धकरणादित्याद्याज्ञाविषयत्वात् । एतदध्ययनकर्तृणामपि पूर्वोक्तसिद्धिरित्याशयेनोच्यते य एतत्समधीयीतेति । य इति समान्योक्त्या कोप्येतत्सृष्टिगतभाग्यशीलः परमादरेणार्थानुसन्धानपूर्वकं तदुभयाचरणकर्तृत्वेनैतदध्ययनं करोतीति । तत्रापि नियमनैयत्येन सम्यक्त्वम् । तेन तस्यापि दृढ़ा रतिर्भगवद्विषयको भावः स सुदृढः स्यादित्यलं विस्तरेण ॥

श्रीमदाचार्यचरणानुग्रहादेव निर्णयः । कृतस्तदुक्तवाक्यानां सुज्ञानां तोषसिद्धये ॥१॥

इति श्रीद्वारकेशविरचितभक्तिवर्धिनीप्रकाशः ।

इसके पश्चात् **इत्येवं** इस पद से उपसंहार कर रहे हैं ।

पूर्वोक्त प्रकारानुसार श्री भागवत-भगवद्गीता-नारद-पञ्चरात्र आदि भगवत्-शास्त्र तो भगवान द्वारा कहे अर्थात् उपदिष्ट भी गूढ़ होने से जो तत्व ''मेरे लिए त्याग दिया है लोक-वेद (श्री.भा.१०/३२/२१)'' इत्यादि वाक्य में जिस प्रकार कहा है, वह मैंने उसमें कहे प्रकार से ही निरुपित किया है । 'ब्रह्मसंबंध करने से' (सि.र./२) इत्यादि आज्ञाविषय से । इसका अध्ययन करने वाले को भी पूर्व में कही सिद्धि प्राप्त होगी इस आशय से **य एतत्समधीयीत** इन शब्दों द्वारा कह रहे हैं । 'य' शब्द सामान्य कथनतया इस सृष्टिगत कोई भी भाग्यशील परम-आदर से अर्थानुसंधानपूर्वक दोनों आचरण अर्थात् सेवा-कथा इनको करता हुआ इस भक्तिवर्द्धिनी का अध्ययन करता है, वह भी भलीभाँति, नित्यनियम से, उसकी भी दृढ़-रति अर्थात् भगवद्विषयक-भाव सुदृढ़ होता है, यह पर्याप्त विस्तार हुआ ।

श्रीमदाचार्यचरणों के अनुग्रह से ही सुज्ञजनों की संतोष सिद्धि के लिए, उनके कहे वाक्यों का निर्णय किया ॥१॥